विषय-सूची

विषय-सूची

राजशेखर हिरेमठ

आमुख

जब समस्त भारत की राष्ट्रभाषा संस्कृत थी, उस समय उसका नाम रती' था। वह भारत की 'भाषा' या उसकी अन्तरात्मा 'सरस्वती' थी। भाषा अपने वाङ्मय या 'सरस्वती' को वहन या धारण करने की इतनी रम क्षमता रखती थी कि उपासकों ने भाषा और भाव—शरीर और मा—दोनों की एकता मानकर विग्रह में ही देवता की प्रतिष्ठा करली।

आज सारे हिन्द की राष्ट्रभाषा हिन्दी है। भारत की भारती और हिन्द हिन्दी में तात्त्विक कोई भेद नहीं है। पर आज उसका वह विशुद्ध रूप है जो उसके स्थानी का था। यद्यपि पिछले दिनों में भी 'भारती' के क तीन रूप—संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश—अपने अपने क्षेत्र में त थे, जैसा कि हेमचन्द्र ने—

'भाईरहि जिवँ 'भारइ' मग्गेहिं तिहिंवि पवट्टइ'

(सिद्धहेमप्राकृ० व्या० ८।४।३४७)

(भागीरथी के समान 'भारती' तीन मार्गों में चलती है।)

उक्ति उद्धृत करके इस बात की सूचना की है, तथापि आज जैसा संकर

उसमें कभी नहीं था। देश में विविध-भाषा-भाषी विदेशियों के निवेश से व्या
साथ वाग्व्यवहार की आवश्यकता ने लेन देन का ऐसा रास्ता खोल दियागये
अभारतीय एशिया और यूरोप के बहुत से चलतू शब्द उसमें घुस प्रत
बात यहीं तक रहती तो ग़नीमत थी; पर आज तो राजनैतिक खग्रामु
हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी का एक नया झगड़ा खड़ा कर दिया है। राष्ट्र
हिन्दी या हिन्दुस्तानी के संबंध में "गद्यभारती" के संपादकों का वही म उद्दे
जिसका प्रतिपादन आचार्य शुक्लजी ने इस पुस्तक में संगृहीत अपने संग्र
में किया है। वस्तुतः हिन्द की राष्ट्रभाषा हिन्दी ही है, हिन्दुस्तानी, माग
आदि उसके भिन्न भिन्न शैली में ढले और भिन्न भिन्न परिस्थिति मे
रूपान्तरमात्र हैं।

इस संग्रह में यथान्याय राष्ट्रभाषा के सभी रूपों को स्थान दिया
है। यह संग्रह उन विद्यार्थियों के लिए प्रस्तुत किया गया है जिनको
के प्रौढ साहित्य का अध्ययन न करके भी उसकी वर्तमान प्रचलित शै
का परिशीलन और अनुकरण करना अभीष्ट है। इस अभीष्ट-सिद्धि के
प्रायः देश के भविष्णु नवयुवक अधिकाधिक उत्सुक और प्रयत्नशील
हैं। यह सौभाग्य की बात है। क्योंकि 'भारती' से अपरिचित भ
केवल अभारतीय ही नहीं और कुछ भी है! इसमें गद्य के प्रायः सभी
का सन्निवेश किया गया है। इससे विद्यार्थियों को एकत्र ही सब प्रक
नमूने मिल जायँगे और विविधता के कारण पढ़ने में विरसता का
भी न होगा।

संकलन के समय लक्ष्य था प्रयोजन-सिद्धि; इसलिए दृष्टि कृति के
की ओर ही प्रवृत्त थी कर्ता की ख्याति की ओर नहीं। अतः इसमें ब

से ख्यात लेखकों की कृतियाँ भी आ गई हैं और कई लब्धप्रतिष्ठ लेखक यागये हैं। आशा है इससे किसी प्रकार की दुर्भावना न उत्पन्न होगी।

स प्रत्येक लेख के अन्त में जो कुछ समीक्षा का प्रयास है वह अध्यापन की ग्रोमुख गुरुता का निदर्शनमात्र है, सधर्मा अध्यापक के लिए मार्गप्रदर्शन ष्टता नहीं।

उद्देश्य न रहने पर भी प्रायः भारत के सब प्रान्तों के लेखकों की कृतियाँ संग्रह में स्वतः सन्निविष्ट हो गई हैं, अतः इसका 'गद्यभारती' नामधेय मागत है बलात्कृत नहीं।

गद्यभारती

राजशेखर हिरेमठ

XI

गद्यभारती

कलरव

× १ ×

परमात्मा बड़े बड़े साम्राज्यों से विमुख हो जाता है, परन्तु छोटे पुष्पों से कभी खिन्न नहीं होता।

× २ ×

अन्याय पराजय नहीं सहन कर सकता; धर्म कर सकता है।

× ३ ×

प्रत्येक बालक यह संदेश लेकर संसार में आता है कि ईश्वर मनुष्यों से हताश नहीं हुआ।

× ४ ×

जो उपकार जताने का इच्छुक है, वह द्वार खटखटा
जिसके हृदय में प्रेम है, उसके लिए द्वार खुले हैं।

× ५ ×

फूल चुनने के लिए ठहरो मत। आगे बढ़े चले चलो,
मार्ग में निरंतर फूल खिलते रहेंगे।

× ६ ×

जड़ें पृथ्वी के नीचे फैली हुई वृक्ष की शाखाएँ हैं।
आकाश में फैली हुई वृक्ष की जड़ें हैं।

× ७ ×

रात्रि ने सूर्य से कहा—"चंद्रमा द्वारा तुम अपने प्रेम
पास भेजते हो। मैं घास पर आँसुओं में अपना उत्त
जाती हूँ।"

× ८ ×

महापुरुष जन्म-सिद्ध शिशु है।

जब वह मरता है, तो अपना शिशुत्व संसार को प्र
जाता है।

× ९ ×

हथौड़ी की चोट से नहीं जल-नर्तन के संगीत से,
छोटे-छोटे टुकड़े इतना सुन्दर रूप धारण करते हैं।

× १० ×

यदि तुम भूलों को रोकने के लिए द्वार बन्द कर
सत्य भी बाहर रह जायगा।

× ११ ×

ब पत्ती प्रेम करती है, तब वह पुष्प बन जाती है। जब
ाराधना करता है, तब वह फल हो जाता है।

× १२ ×

टना का वस्त्र, सत्य के लिए आवश्यकता से अधिक चुस्त
पड़ता है।

× १३ ×

ंसार ने, प्रभात में, अपना ज्योतिर्मय हृदय खोल दिया है।
मेरे हृदय, तुम भी उससे मिलने के लिए अपना प्रेम लेकर
।

× १४ ×

स्ताचल के सूर्य ने पूछा–"मेरा कार्यभार अब कौन उठावेगा?"
मेट्टी के दीपक ने कहा—"स्वामिन्; यह कार्य यथाशक्ति
रूँगा।"

× १५ ×

पूरजमुखी का फूल, एक अज्ञात फूल के साथ, अपनी सजा-
ा स्वीकार करने में लज्जित हुआ।
जब सूर्य उदय हुआ, तो सूर्य ने मुसकराते हुए उससे पूछा—
बच्चे तुम अच्छे तो हो?"

× १६ ×

ईश्वर मनुष्य के दीपकों को अपनी महान् तारकावलि से
क प्यार करता है।

× १७ ×

फल की सेवा मूल्यवान् है; पुष्प की सेवा भी मृदु है; [illegible] विनीत भक्तिभाव से छाया करने वाली पत्तियों की सेवा सदृश मेरी सेवा हो।

× १८ ×

✓ ठोकर मारने से पृथ्वी से केवल धूल उड़ सकती है [illegible] नहीं उग सकती।

× १९ ×

पक्षी के पंख को स्वर्ण से आभूषित कर दोगे, तो वह [illegible] में कभी न उड़ सकेगा।

× २० ×

✓ चंद्रमा अपना प्रकाश संपूर्ण गगन में डालता है [illegible] कलंक अपने ही तक रखता है।

× २१ ×

"प्रभात हुआ", ऐसा कह कर—उसे एक पुराना नाम तुम न टाल दो।

एक बार उसे तुम इस प्रकार देखो जिस प्रकार एक ऐसे को देखते हो जिसका नामकरण नहीं हुआ है।

× २२ ×

वर्षा की बूँद ने चमेली से धीरे से कहा—"मुझे अपने में सदा के लिए रख लो।

चमेली एक निश्वास लेकर धरती पर गिर पड़ी।

× २३ ×

है; पक्षियों का गीत, उषा की ज्योति की पृथ्वी से लौटी हुई ध्वनि है।

× २४ ×

जब मनुष्य मुस्कराया, तब संसार ने उससे प्रेम किया। जब है ने अट्टहास किया, तब संसार उससे भयभीत हो गया।

× २५ ×

मैंने यातनाएँ सहन की हैं, निराश हुआ हूँ, मृत्यु से परिचय किया है, परंतु मैं प्रसन्न हूँ कि आज इस महान् जगत जीवित हूँ।

× २६ ×

है सर्वोत्तम अकेला नहीं आता। वह सब समाज के सहित ता है। ✓

———

कलरव

कवीन्द्र रवीन्द्र के ये 'चूर्णक' 'नावक के तीर' हैं। निर्लिप्त सत्य की
सुन्दरता इनमें देखिए। मनीषा और अनुभुति के ये नन्हें नन्हें जीव
नहीं चौमुखे दीप हैं। इनके प्रकाश में हम मन का कोना कोना देख
हैं। दैवयोग से कहीं हमारी चेतना-सीपी का मुँह खुला मिले तो ये स्वा
नन्हीं नन्हीं बूदें उसमें पड़कर उज्वल मुक्ताओं की सृष्टि कर दें। इन्हें
और गाँठ में बाँध रखिए।

देखिए—

रात्रि के प्रलय के बाद सवेरे फिर सृष्टि होती है। उषा के नान्दी
ही इस नित्यनूतन विश्व का अभिनय आरम्भ होता है, पर मानव की दृ
दृष्टि अभिनेता पात्रों की उस उज्ज्वल पटुता को, दृश्यों की उस
लित रमणीयता को नहीं देख पाती नहीं देख पाती! क्या ही अच्छा हो
प्रभात को हम उस दृष्टि से देखें जो हमें (२१) से मिलती है।

साधना

लज्जा

जब मैं देखता हूँ कि तुम्हारे मन्दिर को मैंने ऐसा अशुचि
र अस्वच्छ कर रक्खा है तब मैं लज्जित हो जाता हूँ। परन्तु
ब मैं देखता हूँ कि तुम उसी में प्रेमपूर्वक विराज रहे हो तब
मैं लज्जा से डूब ही जाता हूँ।

जब मैं देखता हूँ कि तुम मेरे लिए सब कुछ करते हो और
तुम्हीं से मुँह मोड़ता हूँ तब मैं लज्जा से नतशिर हो जाता हूँ।
रन्तु जब मैं देखता हूँ कि तुम मेरी उसी अवस्था में मेरे पास
ाते हो और उलटा मुझको ही मनाते हो तब तो···|···।

जब मैं देखता हूँ कि लज्जा के कारण मैं अपने भाव तुमसे
छपाता हूं तब मैं और भी लजा जाता हूँ। परन्तु जब मैं देखता

हूँ कि तुम मेरे उन भावों को जान गये तो तब तो मेरी ल
पारावार ही नहीं रहता।

प्रेम की प्रबलता

तुम उस पार हो मैं इस पार। बीच में अपार पारावा
तो भी मैं तुमसे मिलने के लिए अपनी टूटी-फूटी डोंगी छो
हूँ। मुझे भय नहीं।

भय की परिधि सङ्कीर्ण है, प्रेम की विस्तृत। वह इसमें
जाती है। जिस प्रकार सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र में देखने से दृश्
और ही रूप में देख पड़ती है उसी प्रकार प्रेम की दिव्य
ये सब पदार्थ स्वर्गीय रूप में दिखाई देते हैं। भय का
लौकिक अवलोकन के साथ हो जाता है।

मेरी डोंगी आगे बढ़ती जाती है। वे ही लहरें जो व
पोतों को डुबा देती हैं, मेरी डोंगी को थपकियाँ दे दे क
रही हैं और प्रतिक्षण तुम्हारी दूरी मुझसे दूर होती जाती है

कच्चे घट में अमृत

तुम अमृत को बार बार कच्चे घटों में भरते हो और मैं
गलते देखता हूँ।

मुझे अचरज होता है कि अमृत के पात्र बन कर भी वे
नष्ट होते हैं और मैं पुकार उठता हूँ कि तुम्हारा अमृत झू
तुम कुछ बोलते नहीं और मैं समझता हूँ कि तुम निरु
गये हो।

पानी बरसने से मैं मिट्टी को गलते देखता हूँ। पर वही गली
ट्टी जब हरी हो जाती है तब मेरी आँखें खुलती हैं। मैं जो उन
े घटों की ओर देखता हूँ तब मुझे मालूम होता है उनके प्रत्येक
ाग को वेध कर सुधा ने उन्हें अमरता प्रदान की है।

वास्तविक मूल्य

मेरी वस्तुओं को वे मुँह माँगे दामों पर ले जाया करते और नित्य सब बेच कर लौटता।

सभी मेरे भाग्य की सराहना करते। पर किस भाव से, ह नहीं सकता। अन्तर का हाल जानने का सामर्थ्य मुझ में हाँ? मैं तो उनकी बातों को सच ही समझता।

एक दिन वे न आये। सन्ध्या हो गई। सूर्य अपनी अन्तिम र्ण-किरणों को अन्धकार के हाथ वेचकर विश्रान्त हुआ। मैं ाथ पर हाथ धरे बैठा था। पर विचलित न हुआ था। समस्त र्मूल्य वस्तुओं को प्रतिदिन मन-चाहे दामों पर बेंच कर एक न बिक्री न होने पर असन्तोष होना अचरज की बात है।

फिर भी उन्हें लेकर घर लौटना मुझे भारी पड़ गया।

आज मैंने उन्हें वास्तविक मूल्य, निर्मूल्य, पर वेचने का पक्रम किया, पर किसी ने भी न लिया। तब मैंने उन्हें वहीं खरा दिया और अपनी आँखों प्रकृति को उन्हें सस्नेह पनाते देखा।

आनन्द की खोज

आनन्द की खोज में मैं कहाँ कहाँ न फिरा ? सब जग
मुझे उसी भाँति कलपते हुए निराश लौटना पड़ा जैसे चन्
ओर से चकोर लड़खड़ाता हुआ फिरता है।

मेरे सिर पर कोई हाथ रखने वाला न था और मैं र
कर यही बिलखता कि जगन्नाथ के रहते भी मैं अनाथ कैसे
हूँ, क्या मैं जगत् के बाहर हूँ !

मुझे यह सोच कर अचरज होता कि आनन्द-कन्द-मूलक
विश्व-वल्लरी में मुझे आनन्द का अणुमात्र भी न मिले !
आनन्द के बदले मैं रुदन और शोच को परिपोषित
रहा था।

अन्त को मुझसे न रहा गया। मैं चिल्ला उठा—आन
आनन्द, कहाँ है आनन्द ! हाय ! तेरी खोज में मैंने व्यर्थ जीर्ण
गँवाया। बाह्य प्रकृति ने मेरे शब्दों को दुहराया, किन्तु मेरी आन्त
रिक प्रकृति स्तब्ध थी। अतएव मुझे अतीव आश्चर्य हुआ। पर उ
समय ब्रह्माण्ड का प्रत्येक कण सजीव होकर मुझसे पूछ उठा
क्या कभी अपने आप में भी देखा था ? मैं अवाक् था।

सच तो है। जब मैंने—उसी विश्व के एक अंश—अ
आप तक में न खोजा था तब मैंने यह कैसे कहा कि समस्त ब्र
छान डाली ? जो वस्तु मैं ही अपने आपको न दे सका वह
दूसरे मुझे क्यों देने लगे ?

परन्तु, यहाँ तो जो वस्तु मैं अपने आपको न दे सका था

अखिल ब्रह्माण्ड से मिली और जो मुझे अखिल ब्रह्माण्ड से मिली थी वह अपने आप में मिली !

पागल पथिक

'पथिक'—मैंने पूछा—'तुम कहाँ से चले हो और कहाँ जा रहे हो ? तुम्हारी यात्रा तो लम्बी मालूम पड़ती है क्योंकि तुम्हारा तन सूख कर काँटा हो रहा है और उस पर का फटा वस्त्र तुम्हारे विदीर्ण हृदय की साख भर रहा है। श्रम से हार कर तुम्हारे पैर फूट फूट कर रक्त के आँसू रो रहे हैं ! यह बात क्या है ?'

उसने दैन्य से दाँत निकाल कर उत्तर दिया—'बन्धु, मैं अपना मार्ग भूल गया हूँ। इस संसार के बाहर एक ऐसा स्थान है जहाँ इसके सुख और विलास की समस्त सामग्रियाँ तो अपने पूर्ण सौंदर्य्य में मिलती हैं पर दुःख का वहाँ लेश भी नहीं है। मेरे गुरु ने मुझे उसका ठीक पता बताया था और मैं चला भी था उसी पर। किन्तु मुझसे न जाने कौन सी भूल होगई है कि मैं घूम फिर कर बारंबार यहीं आजाता हूँ। जो हो, मैं कभी न कभी वहाँ अवश्य पहुँचूँगा।'

मैंने सखेद कहा—'हाय ! तुम भारी भूल में पड़े हो। भला इस विश्व-मण्डल के बाहर तुम जा कैसे सकते हो। तुम जहाँ से चलोगे फिर वहीं पहुँच जाओगे। यह तो घटाकार न है ! फिर, तुम उस स्थान की कल्पना तो इसी के आदर्श पर करते हो और जब तुम्हें इस मूल ही में सुख नहीं मिलता तब अनुकरण में उसे

कैसे पाओगे ? मित्र, यहाँ तो सुख के साथ दुःख लगा है
उससे सुख को अलग कर लेने के उद्योग में भी एक सुख है।
तुम उसे ही नहीं पा सकते तब वहाँ का निरन्तर सुख तो
एक अपरिवर्तनशील बोझ, नहीं यातना हो जायगी। अरे,
नव्यता के सुख कहाँ? तुम्हारी यह कल्पना और सङ्कल्प नि
मिथ्या और निस्सार हैं, और इसे छोड़ने ही में तुम्हें इतना
मिलेगा कि तुम छक जाओगे।'

परन्तु उसने मेरी एक न सुनी और अपनी राममोट
उठा कर चलता बना।

साधना

जिस प्रकार सफल दोहे में प्राचीन कविता की कला और विदग्धता का त्कर्ष देख पड़ता है उसी प्रकार अच्छे गद्यकाव्य में वर्तमान गद्य का परिपाक ाना जाता है। राय कृष्णदास हिन्दी में इस साहित्य-रूप के प्रवर्तक हैं और ाज भी इस क्षेत्र में वे अद्वितीय हैं। लिखने वाले अनेक हैं और वे लिखते ी हैं अच्छा, पर अनुभूति और कला का जो योग 'साधना' के साधक में है ह अन्यत्र दुर्लभ है।

पद्यसाहित्य में जो स्थान प्रगीत काव्य का है वही गद्य साहित्य में गद्य-काव्य का। इसीसे गद्यकाव्य का एक नाम गद्यगीत भी है। चाहे कभी शब्द संगीत गद्यकाव्य में पूरी मात्रा में न भी हो, पर भाव का वह गान तो रहता ही है जिसे गुन-गुनाकर मन बार बार प्रसन्न होता है। इस मधुमय संगीत से भी बड़ी चीज़ होती है गद्यकाव्य की भावुकता—गंभीर और तीव्र संवेदना।

गद्यकाव्य है ही क्या ? हृदय की पुकार—रति, हास, उत्साह, शोक,

आदि की स्पष्ट वाणी—भावों का अन्तर्नाद । इसी भाव-साधना का
है कि गद्यकाव्य अन्य सभी साहित्य-रूपों से अपेक्षाकृत छोटा है
क्योंकि प्रवल और उद्दीप्त भाव की आयु भी छोटी होती है । इस
छोटे होने और एक ही भाव से ओतप्रोत रहने के कारण इस काव्य
पूर्ण एकता रहती है । रचना का बांध भीतर से ही दृढ़ रहता है । ह
भावानुभूति प्रकार और परिमाण में न जाने कितने ढंग की होती है—
रसभेद अपारा'; इससे गद्यकाव्य के भी अनेक रूप और प्रकार हों
शैली का तो कोई वंधन रहता ही नहीं । संवाद, पत्र, निवंध, कहानी,
आदि किसी की भी शैली अपनाई जा सकती है । पर कला रहनी च
उच्च कोटि के अभ्यास की तनिक सी कमी भी कलाकार की चुगली क
है । गद्यकाव्य में ही तो प्रकृत कला और कृत्रिम कला का भेद चट
जाता है ।

मुक्तक गीतों के समान ही गद्यकाव्य में भी आत्मीय राग और क
नता होनी चाहिए । हृदय की वाणी में कर्त्ता न रहेगा तो क्या संसार
का कर्म रहेगा ? इसी व्यक्तित्व हीन तल्लीनता के कारण ही तो गद्य
में एक ऐसा लावण्य रहता है जिसे निगाहदार ही परख सकते हैं—
कोई कसौटी नहीं ।

साधना के इन मुक्तकों में ये सभी गुण हैं । उच्चकोटि की प्रकृत
प्राञ्जल और जड़ाऊ भाषा, विदग्ध भावना और कोमल कांत पदावली का
सभी कुछ है । ये तो वे लक्ष्य हैं जिन्हें देखकर लक्षण लिखे जाते हैं ।

अध्ययन का स्वाद बढ़ाने के लिए चतुरसेन, वियोगी हरि और दि
नन्दिनी आदि की कृतियों से इनकी तुलना की जा सकती है ।

इनका भावग्रहण इनकी ध्वनियों के ही द्वारा किया जा सकता है। यही व्याख्या का प्रकार है। 'आनन्द की खोज' का जैसे यह आशय है कि—वस्तु की सच्ची स्पृहा चाहिए। वह मिलते मिलते मिल ही जाती है।

जाकर जापर सत्य सनेहू।
सो तेहि मिलै न कछु संदेहू॥

दानपात्र बनो। जगत् तुम्हें देगा। जो वस्तु अन्यत्र अलभ्य है वह ही में लभ्य हो सकती है। आनंद कहीं अन्यत्र ढूँढ़ना वृथा भटकना अपने ही में ढूँढ़ो, पाओगे। जगत् को अपना प्रतिविम्ब समझो। विम्ब होगा उसका प्रतिविम्ब वैसा ही पड़ेगा।

और इसी प्रकार अंतिम वाक्य का भाव है—प्रतिबिम्ब में जो छाया ी है वह विम्ब में नहीं है। जो विम्ब में छायावाली वस्तु है वह छाया हाँ?

ऐसी व्याख्या से अर्थ लगाने का सुख मिलता है और साथ ही विश्वास ाता है कि सच्चे काव्य का अनुवाद नहीं हो सकता।

अचरज, कण, राममोटरिया, घटाकार आदि शब्दों में अभ्यास और दोनों का मर्म भरा हुआ है। एक ओर 'आनन ओप उजास' जैसी तद्भव ली और दूसरी ओर विदग्धों को मुग्ध करने वाली तत्समों की प्राञ्जलता और मीनाकारी जैसी बन पड़ी है।

पदावली के प्रसिद्ध चार भेदों पर विचार करने के लिए भी यहाँ अच्छी ी मिल सकती है।

(देखिए अन्यत्र पदावली के भेदों पर विचार)

२

श्री राम शर्मा

2.

रोमांचकारी कुश्ती

वेदान्त का प्रथम सूत्र है–'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' और
के अनेक जीवों का जीवन-सूत्र है—'अथातो युद्धजि
युद्धजिज्ञासा मानव-धर्म का मूल-मन्त्र न हो; पर साम्रा
प्रवृत्ति युद्ध-जिज्ञासारूपी शराब पर ही ज़ोर मारती है। व
रूप से भी युद्ध-जिज्ञासा संसार में चली आई है। जंगल के
में भी कुछ ऐसे बिगड़ैल, लड़ाकू और अनुभव-हीन होते
तनक-सी बात पर वे कट मरते हैं। जीवन उनके लिए खि
होता है—मरने या मारने के लिए। साम्राज्यवाद तो इस
—मनुष्य—की ही करतूत है—दूषित पूँजीवाद की सन्तान

शहर और आबादियों की युद्धजिज्ञासा, पापलिप्सा
अनुपम त्याग की घटनाएँ हम आँखों देख लेते हैं। औ
नहीं होता, तो थियेटर और सिनेमाओं में मुसलमान और दु

क देख लेते हैं, पर जंगल के रंगमंच पर खेले जाने वाले कों को कम ही लोग देख पाते हैं, और देखकर कितने हैं, अपनी कल्पनाशक्ति को जंगल के दृश्यों से पैनी कर सकें— पैनी कि वह दिलों को चीर कर पार हो जाय।

जंगल के रोमांचकारी नाटक आबादी से दूर, प्रकृति के ाण में खेले जाते हैं, जहाँ पर जंगली जंतुओं का ही बोलबाला होता वे रोमांचकारी घटनाएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें देखकर जमा भी खून एक बार दौड़ने लगता है, हृदय की धड़कन बढ़ ती है, और तन्मयता तो ऐसी हो जाती है, मानो दर्शक समा-स्थ हो गया हो।

एक दिन जेम्स इंगलिस नामक एक गोरा अपनी नील की ठी का निरीक्षण कर रहा था। इतने में उसको खबर लगी कि ठी से कुछ दूर शेर ने एक गाय मारी है। शीघ्रता से उस ओर कर देखा, तो हाल की मारी हुई गाय की लाश मिली—गरम न से लथपत। करीब ही शेर के पग चिह्न भी मिले। बस, फिर था था, बैठने का स्थान बनने लगा। एक गड्ढा खोदा गया। रों ओर से उसे काँटों और लक्कड़ों से सुरक्षित बना कर इंग-स साहब एक गुमाश्ते के साथ उस गढ़े में घुस गये।

दस बजे रात का समय होगा। अर्धचन्द्र बादलों के क्षीण कड़ों से टक्कर लेता हुआ, छिप-छिप कर अपने मार्ग पर जा हा था। दूर—काफ़ी दूर—पर रात्रि की नीरवता में गंगा की र अनवरत रूप से जम्हाई-सी लेती सुनाई पड़ती थी। ठंडी

हवा का झोंका जैसे ही लम्बी घास से अठखेलियाँ करता
लता, वैसे ही जान पड़ता, मानो रात्रि देवी के हृदय
ठंढी कँपकँपाती-सी आह निकल रही है। यह आह 'साँ
और 'हअर-हअर' करती मैदान की ओर घबराई-सी निकल
पेड़ों की डालियाँ और लताओं की फुनगियाँ भी, खुशामदी
हियों की भाँति उसी हअर ध्वनि के साथ हाँ-में-हाँ मिलातीं।
नदी किनारे से चकवा की पुकार 'केऊँ' निस्तब्धता को
करती; पर फिर शीघ्र ही नीरवता का राज्य फैल जाता। कु
के लिए जंगल की आत्मा साँस-सी साध लेती। थोड़ी दे
उस दृश्य की फिर आवृत्ति होती।

गड्ढे में बैठे दोनों आदमी सजगता की प्रतिमा बने
की छटा देख और महसूस कर रहे थे। वायु के मन्द
पेड़ों की शाखाओं की किलोलें, चकवा की केऊँ, चन्द्र
शराबी की-सी चाल और जंगल की आत्मा की गोचर छ
देखते और अनुभव करते हुए जब कभी सेही, लोमड़ी
गीदड़ के पैर की आहट होतीं, तब शेर की आशंका से
हृदय धौंकनी की भाँति चल उठता।

कुछ प्रतीक्षा के उपरान्त गुमाश्ते ने साहब बहादुर क
दबाया और कान में इतने धीरे से कुछ कहा कि साहब
केवल इतना ही सुन पाये कि दाईं ओर को देखो। उ
गोरे ने आँख उठाई, तो रोमांचकारी बिजली-सी शरीर
गई। धुँधले क्षितिज पर, रात्रि की लम्बी और भूरी छ

भीमकाय आकार अस्पष्ट-सा दिखाई पड़ा, जिसको गुमाश्ते
असाधारण सूअर बताया। वह ठीक गड्ढे की ओर आ रहा
—धीमी, अलमस्त और निश्शंक चाल से। कभी-कभी आत्म-
प्रकट करने के लिए थम कर वह 'हुक्ख' करता और अपनी
नी से ज़मीन खोदकर जड़ें खाता आता था। उसकी लचीली
नी हलके फाले की भाँति ज़मीन को फाड़ती थी।

गोरे ने बन्दूक उठाकर जैसे ही छाती का निशाना साधा,
ही सूअर ने अपना सिर ऊपर उठाया, और उसका आकार
ष्ट दिखाई पड़ने लगा। अपार शक्ति और शान का वह प्रति-
स्व अकड़ कर खड़ा हो गया। उसी समय अकस्मात् जंगल से
हिट और गर्जना सुनाई पड़ी। वनराज अपने शिकार-पथ पर
। गुमाश्ते ने गोरे की बाँह ज़ोर से दबाई और उसके कान से
पना मुँह लगाकर अतिक्षीण ध्वनि में कहा—"शेर।"

गड्ढे में दोनों आदमियों की स्नायुएँ खिंच गईं, उत्सुकता
दिल की धड़कन बढ़ी। शूकरराज चौकन्ना, पर लापरवाई से,
ड़ा था। उसके ढंग से प्रतीत होता था कि उसका रोम-रोम
ह रहा है— "शेर हो अथवा मल्कुल मौत, 'यहाँ कुम्हड़ बतियाँ
उ नाहीं'। शेर और शेर का नगड़दादा मेरी काँपों (tusks)
र......"सिर झुकाकर और क्रोधपूर्ण झटके से उसने भयावना
ब्द किया—"हू-हुक्ख।" जंगल से आवाज़ आई—"ऊँगा।"
अर ने उत्तर दिया वही—"हू-हुक्ख।" देहात में जैसे एक
ठैत किसी को गाली दे और उसका प्रतिद्वन्द्वी गाली में ही

उसे उत्तर दे और फिर शीघ्र ही खटाखट लाठी चलो
ठीक वैसे ही शेर के चैलेंज को सूअर ने स्वीकार कर ने
शेर ने सूअर को भागते न समझ कर और भी कम्पोस
गर्जना की, मानो शेर ने भी चैलेंज को स्वीकृति दी
हो। तुरन्त ही उस अखाड़े में एक वलशाली पट्ठा
पड़ा। वह क्रोध से भन्नाया हुआ था। होट पीछे खींचे हु
खड़ी किये, दाँतों का प्रदर्शन करते और पूँछ को अपनी क
मारते हुए, गर्दन के बड़े वालों को सतर किये, विजय औ
जिज्ञासा से शेर दावघात करने को आ खड़ा हुआ। यों
उन्मत्तता में—नदी की बाढ़ के समान—वह किसी को
वाला न था। सैकड़ों सूअरों को उसने खा डाला था। दो
हमला भी किया था; पर एक ही थाप में उसने उनका
निकाल दिया था। यों थोड़ी-बहुत खरोंथ और एक-आध
सूअर की काँप के लगे थे; पर वे सब सूअरों की ओर से
रक्षा में लगे थे। उसके गर्जन-तर्जन और गुर्राहट से हिर
गाय-भैंस घबरा कर ढीले हो जाते थे। फिर उसका भ
यौवन! यौवन की आँधी अनेकों को उखाड़ फेंकती है।
ऐसा नशा है कि उसके सुरूर में कुछ-का-कुछ दिखाई पड़ता
जवानी में जवानों कोपैर जमीन पर ऐसे पड़ते हैं, मानो
'इलैस्टिक' लगी हो। दुःख, भय और आशंका-रूपी अं
यौवन-प्रभात से पलायमान हो जाता है। शेर भी जवानी की
में बह रहा था। दम तो उसमें बेहद था; पर अनुभव की

लों में होकर वह न गुज़रा था, इसलिए जब वह सूअर से
रहने आया, तब वह समझता था कि सूअर उससे डरेगा और
मौसर पाकर वह उसे मार गिरायेगा। सूअर ने बचाव के लिए
ी झाड़ी का सहारा लिया होगा।

और सूअर ? सूअर ने शेर की तनक भी परवा न की। उसने
-हुक्ख' की ताल ही नहीं ठोकी, वरन् शेर की ओर उसने एक
टी दौड़-सी भी लगाई, और गर्दन के बाल फुलाकर अपनी पूँछ
ा ऊपर को की। सूअर की पूँछ का उठना आक्रमण का सिगनल
सूअर विकट भट होता है, और एक बार हमले की ठान कर
छे पीठ नहीं दिखाता। सूअर ने भी समझा कि उस स्थान पर
पहले से क़ाबिज़ था। शेर का वहाँ आना मदाख़लत वेजा है।
लिए अपने अधिकार की रक्षा के लिए शेर को सबक सिखाना
ाहिए।

मैदान में दोनों लड़ाके जम गये। शेर घात लगाकर कभी
पकता और कभी सूअर के चारों ओर रेंगता-सा चलता कि
सी प्रकार पीछे से उसपर हमला करे। सूअर भी शेर की घात
ा ख़याल करके पैंतरे बदलता और अपना सिर उसकी ओर ही
खता। दाएँ-बाएँ गोलाकार चक्कर में, शेर और सूअर सम्हले
ौर तने, कुछ देर तक हमले का अवसर देखते रहे। पैंतरों का
क्कर कुछ और संकीर्ण हुआ। गुर्राहट और हू-हुक्ख के ताल
ोनों ही पहलवान ठोंक रहे थे। दावघात और ताल-ठुकाई कुछ
ी सेकेण्डों के लिए हुई। शेर एकबार लम्बा हो कर ज़मीन से

मिल-सा गया। पुट्ठों और स्नायुओं को खींच कर उसने न
कसे-कसाये और फुर्तीले शरीर को एकत्र-सा किया, और
दहलाने वाले गर्जन के साथ शक्ति का वह पुंज विद्युत
सूअर पर टूट पड़ा। एक मिनट के लिए दोनों की
रोमांचकारी उत्तेजना थी। एक ही तेज़ और कौशल पूर्ण
जो सूअर के जबड़े पर पड़ी थी, बलिष्ठ सूअर लड़खड़ाने
उस थाप के साथ शेर का बोझा तीव्र गति से सूअर के ऊपर
था; पर सम्हल कर सूअर ने 'हू-हुक्ख' की, और क्रोध-पूर्ण ल
हुई आँखों से पैंतरा बदल कर उसने अपनी अटूट गर्दनाड़
मज़बूत सिर से तीन चार तीव्र वार, दाएँ और बाएँ, शेर पर

सूअर के पेंच चार ही होते हैं, और वे चारों पेंच
खूब रवाँ होते हैं—सीधी टक्कर मारना, दाएँ और बाएँ काँपे
ड़ना, और कच-कच करके दाँतों से चबा डालना। अन्तिम
वह प्रायः अपने अन्तिम समय में ही करता है। घायल
जब वह आदमी को चबाता है, तो आदमी का बचना कठि
है। पैर पकड़ कर चबाता है, और ऊपर घुटने और जाँघ
हड्डियों को कच-कच करता हुआ तोड़ डालता है—झुरकु
डालता है। साधारणतया टक्कर मारता हुआ वह भाग जाता
शिकारी निशाना चूकने पर टक्कर लगा ही कलमुँडी खाकर
है, और हाथ-पैर झाड़ तथा थोड़ी-बहुत चोट झेल कर बच
है। पेंच नम्बर दो और तीन—दाएँ और बाएँ टक्कर मार
मानी है, पैनी काँपों को शत्रु के शरीर में इंचों गहरी और

ना। कभीकभी लगातार एक के बाद दूसरे, पहले, दूसरे और
रे नम्बर के पेंचों को चला कर वह क़हर ही ढाता है। अब
र ने सम्हलकर दूसरे और तीसरे नम्बर के पेंच चलाये, और
की बगल में तीन-चार छेद कर दिये। शेर के शरीर से खून
झरने-से झरने लगे।

इस प्रकार पहली कुश्ती बराबर पर छूटी; पर मार अधिक
पाई सूअर ने। शेर के प्रहार से सूअर के सिर और गालों पर
ल और मांस के चिथड़े लटक रहे थे, ऊपर सिर की खाल
फाड़ कर बुरके की भाँति सूअर की आँखों पर आपड़ी थी।
स्वरूप वह अर्ध अन्ध-सा हो गया था; लेकिन सूअर की युद्ध-
त्ति और क्रोध की माया घटी न थी, वरन् और भी प्रज्ज्वलित
गई थी।

शेर साहब पर भी बुरी तरह बीत रही थी। छाती और
ल के छेदों से फ़व्वारे फूट निकले थे। पूँछ की गति उसकी
निश्चित मनोवृत्ति की द्योतक थी। उससे झलक रहा था, मानो
कह रहा हो कि मैं किस बला में आफँसा ?

सूअर क्रोध से भन्ना रहा था। बिगड़ कर और ललकार—'हू-
ख'-कर वह शेर पर टूट पड़ा। भगकर उसने पेंच नम्बर एक
चला कर दूसरे, तीसरे और चौथे नम्बर के पेंचों को क्रमानु-
र और क्षणों में ही चलाना चाहा; पर फुर्ती की प्रतिमा शेर ने
अर के प्रथम दाव को बचाया, और जैसे दोहरी-सी होकर बिल्ली
हे पर टूट पड़ती है, वैसे ही शेर उछल कर सूअर की गर्दन पर

आ गिरा। शीघ्र ही सूअर के अगले पुट्ठों में शेर के कीले घु
और उसके पंजों ने उन्मत्त और कम्पित सूअर को फाड़ना
किया। भँभोड़ने और फाड़ने से भारी-भरकम सूअर की
होने लगी, ऐसा प्रतीत हुआ कि अपनी उद्दण्डता का फल
को मिल गया। शेर तगड़ा ही नहीं पड़ रहा था, वरन् अपने
द्वन्द्वी को ठंढा करता हुआ दिखाई देता था। सूअर ल
कर आगे को गिरा। मार की चोट से, अथवा दाव-घात
कहना कठिन है। यह हुई दूसरी कुश्ती, जो बराबर रही;
ने सूअर की दुर्गति कर डाली।

मगर सूअर के गिरने का फल हुआ शेर का सूअर के
पर होकर आगे गिर पड़ना। शेर के आगे गिरते ही सूअर
छाती पर चढ़ बैठा। अपने अगले पैर शेर की छाती पर र
तीनचार विकट हमले सूअर ने किये। अपनी पैनी और
काँपों से उसने शेर की छाती को फाड़ डाला। जैसे कड़ी
में फाला चर्र करता हुआ जाता है, वैसे ही सूअर की
काँपों ने शेर की छाती को जोत-सा डाला। 'आव, घुर्र'
शेर पंजे और मुँह चलाता था; पर शेर की तोमड़ी बन्द थी।
सूअर का भी नाकों दम था। चोट करके, शेर को छोड़
सूअर लड़खड़ाता और थका हुआ-सा कुछ दूर जा बैठा; पर
और युद्ध-जिज्ञासा से अब भी वह अपने जबड़े कच-कच
चला रहा था। क्रोधित शेर हाँपता हुआ एक ओर वहीं
पड़ा कूँ-काँ करके अपना रोष प्रकट कर रहा था। या

री कुश्ती, जिसमें सूअर तगड़ा पड़ा, पर जोड़ रहा बराबर। प्राण-वेदना को कम करने के लिए दो आवाजें हुईं—"धाँय-?" जंगल गूँज गया। चकवा ने कौतूहल से पूछा—"केंऊँ" रे तट से चकवी ने उत्तर दिया—"केंऊँ?" जंगल प्रतिध्वनित ा—'अ र र र घ र र र?' और दोनों लड़ाके शान्त हो गये।

कुश्ती

यह एक नये ढंग का निबंध है। इसे अंग्रेजीवाले तो स्केच
हिन्दी में शिकारी लेख, रेखानिबंध अथवा केवल 'निबंध' ही कह
इस निबंध में उस संघर्ष का चित्र है, वह लड़ाकू और अजेय प्रवृ
है जो मानव मात्र का हृदय गुदगुदा देती है—बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरु
उसका स्वाद लेते हैं। प्रकृति के शब्दचित्र और घटना के मनो
इस मृगया-साहित्य में कुछ और ही बात आ जाती है—नाचीज़ शि
आनन्दानुभूति का कारण बन जाता है।

श्रीराम शर्मा इस साहित्य के जन्मदाता और लोकप्रिय लेख
स्वर्गीय आलोचक पद्मसिंह शर्मा ने लिखा था। आप प्रसिद्ध और
अचूक निशाना लगाने वाले शिकारी हैं। आपके लेखों का भी निशा
पाठकों के हृदयों पर जाकर बैठता है। पढ़ने वाला लोट पोट हो जा
अपने ढंग के आप एक ही लेखक हैं।......।......। आपकी वर्ण
बड़ी सजीव, भावविश्लेषण मनोविज्ञान सम्मत और भाषा विषय के
बड़ी सुघड़ होती है।

वस्तु और शैली दोनों की दाद उन्हें मिल चुकी है, अब कृति में
गंभीरता देखना है? क्या यह तात्कालिक प्रशंसा उसे कालाश्रित

। सच्चा उत्तर तो काल ही देगा पर आलोचक-बुद्धि उसे स्थायी मानती है क्योंकि उसमें उस प्रकृति का चित्र है जो चिरनवीन है।

इस प्रकार निवंध के सभी गुण इस लेख के हैं, पर कुछ दोष खटकते पहला दोष है उपदेश और प्रचार की वृत्ति। लेख के आरंभ में ही बेढुका उपदेश दर्शन देता है। कलाकार का काम है दृढ़संकल्प होकर खींचना, न कि विकल्प और विचार। यह दूसरा काम आलोचक का है। ी खटकने वाली बात है अथ और इति की कला का अभाव। प्रतिभा कला है इसी से इस लेख में आपसे आप आदि और अन्त वन गया पर पहले के चार प्रघट्टक निकालने पड़ेंगे। यों तो चन्द्रमा के कलंक के न वे भी रह सकते हैं। पांचवे और अंतिम प्रघट्टक में जो प्रकृति का ि है वह संपुट मंत्र है। साहित्य के अनुष्ठान में उतने की ही ज़रूरत है। अंतिम बात है तुलना की। ठीक इसी ढंग का दूसरा स्केच है 'अटल म'। उसमें सिंह और भैंसे का अखाड़ा जमता है। बड़ा रोमांचक चित्र पर आदि और अन्त की दृष्टि से प्रस्तुत लेख ही बीस ठहरता है। दो र लेख हैं जिनमें धड़कन बंद करने वाला युद्ध होता है। एक का नाम है ड़न्त' और दूसरे का 'यमदूत से साक्षात्।' तुलना में चाहे जो कहा सुना जाय हैं सबके सब सजीव और मनोरम। यों तो इस एक चावल को देखकर ही साहित्य का अनुमान किया जा सकता है पर अधिक लेख पढ़ने से ध्ययन और आस्वाद दोनों का सुख बढ़ेगा। 'शिकार' और 'प्राणों का दा' लेखक के दो संग्रह हैं।

लेखक = बृजमोहन वर्मा

काला शैतान

शाम का वक्त था। ढाका जिले में नारायण गंज के पास
पुत्र नदी के किनारे के एक गाँव में कुछ देहाती नवयु
नहाने पानी भरने के लिए जा रही थीं। वे आपस में
बोलतीं, चुहलें करतीं ब्रह्मपुत्र के घाट पर पहुँचीं। पानी
कर कुछदेर तक तो वे जल क्रीड़ा करती रहीं और फिर
अपने घड़े भरकर सिर पर रखकर चलने को तैयार हुईं।
से एक सुन्दरी-सी युवती कुछ अधिक चपल थी। दूसरों
करने पर भी वह कमर तक गहरे पानी में चली गई।
उसने अपना घड़ा भरकर एक अदा से सिर पर रक्खा
धीरे २ पानी मँझाती हुई किनारे की तरफ बढ़ी। वह दो
कदम ही बढ़ी होगी कि बड़े जोर से चीख उठी और पा
गिरकर गायब हो गई। पहले तो साथवालियों को जान प

द उसका पैर फिसल गया है ; किन्तु एक दृष्टि डालते ही
मालूम हो गया कि कोई बलपूर्वक उस असहाय लड़की को
के भीतर खींचे लिये जा रहा है। सारी की-सारी युवतियाँ
ने अपने घड़े फेंक कर किनारे को भागीं और जोर-जोर
ने-चिल्लाने लगीं—दौड़ियो, काला शैतान ले गया !"

नदी के किनारे ही डाक बंगला था, जिसमें सर्वे विभाग के
ब मि० आगस्टस समरविल ठहरे हुए थे। लड़कियों का
ना-पुकारना सुनकर वे अपनी राइफिल लेकर दौड़े; उधर
के कुछ मर्द और औरतें भी दौड़ पड़ीं। उस लड़की के माँ-
भी आ गए और ढाढें मारकर रोने लगे। नदी तट की
यंकालीन निस्तब्धता में एक कोहराम-सा मच गया। हर एक
ले शैतान को कोस रहा था।

गाँववालों ने मि० समरविल को दो चार शब्दों में बतलाया
'काला शैतान' एक विशालकाय मगर है, जो अब तक पचीसों
दमियों को खा चुका है, और जिसके नाम से आसपास कई
स तक का इलाका दहल उठता है। इस आशा से कि शायद
भागी लड़की की लाश ही मिल जाय, गाँव वाले और मिस्टर
मरविल एक घंटे तक नदी का किनारा खोजते रहे ; लेकिन
कार हुआ।

दूसरे दिन सबेरे आठसात देहाती मिस्टर समरविल के
स पहुँचे और उन्होंने काले शैतान के काले कारनामों की
स्तान कह सुनाई। मिस्टर समरविल पुराने शिकारी थे,

हिन्दुस्तान के अनेक हिस्सों में अनेक वार मगर का
कर चुके थे, और मगर की चालाकियों और आदतों से
वाकिफ थे। लेकिन देहातियों की बातें सुनकर उन्हें मा
गया कि ब्रह्मपुत्र का यह 'काला शैतान' धूर्तता में उन
गुरू घंटाल है। उसका दस्तूर यह था कि घाट पर आकर
हुए आदमियों में से किसी एक को हड़प कर जाता था
वह ऐसा चालाक था कि फिर जल्द उसी घाट पर दूसरा
न करता था। अगर आज उसने नारायणगंज में शिकार
तो हफ्ते भर बाद सुनाई देगा कि उसने दस-पंद्रह मी
किसी गाँव में दूसरे आदमी की जान ली। दस पाँच दि
जब नारायणगंज में मामला ठंढा पड़ जायगा और लो
सतर्कता ढीली पड़ जायगी, तो वह सहसा फिर प्रकट
किसी दूसरे व्यक्ति को चट कर लेगा।

काले शैतान की यह कारवाई महीनों से चल रही थी।
इतने भयंभीत हो रहे थे कि इक्का-दुक्का आदमी नदी में धँ
हिम्मत ही न करता था। वे दस-पाँच मिलकर ही पानी
रते, सो भी तब, जब यह निश्चय कर लेते कि आस पास
शैतान नहीं देखा गया है।

इस खूनी मगर को मारने के लिए बहुत कोशिशें
लेकिन सब बेसूद। काँटे लगाये गये, लेकिन बेकार साबित
जाल डाले गये, किन्तु काला शैतान उनमें फँसकर भी
तोड़कर निकल गया। स्थानीय शिकारियों ने उसे मारने न

शश को, पर नाकामयाब हुए। पहले तो सरकार ने यह
न बना रक्खा था कि कोई भी गोरा–चाहे वह खूनी, लुटेरा
नाश ही क्यों न हो—विना लाइसेंस के वंदूक, रिवाल्वर,
फिल जो चाहे रख सकता था और अच्छे से अच्छे भारतीय
तलवार तक रखने के लिए लाइसेंस लेना पड़ता था। अब
पि गोरों को भी वंदूक का लाइसेंस लेना पड़ता है, लेकिन
ती तक जानते हैं कि किसी भी गोरे को कहने-भर से ही
इसेंस मिल जाता है, जब कि देहाती भारतीय को लाइसेंस
ना अगर असम्भव नहीं, तो बहुत मुश्किल जरूर है। इसी
दो चार स्थानीय शिकारियों के पास जो बंदूकें थीं
वे पुराने जमाने की तोड़े दार या टोपीदार बंदूकें थी,
की गोलियों का काले शैतान की पीठ पर कोई असर ही
होता था। देहाती जानते थे कि मिस्टर समरविल की
क राइफिल होगी, इसलिए उन्होंने समरविल साहब से इस
मखोर को मारने की प्रार्थना की।

मि० समरविल ने भी हामी भर ली। उनके पास बहुत
छी राइफिल थी। उन्होंने सोचा कि निकेल की एक गोली
े शैतान का काम तमाम कर देगी, मगर बेचारे यह नहीं
नते थे कि इस मगर विशेष ने जो काले शैतान का खिताब
ा था, वह योंही नहीं था। हफ्ते भर तक समरविल साहब
ने काम में बहुत व्यस्त रहे। इस बीच में मगर की भी कोई
नहीं सुनाई दी। हफ्ते भर बाद मगर की खबर मिली।

जाड़े का मौसम था। कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। ... को सुबह नदी के विशाल वक्षकी ओर से बड़ी तेज़ ... हवा बह रही थी। ऐसा खराब मौसम ही तो काले ... लिए फिर पुरानी शिकारगाह में प्रकट होने के लिए उपयु... मिस्टर समरविल डाक बँगले में सो रहे थे। बाहर ... आदमियों की आवाज़ सुनकर नींद खुल गई, उठकर बाहर ... कई देहाती खड़े थे। उन्होंने कहा—"काला शैतान आ... दी...ड़ा है। आप चलकर उसे मार दीजिए।"

मिस्टर समरविल को यह सुनकर आश्चर्य नहीं हुआ, ... मगर को ठंढा पानी अच्छा नहीं लगता, इसी लिए जाड़े ... में वे धूप खाने के लिए पानी से निकल-निकल नदी के ... की रेती और चरों पर लेटा करते हैं, और उसी मौसम ... का शिकार होता है। गरमी में बहुत थोड़े मगर मारे ... अतः मिस्टर समरविल राइफिल उठाकर और दस पाँच ... जेब में डाल कर चल दिये।

देहाती एक पतली पगडंड़ी की राह मिस्टर समर... नदी की ओर ले चले। थोड़ी दूर चलकर अगुवा देहाती ... के और लोगों को वहीं रुकने का आदेश दिया और ... समरविल को बहुत सावधानी से आगे बढ़ने को कहा। ... किनारे एक जगह पहुँचकर मिस्टर समरविल ने देखा, ... कुछ दूरी पर सचमुच काला शैतान रेती पर पड़ा था। ... 'काला शैतान' दर असल काला शैतान था। वह पूरे ...

ट लम्बा था ! इतने लम्बे मगर और भी मिलते हैं; लेकिन ले शैतान की विशेषता यह थी कि वह चौड़ा-मोटा भी बहुत । रेती पर पड़ा हुआ वह ऐसा दीखता था, मानो कोई नाव धी पड़ी हो ।

समरविल साहब ने सारी स्थिति को अच्छी तरह समझा ए यह सोचने लगे कि छिपे-छिपे मगर के नजदीक कैसे पहुँचा य । जिस वक्त मगर पेट के बल लेटा रहता है, उस वक्त को मारना नामुमकीन-सा होता है । सब से ताकतवर [illegible]फिल गोली भी उसकी अभेद्य पीठपर लगकर उचट जाती है । ऐसी ंत में सिर्फ तभी वह मारा जा सकता है, जब गोली उसकी न पर पड़े, इसीलिये सभी शिकारी गर्दन का निशाना लेने ी ही कोशिश करते हैं ।

जब मि० समरविल उसके नजदीक पहुँचने के लिए आगे , तो उन्हें मालूम हुआ कि काले शैतान ने लेटने के लिए ह चुनने में कैसी चालाकी से काम लिया है । उसके तीन फ लगभग १०० गज तक एकदम खुली रेती थी—आड़ की छिपने की कोई जगह ही न थी । यह प्रत्यक्ष हो गया कि कर मगर के नजदीक पहुँच सकना नामुमकिन है, और सौ की दूरी से गर्दन का निशाना मारने में सफलता की कोई शा नहीं । गोली की जद के भीतर पहुँचने को एक ही तरकीब वह यह कि नदी की राह मगर की पुश्त की तरफ से पहुँचा य, समरविल साहब ने वही किया ।

दूसरी राह से घूमकर वे नदी के चढ़ाव की कोई आ
दूर गए। वहाँ एक नाव पर दो आदमियों के साथ सव
नाव पेड़-पत्तों से ऐसी ढक दी गई, जिससे मालूम हो
पेड़ वहा आ रहा है। नाव धीरे-धीरे धार के साथ मगर
बहने लगी।

लेकिन काला शैतान इतनी आसानी से पकड़ में आ
नहीं था। वह चुपचाप लेटा हुआ बहते हुए पेड़-पत्तोंवाली
देखता रहा। जैसे ही नाव बंदूक की जद में पहुँचने
थी, वैसे ही वह छप से पानी में कूद कर गायब हो गया।

अब सब बेकार था। समरविल साहब ने किनारे
नाव खेने का हुक्म दिया। नाव मुश्किल से पाँच
आगे बढ़ी थी कि वह बुरी तरह हिलने डोलने लगी।
अगला हिस्सा अचानक बहुत ऊँचा उठ गया। पहले तो
और उनके साथियों की समझ में न आया कि मामला
हवा भी बहुत जोर की नहीं है, लहरें भी बहुत बड़ी
लेकिन क्षण-भर बाद ही असली कारण जान कर नौका
को मानो लकवा मार गया। काला शैतान नाव के नीचे
को उलट देने की कोशिश कर रहा था।

डर के मारे तीनों के तीनों पत्थर हो गये, साँस
होती-सी मालूम होती थी। नाव के नीचे से मगर की
पीठ दीखने लगी। नाव का एक हिस्सा बराबर ऊपर
रहा था। वे चंद सेकेण्ड घंटों-से जान पड़े। एकाएक

साहब ने अमानुषीय हिम्मत करके राइफिल उठाई और
ही मगर का खौफनाक खुला हुआ थूथन पानी के बाहर
ला, वैसे ही अन्धाधुन्ध गोली दाग दी। मालूम हुआ कि
ी ने कुछ असर जरूर किया, क्योंकि दूसरे ही क्षण काला
न पानी में गड़ाप हो गया। ऊपर उठी हुई नाव एक धमाके
साथ पानी में इस जोर से गिरी कि औंधी हो गई और तीनों
र पानी में डुबकियाँ खाने लगे।

इत्तफ़ाक से उस जगह पानी गहरा नहीं था। तीनों के तीनों
न लेकर किनारे की ओर भागे। विचारों को हर क़दम पर
मालूम होता था कि अब पीछे से शैतान ने पकड़ा, अब
ड़ा। खैर वे सही-सलामत किनारे पर पहुँच गये। समरविल
हब को काले शैतान से इस तरह छकने पर बड़ी लज्जा आई।
होंने प्रतिज्ञा की कि चाहे जो हो, इस शैतान को मारे बिना
छोड़ूँगा।

अब साहब और मगर में एक तरह से लुका चोरी का खेल
रम्भ हो गया। साहब दिन-रात काले शैतान की खोज में
ते। शैतान भी कभी कभी दीख जाता था, लेकिन ऐसे ढंग से
समरविल को कभी गोली चलाने का मौका ही न मिलता था।
ह जैसे ही मगर पानी से निकल कर धूप लेने के लिये रेती
आये वैसे ही गोली चलायें, इस आशा से साहब गड्ढे खोद
रात-रात भर कीचड़-काँदा में पड़े पड़े ठिठुरते, परन्तु कभी
फलता न मिलती। उस पर तुर्रा यह कि शैतान नियमित रूप

से आदमियों का शिकार करता रहा, जिसके मानी यह उसे समरविल साहब की रत्ती-भर चिन्ता न थी। इस एक महीने से ऊपर हो गया, पर मगर हाथ न चढ़ा।

मगर का पीछा करते-करते समरविल साहब नारा से तीस मील दक्षिण एक गाँव में आ पहुँचे थे। काले शै आखिरी आदमी इसी गाँव में खाया था। साहब रात-भ के किनारे एक घने पेड़पर छिपकर बैठे रहे कि शायद बाहर निकले। मगर वहीं आसपास मौजूद था, क्योंकि दो बार साहब ने उसकी आवाज सुनी थी; लेकिन वह नहीं दिया।

सवेरे साहब पेड़ से उतरे। रात-भर सर्दी और अं सिकुड़े बैठे-बैठे उनके अंग-अंग अकड़ गये थे। सारा दर्द कर रहा था। अब उन्होंने हार मान ली। सोच तक इस तरह वक्त खराब करूँ। इस शैतान से पार मुश्किल है।

मि० समरविल पेड़ के नीचे खड़े होकर हाथ-पैर सँवा रहे थे और काले शैतान को कोस रहे थे। इतने में पीछे आवाज़ सुनाई दी। सिर फेर कर देखा, तो एक मुस बुढ़िया खड़ी थी। बुढ़ापे के मारे उसकी कमर झुक रही वह समरविल साहब को देख देखकर मुसकराने लगी।

उसने पोपले मुँह से हँसते हुए कहा—"साहब यह मामूली मगर नहीं है। यह शैतान है, शैतान!"

राजशेखर

हाँ, भाई !—साहब ने तिनककर कहा—"वह जरूर शैटान
वरना हम उसको मार डिया होटा।"

बुढ़िया ने क्षण-भर साहब की तरफ घूरकर देखा, और फिर
कराकर बोली—"अच्छा बेटा, मेरे साथ आओ। तुमने
नी चालाकी और ताक़त दिखाली; अब ज़रा मेरे बुढ़ापे की
मात भी देखो।"

यह कहकर बुढ़िया एक पगडंडी पर आगे आगे चलने लगी।
बुढ़िया की शक्ल और बातचीत में कुछ ऐसा आकर्षण और
मविश्वास-सा था कि मि० समरविल चुपचाप उसके पीछे
लिये। चलते चलते दोनों एक झोपड़ी के सामने पहुँचे, जो
जंगल के छोर से मिली हुई थी। झोंपड़ी के दरवाजे पर
समरविल को बिठला कर बुढ़िया भीतर घुस गई। भीतर
देर तक खटपट-सी सुनाई दी। उसके बाद ही बुढ़िया
ल के लोटे में दूध भरकर बाहर निकली। उसे साहब को
ने के लिये देकर उसने ज़ोर-ज़ोर से कई आवाजें दीं।
वाज़ सुनकर एक दुबला-पतला लड़का आ मौजूद हुआ और
श्चर्य से मुँह बाये साहब की तरफ घूर घूर कर देखने लगा।

बुढ़िया ने कहा—"पागल कहीं का! मुँह बाये क्या देखता
? ले, साहब से तीन रुपये ले ले और गाँव चला जा। सोनार
ई के पास दो पाठे (बकरी के बच्चे) बिक्री को हैं; जाकर
हें फौरन ले आ।"

बिना कुछ पूछे-बताये साहब ने चुपके से तीन रुपये निकाल

लड़के के हवाले किये और वह भागता हुआ पगडंडी प
हो गया। साहब ने बुढ़िया से पूछा—"बकरी के
क्या होगा? तुम क्या करना चाहती हो?"

"साहब, तुम चुपचाप बैठे बैठे देखते जाओ, अभी
हो जायगा कि मैं क्या करती हूँ।" इसके सिवा बुढ़िया
कुछ बतलाने से इनकार कर दिया। मजबूर होकर सा
चाप बैठे रहे। आध घंटे बाद लड़का बकरी के ब
आ गया। बच्चे करीब तीन महीने के होंगे। बुढ़िया
बच्चे को पेड़ से बाँध दिया और लड़के से छुरी
दूसरे को ऐसी सफाई से हलाल कर दिया, जिससे
होता था कि बुढ़िया इस काम में पुरानी अभ्यस्त है।
बकरी के बच्चे को इस तरह हलाल किया था कि
सिर धड़ में ज्यों का-त्यों लगा रहे। उसने उसका पे
करके भीतर की आँतें-वाँतें निकाल कर फेंक दीं और
धो-पोंछ कर साफ किया। वह फिर झोंपड़ी में गई और
डलिया भर फूँका हुआ चूना ले आई। उसने मरी हुए ब
पेट में ठूँम ठूँसकर चूना भरा और फिर टाँके लगा कर सी
अब वह एक खूब मोटा ताज़ा बच्चा दीखने लगा।

अब बूढ़ी उठ खड़ी हुई। उसने मरे हुये बच्चे को
गोद में लेकर नदी की तरफ रवाना हुई। नदी किनारे पहुँ
बुढ़िया ने साहब को पेड़ों के एक झुरमुट में छिपकर बै
कहा और जिन्दा बच्चे को ज़मीन पर उतार दिया। मुर्दा

अपनी चादर में छिपाकर बुढ़िया नदी के किनारे चलने लगी। जिन्दा बच्चा छूटकर बुरी तरह मिमियाता हुआ बुढ़िया के पीछे पीछे चलने लगा।

कुछ देर तक बुढ़िया नदी के किनारे इधर से उधर, उधर से इधर बहती हुई लकड़ियाँ और घोंघे इकट्ठे करती हुई फिरती रही और जिन्दा बच्चा उसके दामन के पीछे-पीछे मिमियाता घूमता रहा। आखिरकार मानो अपने काम से थक कर बुढ़िया ने जीवित बच्चे को पानी से जरा सी दूर एक पेड़ से बाँध दिया और खुद थोड़ी दूर पर अलग बैठकर सुस्ताने ऊँघने लगी।

इस प्रकार कोई एक घंटा बीत गया। बकरीका बच्चा भागने में अपने को असमर्थ पाकर बार-बार रस्सी को खींचता और प्रतिवाद-स्वरूप जोर-जोर से चिल्लाता था। बुढ़िया बैठी २ ऊँघती जान पड़ती थी और कुछ दूरी पर पेड़ों के झुरमुट में समरविल साहब आँख गड़ाए कान खड़े किये, चौकन्ने से नदी की ओर देख रहे थे।

नदी के पानी में कुछ बुलबुले उठते दीख पड़े। फिर किनारे पर छोटी छोटी लहरें उठने लगीं। लहरें धीरे धीरे बड़ी होने लगीं, यहाँ तक कि पानी के भीतर से शैतान का विशाल काला शरीर निकला और बिना शब्द किए धीरे धीरे बकरी के बच्चे की ओर बढ़ने लगा। बकरी का बच्चा भी अब भयभीत हो रहा था। उसी क्षण बुढ़िया मानो जाग उठी और गला फाड़ फाड़ कर चिल्लाती हुई, हाथ की लकड़ी फटकारती, किनारे की तरफ दौड़ी।

पलक मारते ही काला शैतान पानी में गायब हो गया। ज
चारों तरफ सन्नाटा छा गया। क्षण भरके लिए बुढ़िया
बच्चे के ऊपर झुकी और बड़ी फुर्ती और सफाई से उसने
बच्चे के मुर्दा बच्चे से बदल दिया। फिर अपनी पुरानी ज
कर वह ऊँघने लगी।

मिमियाना फिर शुरू हुआ। जान पड़ता था कि
को अपनी चादर में लपेट कर बुढ़िया ऊँघते हुए भी रह
उसके बकोटे काटती थी, जिससे वह वेचारा मिमिया
कुछ देर बाद मगर फिर किनारे पर प्रकट हुआ। इसबार
देर तक गौर से बुढ़िया को देखता रहा। जब उसे वि
गया कि बुढ़िया सो रही है, तो यह धीरे से पानी से
और एकही झपट्टे में मुर्दा बच्चे को दबोच कर एक दो
चबलाकर, निगल गया और दूसरे ही क्षण पानी में जा कू

बड़ी फुर्ती से बुढ़िया उठ खड़ी हुई। उसने समरवि
को पुकारा। दोनों के दोनों नदी किनारे जा खड़े हुए और
को देखने लगे। कुछ देर तक एकदम सन्नाटा रहा। उसके
पेड़ के तने जैसा एक विशाल आकार पानी की सतह पर
और तेजी से इधरसे उधर तैरने लगा। उसके तैरने से
सी जान पड़ती थी। जैसे २ क्षण बीतने लगे, उसकी
और बेकली बढ़ने लगी। अब वह मुँह-बाये नदी में ऊपर
नीचे, नीचे से ऊपर बुरी तरह भागता फिरता था और रह
जोर से दाँत बजाता था। इस बीच में किनारे पर गाँववा

जमा हो गई। कुछ देर में उसे पानी में रहना असम्भव-
ज्ञान पड़ने लगा और वह किनारे की ओर दौड़ा। किनारे पर
ही एकत्रित भीड़ ने पत्थरों की वर्षा शुरू कर दी।

मजबूर होकर मगर फिर पानी को लौटा और क्रोध और
नी से अपनी विशाल पूँछ फटकारता हुआ तेजी से चक्कर
ने लगा। दोचार मिनट बाद वह फिर किनारे पर चढ़ा।
बार उसने भीड़ के हल्ले-गुल्ले और पत्थरों की परवा न की।
तट पर आकर हाँफता हुआ लेट रहा। उसके खुले हुए जबड़े
ना और खून बह रहा था और वह बेचैनी से छटपटा
था।

साहब को उसकी छटपटाहट पर दया आई। उन्होंने उस
के को जो बकरी के बच्चे लाया था, अपनी राइफिल लाने के
दौड़ाया।

बुढ़िया ने कहा—"साहब, उसे छटपटाने दीजिए। उसने
तो सैकड़ों आदमियों को इससे ज्यादा छटपटाया है।"

बुढिया का कहना ठीक था, फिर भी उसकी छटपटाहट
ी नहीं जाती थी। समरविल साहब ने मगर के नजदीक
कर उसकी गरदन में एक गोली मारकर उसकी छटपटाहट का
कर दिया।

इस प्रकार काले शैतान का खात्मा हुआ। जिस मगर को
रतीय और गोरे शिकारी सैकड़ों कोशिशें करके भी न मार
के, उसे बुढ़िया की तदबीर ने एकही दाँव में खत्म कर दिया।

मगर ने जैसे ही बकरी के मुर्दा बच्चे को निगला, वैसे पाकर बच्चे के पेट में लगे हुए कमजोर टाँके टूट उसके पेट में भरा हुआ सारे का सारा बिना बुझा चूना पेट में पहुँच गया। पानी पड़ते ही बिना बुझा चूना उबलने लगता है। मगर के पेट में आग लग गई। के लिए मगर जितना ही पानी पीता गया, पेट के उबाल उतना ही जोर पकड़ता गया।

खाल उतारते वक्त जब मगर का पेट चीरा गया, भीतर ८६ चूड़ियाँ अनेकों अँगूठियाँ और बिछिये तथा बोतल निकली। ❀

* 'वाइड वर्ल्ड' में मि० [illegible] के लिखे हुए वृत्तान्त के आधारपर।

काला शैतान

कोई अद्भुत घटना इतिवृत्त-निवेदक के हाथ में पड़कर पत्र का समाचार
न जाती है और प्रतिभाशाली लेखक के हाथ में कलामय कहानी। यह
गर के अनोखे शिकार का वर्णन कुछ मूललेखक की और कुछ से अधिक
पान्तरकार की करामात से अच्छी खासी कहानी बन गया है। कहानी का
ायक काला शैतान अपनी उदर-ज्वाला शान्त करने के लिए यदि किसी
ारी मछली, भैंस या बहुत से बहुत किसी काली कलूटी बुढ़िया को पकड़
ता तो हम उसकी इस काली करतूत पर चश्मपोशी का परदा डाल उसके
वतन्त्र जीवन नाटक को दुःखान्त ही मानते पर उस क्रूर दानव ने सुन्दरी
वती को, चञ्चल कुमारी को, भावी सुख संसार में श्रद्धा के साथ प्रवेश करने
रोक दिया इससे उसका अन्त सुखान्त ही समझा जायगा। आरंभ के दो
घट्टकों में कही हुई यह नन्हीं सी कहानी वस्तुतः बहुत मार्मिक है। आगे
ाकार का वर्णन बहुत सजीव अतएव मनोरञ्जक है। कथा-कौतुक अन्ततक
ाथिल नहीं होने पाता। बुढ़िया का कौशल अनूठा होने पर भी असम्भव
ही जान पड़ता। भाषा वर्णन के अनुसार सहज सीधी निपट सरल है पर
ढ़ नहीं खूब चलती हुई। स्वर्गीय व्रजमोहन वर्मा के कलम से निकलना
ी उसकी अच्छाई का सबूत है।

मैथिली

बा० मैथिली शरण गुप्त

2.

यशोधरा

१

"माँ, कह एक कहानी।"
"बेटा, समझ लिया क्या तू ने
मुझको अपनी नानी?"
"कहती है मुझसे यह चेटी,
तू मेरी नानी की बेटी!
कह माँ, कह, लेटी ही लेटी,
राजा था या रानी?
राजा था या रानी?
माँ, कह एक कहानी।"
"तू है हठी मानधन मेरे,
सुन, उपवन में बड़े सवेरे,
घूम रहे थे पितृपद तेरे,
जहाँ सुरभि मनमानी।"

"जहाँ सुरभि मनमानी ?
हाँ, माँ यही कहानी।"
"वर्ण वर्ण के फूल खिले थे ;
झलमल कर हिम-बिन्दु झिले थे ,
हलके झोंके हिले-मिले थे ,
लहराता था पानी।"
"लहराता था पानी ?
हाँ, हाँ यही कहानी।"
"गाते थे खग कल कल स्वर से ,
सहसा एक हंस ऊपर से ,
गिरा, विद्ध होकर खर-शर से ,
हुई पक्ष की हानी !"
"हुई पक्ष की हानी ?
करुणा-भरी कहानी !"
"चौंक उन्होंने उसे उठाया ,
नया जन्म-सा उसने पाया।
इतने में आखेटक आया ,
लक्ष्य-सिद्धि का मानी।"
"लक्ष्य-सिद्धि का मानी ?
कोमल-कठिन कहानी।"
"माँगा उसने आहत पक्षी ,
तेरे तात किन्तु थे रक्षी।

तब उसने, जो था खगभक्षी–
हठ करने की ठानी।"
"हठ करने की ठानी?
अब बढ़ चली कहानी।"
"हुआ विवाद सदय-निर्दय में,
उभय आग्रही थे स्वविषय में,
गई बात तब न्यायालय में,
सुनी सभी ने जानी।"
"सुनी सभी ने जानी?
व्यापक हुई कहानी।"
"राहुल, तू निर्णय कर इसका
न्याय पक्ष लेता है किसका?
कह दे निर्भय, जय हो जिसका।
सुन लूँ तेरी बानी।"
"माँ, मेरी क्या बानी?
मैं सुन रहा कहानी।
"कोई निरपराध को मारे
तो क्यों अन्य उसे न उबारे?
रक्षक पर भक्षक को वारे,
न्याय दया का दानी।"
"न्याय दया का दानी?
तू ने मानी कहानी।"

सो, अपने चंचलपन, सो !
सो, मेरे अंचल-धन सो !

पुष्कर सोता है निज सर में,
भ्रमर सो रहा है पुष्कर में,
गुंजन सोया कभी भ्रमर में,
सो, मेरे गृह-गुंजन, सो !
सो मेरे अंचल-धन सो !

तनिक पार्श्व-परिवर्त्तन कर ले,
उस नासा-पुट को भी भर ले।
उभय पक्ष का मन तू हर ले,
मेरे व्यथा-विनोदन सो !
सो, मेरे अंचल-धन सो !

रहे मन्द ही दीपक-माला,
तुझे कौन भय-कष्ट-कसाला ?
जाग रही है मेरी ज्वाला,
सो, मेरे आश्वासन, सो !
सो, मेरे अंचल-धन सो !

ऊपर तारे झलक रहे हैं,
गोखों से लग ललक रहे हैं,
नीचे मोती ढलक रहे हैं,
मेरे अपलकदर्शन, सो !
सो, मेरे अंचल-धन सो !

तेरी साँसों का निस्पन्दन,
मेरे तप्त हृदय का चन्दन!
सो, मैं कर लूँ जी भर क्रन्दन!
सो उनके कुल-नन्दन, सो!
सो मेरे अंचल-धन सो!
खेले मन्द पवन अलकों से,
पोंछूँ मैं उनको पलकों से।
छद-रद की छवि की छलकों से,
पुलक-पूर्ण शिशु-यौवन सो!
सो, मेरे अंचल-धन सो!

२

घुसा तिमिर अलकों में भाग,
जाग, दुःखिनी के सुख, जाग!
जागा नूतन गन्ध पवन में,
उठ तू अपने राज-भवन में,
जाग उठे खग वन-उपवन में,
और खगों में कलरव-राग।
जाग, दुःखिनी के सुख, जाग!
तात! रात बीती वह काली,
उजियाली ले आई लाली,
लदी मोतियों से हरियाली,

ले लीलाशाली, निज भाग !
जाग, दुःखिनी के सुख, जाग !

किरणों ने कर दिया सवेरा,
हिम-कण-दर्पण में मुख हेरा,
मेरा मुकुर मंजु मुख तेरा,
उठ पंकज पर पड़े पराग !
जाग दुःखिनी के सुख जाग !

तेरे वैतालिक गाते हैं,
स्वस्ति लिए ब्राह्मण आते हैं,
गोप दुग्ध-भाजन लाते हैं,
ऊपर झलक रहा है झाग !
जाग, दुःखिनी के सुख, जाग !

मेरे बेटा, भैया, राजा,
उठ, मेरी गोदी में आ जा,
भौंरा नचे, बजे हाँ बाजा,
सजे श्याम हय या सित नाग ?
जाग दुःखिनी के सुख जाग !

जाग अरे विस्मृत भव, मेरे !
आ तू, क्षम्य उपद्रव, मेरे !
उठ, उठ, सोए शैशव मेरे !
जाग स्वप्न, उठ, तन्द्रा त्याग !
जाग, दुःखिनी के सुख जाग !

राहुल

बस, पिता जी आ जायँ, तो मुझे पूरा सन्तो

यशोधरा

तू ने मेरे मन की बात कही बेटा।

राहुल

तब आज मुझे वही माला पहना दे जो पिताजी ने तु

यशोधरा

मैंने उसे तेरी बहू के लिए रख छोड़ा था। यह
है; उसे वह तेरे ही हाथों पायगी। गौतमी, ले आ।

(गौतमी जाती

राहुल

मेरी बहू की तुझे बड़ी चिन्ता है। इससे मुझे ईर्ष्या

यशोधरा

क्यों बेटा ?

राहुल

वह आकर मेरे और तेरे बीच में खड़ी हो जाय
सहन नहीं कर सकता।

यशोधरा

मेरी दो जाँघें हैं, एक पर तू बैठेगा, दूसरी पर वह

राहुल

परन्तु जिस जाँघ पर मैं बैठना चाहूँगा उसी पर
चाहेगी तो झगड़ा न मचेगा ?

यशोधरा

मैं उसे समझा लूँगी।

राहुल

काहे से समझा लेगी ? मुँह तो तेरे एक ही है। वह मेरे भाग
। उससे मैं तुझे बहू के साथ बात करने दूँगा तब न ?

यशोधरा

इतना बड़ा स्वार्थी होगा तू ?

राहुल

इस में स्वार्थ की क्या बात है माँ यह तो स्वत्व की बात है।

गंगा

परन्तु, कुमार, अधिकार क्या अकेले ही भोगा जाता है ?

राहुल

तुम भी माँ की ओर मिल गई हो !

गौतमी

कर)
कुमार, मैं तुम्हारी ओर हूँ। समय आवे तब देख लेना।
से क्या झगड़ा। लो, यह मरकत की माला।

राहुल

हन कर)
अरे ! यह तो मुझे बड़ी बैठी।
तार कर)
माँ, एक बार तू ही इसे पहन।

यशोधरा

बेटा, मैं ?

राहुल

इस हँसी से तो तेरा रोना ही भला ! पहन माँ, मैं देखूँगा

गौतमी

देवि, माथे पर सिन्दूर-विन्दु धारण करती हुई किस विचा
से तुम कुमार की इच्छा पूरी करने में असमंजस करती हो ?
ऐसा करने से तुम्हें रोकता है वह धर्म नहीं, अधर्म है।

यशोधरा

पहना दे बेटा !

राहुल

(पहना कर)

अहा हा ! कह राजयोग है। चित्रा, दर्पण तो लाना।

यशोधरा

रहने दे बेटा, तू ही मेरा दर्पण है। अरे, यह विचित्रा
लाई ?

विचित्रा

जय हो देवि, महाराज ने कुमार के लिए यह वीणा भेजी
और पूछा है कि वे कब तक आते हैं ?

राहुल

वे क्या कर रहे हैं ?

विचित्रा

कुमार, महाराज अभी संध्या करने के लिए उठे हैं।

राहुल

जब तक वे सन्ध्या से निवृत्त हों, मैं पहुँचता हूँ।

विचित्रा

जो आज्ञा।

(गई)

राहुल

माँ, दादा जी ने मुझसे कहा था तू बड़ा अच्छा वजाती है। तू ही मुझे वीणा सिखाया कर। इसी से दादा जी ने मेरे लिए यह वीणा वनने की आज्ञा दी थी।

यशोधरा

वेटा, मैं तो सब भूल गई। परन्तु वीणा है सुन्दर।

राहुल

इसी से अपने आप तेरी अँगुलियाँ इसे छेड़ने लगीं ! कैसी वोलती है यह ?

यशोधरा

अच्छी—तेरे योग्य।

राहुल

माँ, तनिक इसे बजाकर कुछ गा।

यशोधरा

बेटा, यह छोटी है।

गङ्गा

कुमार परन्तु स्वर दे सकेगी । गाने के लिए इतना ही पर्याप्त है ।

यशोधरा

अरी, यह यों ही हठी है, ऊपर से इसे तुम और भी उकसा रही हो ।

राहुल

माँ, अपनी इच्छा से तू रोती-गाती है । मैं कहता हूँ तो मुझे हठी बताती है । यही सही । तू न गायगी तो मैं रोने लगूँगा।
(हँसता है)

यशोधरा

गाती हूँ बेटा, तेरे लिए जी रही हूँ तो गाऊँगी क्यों नहीं!

(गान)

रुदन का हँसना ही तो गान।
गा गा कर रोती है मेरी हृत्तन्त्री की तान।
मीड़-मसक है कसक हमारी, और गमक है हूक;
चातक की हुत-हृदय–हूति जो, सो कोइल की कूक।
राग हैं सब मूर्छित आह्वान।
रुदन का हँसना ही तो गान।
छेड़ो न वे लता के छाले, उड़ जावेगी धूल,
हलके हाथों प्रभु के अर्पण करदो उसके फूल,

गन्ध है जिनका जीवन-दान।
रुदन का हँसना ही तो गान।
कादम्बिनी-प्रसव की पीड़ा हँसी तनिक उस ओर,
क्षिति का छोर छू गई सहसा वह बिजली की कोर,
उजलती है जलती मुसकान,
रुदन का हँसना ही तो गान।
यदि उमंग भरता न अद्रि के, ओ तू अन्तर्दाह,
तो कल कल कर कहाँ निकलता निर्मल सलिल-प्रवाह ?
सुलभ कर सबको मज्जन-पान।
रुदन का हँसना ही तो गान।
पर गोपा के भाग्य-भाल का उलट गया वह इन्दु,
टपकाता है अमृत छोड़ कर ये खारे जल-बिन्दु !
कौन लेगा इनको भगवान् ?
रुदन का हँसना ही तो गान।

राहुल

माँ, माँ, रुलाई आती है। ये गङ्गा, गौतमी और चित्रा सभी तो रो रहीं हैं।

यशोधरा

बेटा, बेटा, आ मेरी छाती से लग जा।

(बलपूर्वक भेटती है)

राहुल

ओह ! ओह !

गौतमी

छोड़ दो, छोड़ दो देवि, कुमार को। यह क्या करती हो?

(यशोधरा भुजपाश ढीला करती है)

राहुल

आह! प्राण बचे। मैं तो तुझे सर्वथा दुर्बल समझता था। परन्तु तू ने इतने बल से मुझे दबाया कि मेरी साँस रुकने लगी माँ! हाथ जोड़े मैंने तेरे छाती से लगने को! फिर भी तू रोती है? रोना मुझे चाहिए या तुझे?

यशोधरा

बेटा, मैं तुझे हँसता ही देखूँ।

राहुल

अच्छा, रात को कहानी कहेगी न?

यशोधरा

कहूँगी।

राहुल

मेरी जीत! जाऊँ तो झटपट दादा जी के यहाँ हो आऊँ।

३

राहुल

अम्ब, मत करता है, पत्र लिखूँ तात को।

यशोधरा

क्या लिखेगा बेटा, सुनू मैं भी उस बात को?

राहुल

मैं लिखूँगा—तात, तुम तपते हो वन में,
हम हैं तुम्हारा नाम जपते भवन में।
आओ यहाँ, अथवा बुला लो हम को वहाँ।

यशोधरा

किन्तु बेटा, कौन जाने तेरे तात हैं कहाँ ?

राहुल

वे हैं वहाँ अम्ब, जहाँ चाहे और सब है,
किन्तु सोच, ऐसो धृति ऐसी स्मृति कब है ?
ऐसा ठौर होगा कहाँ, जो सुध भुलादे माँ,
जागते ही जागते जो हमको सुला दे माँ ?

(नेपथ्य में)

आ रहे हैं, आ रहे हैं, धन्य भाग सबके !

यशोधरा

एवमस्तु, एवमस्तु, निश्चय ही अब के—

राहुल

माँ, क्या पिता आ रहे हैं ?

यशोधरा

बेटा, यह सुन ले,
जो जो तुझे चाहिए, उसे आ, आज चुन ले।

यशोधरा

१

रे मन आज परीक्षा तेरी।
विनती करती हूँ मैं तुझसे,
बात न बिगड़े मेरी।
अब तक जो तेरा निग्रह था,
बस अभाव के कारण वह था।
लोभ न था, जब लाभ न यह था;
सुन अब स्वागत - भेरी!
रे मन, आज परीक्षा तेरी।

दो पग आगे ही वह धन है,
अवलम्बित जिसपर जीवन है।
पर क्या पथ पाता यह जन है?
मैं हूँ और अँधेरी।
रे मन, आज परीक्षा तेरी।

सब अपना सौभाग्य मनावें,
दरस-परस, निःश्रेयस पावें।
उद्धारक चाहे तो आवें,
रहे यहीं यह चेरी।
रे मन, आज परीक्षा तेरी।

२

प्रभु उस अजिर में आगये, तुम कक्ष में अब भी यहाँ ?
हे देवि, देह धरे हुए अपवर्ग उतरा है वहाँ।
सखि, किन्तु इस हतभागिनी को ठौर हाय ! वहाँ कहाँ ?
गोपा वहीं है, छोड़ कर उसको गये थे वे जहाँ।

मानिनि, मान तजो लो, रही तुम्हारी बात !
दानिनि, आया स्वयं द्वार पर यह वह तत्रभवान।
किसकी भिक्षा न लूँ, कहो मैं ? मुझको सभी समान,
अपनाने के योग्य वही तो जो हैं आर्त्त-अजान।
राजभवन के भोगों में था दुर्लभ वह जलपान,
किया राम ने गुह-शवरी से जिसका स्वाद बखान।
शिक्षा के बदले भिक्षा भी दे न सके प्रतिदान,
तो फिर कहो, उऋण हों कैसे वे लघु और महान ?
माना, तब दुर्बल था, तुमको मैं तज गया निदान,
किन्तु शुभे परिणाम भला ही हुआ, सुधा-सन्धान।
यदि मैंने निर्दयता की तो क्षमा करो प्रिय जान,
मैत्री - करुणा - पूर्ण आज मैं शुद्ध बुद्ध भगवान।

यशोधरा

पधारो, भव भव के भगवान !
रख ली मेरी लज्जा तुमने, आओ अत्रभवान !

नाथ, विजय है यही तुम्हारी,
दिया तुच्छ को गौरव भारी।
अपनाई मुझ-सी लघु नारी,
होकर महा महान!
पधारो भव भव के भगवान!

मैं थी सन्ध्या का पथ हेरे,
आ पहुँचे तुम सहज सबेरे!
धन्य! कपाट खुले ये मेरे!
दूं अब क्या नव दान?
पधारो भव भव के भगवान!

मेरे स्वप्न आज ये जागे,
अब वे उपालम्भ क्यों भागे?
पा कर भी अपना धन आगे
भूली-सी मैं भान।
पधारो, भव भव के भगवान!

दृष्टि इधर जो तुमने फेरी,
स्वयं शान्त जिज्ञासा मेरी।
भय-संशय की मिटी अँधेरी,
इस आभा की आन!
पधारो, भव भव के भगवान!

यही प्रणति उन्नति है मेरी,
हुई प्रणय की परिणति मेरी,

मिली आज मुझको गति मेरी,
क्यों न करूँ अभिमान ?
पधारो, भव भव के भगवान !

पुलक पद्म परिगीत हुए ये ;
पद-रज पोंछ पुनीत हुए ये,
रोम रोम शुचि शीत हुए ये,
पाकर पर्व-स्नान।
पधारो, भव भव के भगवान !

इन अधरों के भाग्य जगाऊँ।
उन गुल्फों की मुहर लगाऊँ !
गई वेदना, अब क्या गाऊँ ?
मग्न हुई मुसकान।
पधारो, भव भव के भगवान !

कर रक्खा, यह कृपा तुम्हारी ;
मैं पद-पद्मों पर ही वारी।
चरणामृत करके ये खारी,
अश्रु करूँ अब पान।
पधारो, भव भव के भगवान !

यशोधरा

यशोधरा चम्पूकाव्य है। गान और पठन की दृष्टि से भाषा के दो रू
माने जाते हैं–गद्य और पद्य। इन रूपों में पृथक् पृथक् या एकत्र जब
काव्य की आत्मा अवतार लेती है तो काव्य के भी तीन भेद माने जाते हैं
गद्यकाव्य (अर्थात् गद्यसाहित्य), पद्यकाव्य (पद्यसाहित्य) और चम्पूकाव्य
(चम्पूसाहित्य)।

यद्यपि मिश्र भाषा-शैली में होने के कारण चम्पू की आलोचना गद्य
और पद्य दोनों के क्षेत्रों में हो सकती है पर इस गद्य के युग में साहित्य के
नाटक, चम्पू आदि सभी के स्वतंत्र राज्य गद्य की सीमा के भीतर मान लिए
हैं। मिश्र भाषा में कथाप्रबंध, गद्यकाव्य, नाटक आदि भी लिखे जाते हैं
पर साथ ही उन्हें यह स्वतंत्रता है कि वे शुद्ध गद्य में भी आत्मलाभ
कर सकते हैं। केवल चम्पू की यह विशेषता है कि वह खिचड़ी शैली
में ही लिखा जाय। अन्य बातों के विचार से भी चम्पू इन सबसे भिन्न होता

है। उसमें कथाप्रबंध के समान पुरानी कथावस्तु का आधार रहता है, गद्य काव्य के आत्मीय राग और हृदयतत्व रहते हैं और साथ ही पाठ्य नाटक की अभिनयमयी कल्पना रहती है। इस प्रकार चम्पू में कथावस्तु, चरित्र, कथोपकथन, वर्णन आदि तत्त्व रह सकते हैं पर सबसे बड़ी बात है उसमें रहने वाली प्रगीतकाव्य की आत्मा, वही भावुकता, वही आत्माभिव्यंजन की प्रवृत्ति, वही एकता और वही कला की पूर्णता।

कर्त्ता की मानस वृत्ति के अनुसार साहित्य के दो मुख्य भेद होते हैं— अन्तःसाधनाप्रधान (कर्तृप्रधान) और बहिःसाधनाप्रधान (कर्मप्रधान)। जब कवि की वृत्ति अन्तर्मुखी रहती है, तब एक व्यक्ति वा वस्तु से उसका तादात्म्य होता है, वह उसीकी अनुभूति को अपनी अनुभूति समझता है और उसमें इतना लीन हो जाता है कि उसे दूसरों की सुधबुध ही नहीं रहती; वह अपने पराये के भेद से ऊपर उठ जाता है; पर जब उसकी वृत्ति बहिर्मुखी रहती है तब वह तटस्थ द्रष्टा के समान जो कुछ देखता है उसके साथ एकतान होने पर भी उससे अलग रहता है, वह चाहे जिससे तादात्म्य स्थापित करके उसकी आत्मा पहचान लेता है, उसके मन की जान लेता है और चुपचाप उसे अंकित कर देता है। इसीसे उसके अंकन और कथन में सबके सम्बन्ध का ध्यान रहता है किसी एक का पक्षपात नहीं। पहली दृष्टि को कहते हैं कर्तृपक्षप्रधान और दूसरी को कर्मपक्षप्रधान। पहली दृष्टि की उपज हैं, प्रगीतकाव्य, गद्यकाव्य, सांस्कारिक आलोचना आदि और दूसरी दृष्टि के फल हैं नाटक, उपन्यास, निबंध, महाकाव्य आदि। चम्पू में पहली दृष्टि रहती है। इसीसे उसमें चाहे जो लक्षण मिलें पर वह नाटक अथवा कथाप्रबंध कभी नहीं हो सकता, वह गद्य काव्य का ही सजातीय है। जयशंकर प्रसाद का

उर्वशी चम्पू, और मैथिलीशरण की यशोधरा दोनों ही इसके निदर्शन हैं। इसीसे आचार्यों ने चम्पूकाव्य को एक स्वतंत्र भेद माना है।

सबसे बड़ी बात चम्पू में यह है कि इसमें कोई बन्धन नहीं होता। रचना का रूप चाहे जो रहे, कला और अनुभूति की भीतरी पूर्णता होनी चाहिए। इसमें कहानी, संवाद, गीत, तुकान्त, अतुकान्त, पद्य, गद्य, सभी के लिए स्थान होता है। अच्छे कवि की प्रतिभा इसमें स्वच्छन्द विहार कर सकती है। स्वयं कवि मैथिलीशरण ने लिखा है 'लो कविता, लो गीत, लो नाटक और लो गद्य पद्य, तुकान्त-अतुकान्त सभी कुछ, परन्तु वास्तव में कुछ नहीं। और साथ ही उन्होंने यह भी कह दिया है कि इसमें 'राहुल जननी के दो चार आँसू ही' हैं। इस प्रकार अनजाने ही स्वयं कवि ने संकेत कर दिया है कि इसमें महाकाव्य की सी बुद्धचरित की पूर्णता और महत्ता नहीं, केवल हृदय का रस है।

चम्पू की सरलता और स्वच्छन्दता की छूट पाकर कई कवि प्रारम्भ में इसकी रचना का अभ्यास करते हैं पर जो गुप्त जी के समान प्रौढावस्था में इस रूप की रचना करता है, वही सचमुच सफल होता है। क्योंकि बन्धन का अभाव संग्रह और त्याग की बुद्धि और कला पर कोई आवरण डाल नहीं देता, कवि की वास्तविक शक्ति का खुला परिचय दे डालता है।
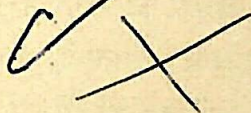
उर्दू-कविता में इस्लाह

उम्र के ख़याल से शायद उर्दू-भाषा भारतवर्ष की सबसे कम-उम्र ज़बान है। 'आवे हयात' के रचयिता स्वर्गीय आज़ाद महोदय उसे 'शाहजहानी बाज़ार का बच्चा बतलाते हैं और सबूत में अमीर ख़ुसरो की सनद पेश करते हैं। कुछ अन्य सज्जन उसका, एक अलग ज़बान होने का दावाही गलत बतलाते हैं। उनका कहना है कि उर्दू कोई पृथक् भाषा नहीं है, फ़ारसी शब्दों से मिली हुई हिन्दी को ही ज़बर्दस्ती 'उर्दू' का लक़ब दे डाला गया है। निः-सन्देह उनके इस कथन में सत्य का बहुत बड़ा अंश है। उर्दू दर-अस्ल हिन्दी-भाषा का एक रूपान्तरमात्र है। परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि मौजूदा हिन्दी और उर्दू में काफ़ी अन्तर होगया है। बात यह है कि मुसलमानी हिन्दी को उर्दू का नाम मिलने के बाद

उसका विकास एक ऐसे निराले ढंग से हुआ कि केवल दो सौ वर्ष के छोटे समय ही में वह एक चहचहाती हुई लतीफ़ ज़बान बन गई।

यदि उर्दू ढाई तीन सौ वर्ष की पुरानी है, तो हिन्दी हज़ार वर्ष से अधिक की प्राचीन है। परन्तु हम देखते हैं कि उर्दू-भाषा में—ख़ासकर कविता की भाषा में—मुहाविरों का प्रयोग जिस बहुतायत और ख़ूबी से होता है, वैसा हमारी सहस्रवर्ष की प्रौढ़ हिन्दी में कम मिलेगा। उर्दू-शायरी ने साफ़-सुथरी और मजी हुई ज़बान के लिए कमाल कर दिखाया है। उर्दू कविता का विकास फ़ारसी-कविता के ढंग पर हुआ है। उसका रंग-ढंग विदेशी है। उसके भावों में अप्राकृतिक कामवासना का काला रंग चढ़ा हुआ है। उर्दू-कवियों का माशूक ख़ूँरेज़ी के फ़न में यकता—पूरा जल्लाद है और आशिक बेचारे कटे-छटे, लोहू-लुहान, बिस्मिल और नीम मुर्दा नज़र आते हैं। यह सब होते हुए भी मानना पड़ेगा कि उर्दू-शायरों की भाषा में एक ख़ास रंग और पुख़्तगी है। उसमें एक अनोखा प्रवाह, एक निराला बाँकपन है। उर्दू कविता की लोकप्रियता का यह भी एक मुख्य कारण है।

अब इस बात पर विचार कीजिए कि उर्दू के इस साफ़-सुथरेपन, इस निखार और बनाव-चुनाव का क्या कारण है! उसने इतने अल्पकाल में यह पुख़्तवरी कैसे हासिल कर ली! उसकी ख़ूबसूरती का राज़ क्या है?

यह कहना ग़लत न होगा कि उर्दू भाषा का जन्म दिल्ली में

हुआ था यानी मुसलमानी हिन्दी को 'उर्दू' की उपाधि दिल्ली से ही मिली थी। उसका विकास दिल्ली और उसके आस पास के स्थानों ही में हुआ था। अस्तु, उर्दू के पण्डितों और जन्मदाताओं ने दिल्ली और उसके क़रीब की बोलचाल की भाषा को ही प्रामाणिक क़रार दे दिया। उन्होंने इस बात का ख़ास ख़्याल रक्खा कि केवल दिल्ली की बोलचाल की भाषा और मुहाविरे ही उर्दू में स्थान पा सकें। अन्य प्रान्तों के मुहाविरों और कहावतों के लिये उन्होंने उर्दू के दरवाज़े पर 'नो एड्मिशन' (No Admission) लिख दिया। फिर भी दक्षिण देश का संसर्ग होने के कारण बहुत से 'दक्खिनी' शब्द और मुहाविरे भी ज़बर्दस्ती उर्दू के घर में घुस आये। मगर उर्दू-कवियोंने धीरे-धीरे इन मदाख़लत-बेजा करने वाले बिना लैसंस के शब्दों को उर्दू के अहाते से निकाल बाहर किया। उन्होंने दिल्ली की ज़बान को इतनी प्रधानता दी, जिसका हिसाब नहीं।

दो-चार बिगड़े-दिमाग़ शायरों ने तो यह समझ रक्खा था कि उर्दू दिल्ली निवासियों को छोड़कर और किसी को आ ही नहीं सकती। 'आबे हयात' में मीरतक़ी 'मीर' के बयान में लिखा है कि एक बार कमरुद्दीन ख़ाँ 'मिन्नत' 'मीर' के पास कुछ कविता इस्लाह के लिये ले गये। 'मीर' साहब ने उनका वतन पूछा। उन्होंने 'सोनीपत' बताया। यह 'सोनीपत' दिल्ली के क़रीब— पानीपत के पास एक स्थान है। इस पर 'मीर साहब ने फ़रमाया— "जनाब, उर्दू खास दिल्ली की ज़बान है। आप इसमें तकलीफ़

न कीजिए, अपनी फ़ारसी-वारसी कह लिया कीजिए।

इस क़िस्से से यह बात मालूम हो जायगी कि उर्दू वालों ने अपनी ज़बान को विशुद्ध रखने के लिए कितनी कड़ाई से काम लिया है। उर्दू के बाग़वाँ समय-समय पर उर्दू के चमन की काँट छाँट और तराश करके उसे परिष्कृत करते रहे हैं। 'सौदा' और 'मीर' के उस्ताद 'ख़ान आरज़ू' के बयान में लिखा है कि उन्होंने उर्दू के मुहाविरे दुरुस्त किये, नये मुहाविरों को दाख़िल किया और पुराने मुहाविरों की, जो कम प्रचलित हो गये थे, काँट-छाँट की। इस प्रकार उर्दू उत्तरोत्तर परिमार्जित होती रही।

यह ज़माना दिल्ली के ज़वाल का ज़माना था। सल्तनत-मुग़लिया अपने जीवन की अन्तिम साँसें भर रही थी, दिल्ली की पुरानी शानशौक़त, सुख-समृद्धि विलीन हो रही थी और वह दिल्ली उजड़ रही थी। जब दिल्ली के कवियों और साहित्यिकों को वहाँ आश्रय और जीविका मिलनी मुश्किल हुई, तो उन्होंने लखनऊ की तरफ़ रुख़ किया।

वह ज़माना लखनऊ की तरक़्क़ी का था। उस ज़माने में लखनऊ धन-सम्पत्ति से भरापूरा था। वहाँ दिल्ली के कवियों का स्वागत हुआ, उन्हें शरण मिली। इस प्रकार उर्दू के विकास का दूसरा केन्द्र लखनऊ क़ायम हुआ। लखनऊवालों ने उर्दू को अपना एक जुदा ही रंग दिया। यद्यपि देहलवी उर्दू में और लखनवी उर्दू में कोई बड़ा अन्तर नहीं है—अगर लखनऊ वाले 'कानगोशी' करते थे, तो दिल्ली वाले 'गोशमाली' कर देते थे

फिर भी दिल्लीवालों ने उसका विरोध किया। इस विरोध का फल यह हुआ कि लखनऊ और दिल्ली की ज़बानों में ज़ोर की प्रतियोगिता उत्पन्न हो गई। इस प्रतियोगिता ने उर्दू को चमकाने में बहुत मदद दी। लखनऊवालों ने ज़बान को रंगीन बनाने और सजाने-सँवारने में बहुत तकल्लुफ़ से काम लिया। इससे लखनवी उर्दू में सरलता का अभाव हो गया, मगर उसमें एक खास क़िस्म की बनावटी नज़ाकत पैदा होगई। इस प्रकार उर्दू के दो अलग-अलग अखाड़े कायम हो गये। उस समय से अब-तक उर्दू के जितने लेखक या शायर हुए हैं, वे सब इन्हीं दो स्कूलों में से किसी-न-किसी का दम भरते रहे। परन्तु समय की गति ने आजकल इस अंतर को भी प्रायः दूर कर दिया। इस लिये उर्दू चाहे वह हैदराबाद की हो या लाहौर की, कलकत्ते की हो या भूपाल की—प्रायः एक ही सी है। उसमें प्रान्तीयता की बू नहीं है, लोकल शब्दों का प्रवेश नहीं है। यह तो हुई आम उर्दू की बात, अब उर्दू कविता की बात सुनिए।

यह कहा जा चुका है कि उर्दू शायरी की ज़बान का निखार बहुत साफ़ है। उसमें ज़बान की रवानी, बंदिशों की चुस्ती और मुहावरों का जड़ाव देखने योग्य है। इन सबका एक प्रधान कारण है उर्दू शायरी की उस्ताद-शागिर्द की प्रथा। उर्दू कविता के आदि से ही उसका विकास गुरु-शिष्य की परम्परा प्रणाली पर हुआ है। यह तो प्रायः सभी जानते हैं कि कवि स्वयं पैदा होते हैं। कोई उन्हें कवि बना नहीं सकता। काव्य-प्रतिभा

ईश्वरप्रदत्त गुण है। जिन लोगों के मन की स्वाभाविक प्रवृ
कविता की ओर होती है, जिनकी तबीयत ख़ास तौर पर इस
लिए मौज़ूं होती है, वे ही—और केवल वे ही—कवि हो सक
हैं। परन्तु इसके साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि जि
पुरुषों में यह दैवीगुण मौजूद है, उनकी इस प्रतिभा को थोड़ी
ट्रेनिंग; थोड़े से संशोधन और इस्लाह से कई गुना उज्ज्वल बना
जा सकता है।

उर्दू-शायरी के विकास में इस 'इस्लाह' ने बहुत बड़ा भा
लिया है। उर्दू के कवि जब कुछ शुद-बुद करने लगते
तब किसी अच्छे अभ्यस्त कवि को अपना काव्य-गुरु बनाते हैं
वे अपनी समस्त रचनाओं को उस्ताद के सामने पेश करते
और उस्ताद उनमें उचित संशोधन कर देते हैं। शागिर्द
उस्ताद की इस्लाहों—उनके बताए हुए दोषों और उन्हें दूर करने
उपायों को बराबर मनन करते रहते हैं। इस प्रकार उनके कला
में पुख़्तगी आती, भाषा परिमार्जित होती, बंदिशों में चु
ख़यालात में परवाज़ और शैली में बाँकपन आता है।

यह उस्ताद-शागिर्द की प्रथा और इस्लाह का रवाज इत
प्रचलित हुआ कि वह एक नियम-सा बन गया। इसमें स
नहीं कि ग़ालिब के समान अनेक प्रतिभाशाली कवि किसी
शागिर्द नहीं थे, फिर भी सौदा, मीर, ज़ौक़ आदि बड़े-बड़े शा
ने उस्तादों से तरबियत पाई थी।

मुशायरों में उस्तादों को छोड़कर नवीन कवियों की जि

रचनाएँ पढ़ी जाती थीं, उनपर प्रायः किसी-न-किसी उस्ताद की इस्लाह की मुहर होती थी। इस नियम के प्रभाव का अंदाज़ आपको दिल्ली-सम्राट् के काव्य-गुरु महाकवि ज़ौक़ के जीवन की एक घटना से लग जायगा। ज़ौक़ ने आरम्भ में शाह नसीर को अपना उस्ताद बनाया था। मगर शाह साहब के पुत्र भी कविता करते थे इसलिए शाह साहब अपने पुत्र को बढ़ाने के लिये ज़ौक की उपेक्षा करके उन्हें निरुत्साहित करने लगे। इसपर ज़ौक ने उनके पास जाना छोड़ दिया। एक दिन एक जगह मुशा-यरा था, ज़ौक ने भी ग़ज़ल कही थी, पर बिना इस्लाह को ग़ज़ल को मुशायरे में पढ़ने का साहस उन्हें न होता था! वे बेचैन होकर घर से निकले। शाम होते-होते जामा मसजिद जा पहुँचे। इत्तफ़ाक़ से वहीं मीरकल्लू 'हक़ीर' बैठे हुए मिले। उन्होंने देखते ही पूछा—क्यों भई, उदास क्यों हो? ख़ैरियत तो है? ज़ौक़ ने अपनी बात कह सुनाई। मीर साहब ने कहा—"ज़रा अपनी ग़ज़ल मुझे भी सुनाओ।"

ज़ौक ने ग़ज़ल कही। 'हक़ीर' ने ग़ज़ल को पसन्द करके कहा—"जाओ बेख़तर होकर मुशायरे में ग़ज़ल पढ़ो। कोई एत-राज़ करेगा तो मैं निपट लूँगा।"

ज़ौक़ ने मुशायरे में ग़ज़ल पढ़ी, जिसकी बड़ी तारीफ़ हुई।

इस घटना से दो बातें प्रकट होती हैं—एक तो यह कि उर्दू कि कविता में इस्लाह का कितना महत्त्व है, दूसरी यह कि उस समय अर्थहीन, ऊल-जलूल कविता पर लोग मुशायरे में ही एतराज़

कर बैठते थे। इन सबका फल आपको उर्दू-कविता की भाषा की सफ़ाई, मुहाविरों के इस्तेमाल और साफ़-सुथरेपन में मिलेगा।

इस गुरु-शिष्य-प्रणाली से बहुत-से बड़े-बड़े कवियों के काव्य-वंश स्थापित होगये। आज आपको उर्दू के बीसों शायर ऐसे मिल जायँगे, जिनकी गुरुपरम्परा का सिलसिला मीर, सौदा-ख़ान, आरज़ू आदि तक पहुँचता है। मामूली शायरों के लिए किसी बड़े उस्ताद की शागिर्दी की सनद, किसी 'सार्टिफ़िकेट आफ़ आनर' से कम नहीं समझी जाती। साथ ही बहुत-से उस्ताद भी ऐसे ख़ुशक़िस्मत हैं, जिनके शागिर्दों ने अपनी प्रतिभा से अपने नाम के साथ-साथ उस्ताद के नाम को भी रौशन किया है।

उर्दू-उस्तादों के शागिर्द केवल उनका नाम ही क़ायम रखते थे, बल्कि कुछ अंशों में उनकी कविता का रंग भी क़ायम रखते थे; क्योंकि वर्षों तक उस्ताद से इस्लाह लेते रहने से उनकी कविता में उस्ताद के क़लाम का काफ़ी रंग चढ़ जाता था, उनके व्यक्तित्व की छाप लग जाती थी।

खेद है कि हमारे हिन्दी-काव्य-जगत् में इस गुरु-शिष्य-प्रणाली का सर्वथा अभाव रहा है। उर्दू के छोटे-मोटे उस्ताद भी मृत्यु के समय सैकड़ों शागिर्द छोड़ जाते हैं, जो सदा उनका दम भरते हैं। मगर हिन्दी के बड़े-से-बड़े कवियों की मृत्यु के पीछे कोई उनका नामलेवा भी नहीं रह जाता! पुराने ज़माने की बात जाने दीजिए, अभी हालही में पंडित श्रीधर पाठक और पंडित सत्यनारायण कविरत्न के समान प्रकाशमान नक्षत्र हमारे काव्य-

गगन से विलीन होगये। मगर अफ़सोस कि उनका नाम जीवित रखने वाला उनका एक भी शिष्य नहीं है। उनकी कविता का रंग सदा के लिए लुप्त होगया।

हिन्दी में इस गुरु-शिष्य-प्रणाली के अभाव से हमारी कविता की भाषा में यथेष्ट स्वच्छता भी न आ सकी। प्रायः हर एक अपनी मनचाही भाषा और शब्दों का प्रयोग करता है। आज कल कविता की भाषा खड़ी बोली होगई है। मगर इस खड़ी बोली में भी लबड़-धों-धों का ऐसा बाज़ार गर्म है, जिसका कुछ ठिकाना नहीं। अनेकों स्वयंभू कवि अपनी-अपनी मनमानी कर रहे हैं। कोई संस्कृत के वंबास्टिक शब्दों को इकट्ठा कर देने का नाम ही कविता समझ रहा है, तो कोई दो काफ़ियों की चूल बिठलाकर कवि-सम्राट् बन रहा है। कोई तुक मिलाने का दर्द-सर न उठाकर 'बेतुकी' अलाप रहा है तो कोई छन्दों को ताक़ पर रख कर 'रबड़-छन्द' और 'केंचुआ-छन्दों' में वेपर को उड़ाता है। काव्य-जगत् के इस हड़बोंग से भाषा की सफाई तो क्या हो, उसकी मिट्टी ज़रूर पलीद होती है। भाषा बेचारी 'नीरव-स्वर' से 'मूक-भाषा' में बहुतेरा रोती चिल्लाती है, मगर उसपर कोई ध्यान नहीं देता। कुछ लोग हिन्दी के सीधे-साधे पुल्लिंग शब्दों को ज़नाना बनाने में और स्त्रीलिंग शब्दों को मूछँदाढ़ी वाला बनाने में व्यस्त हैं।

किसी प्रकार का नियंत्रण न रहने से आजकल तुकहीन और छन्दहीन कविता के साथ-साथ अर्थहीन क्लिष्ट-काव्य का भी

कुछ चलन-सा चल गया है। कुछ लोग कोरे शब्दों से भरी हुई अर्थहीन कविता को ही कला की पराकाष्ठा समझते हैं। कवि-सम्मेलनों में भी ऐसी रचनाएँ पढ़ी जाती हैं। कहते हैं कि एक बार एक मुशायरे में उर्दू के महाकवि ग़ालिब की मुश्किल से समझ में आनेवाली कविता पर हकीम आग़ाजान ने यह क़ि़त्ता पढ़ा था—

✓अगर अपना कहा तू आपही समझे, तो क्या समझे,
मज़ा कहने का तब है इक कहे; और दूसरा समझे।
क़लामे 'मीर' समझे और ज़बाने 'मीरज़ा' समझे,
मगर इनका कहा यह आप समझें या ख़ुदा समझे।

कहते हैं कि इसके बाद ग़ालिब ने अपनी कविता सरल कर दी थी। परन्तु आजकल हमारे हिन्दी-काव्य-जगत् में अनेक ऐसी रचनाएँ मिलेंगी, जिनके लेखक महोदय साभिमान कह सकते हैं—

✓भला वह भी कोई कविता है, जिसको सुनलिया, समझे;
नहीं है 'आर्ट' कुछ उसमें, जिसे हर बेपढ़ा समझे,
वही कविता कलामय है, जिसे आलिम तो क्या समझे!
अगर सौ बार सर मारे तो, मुश्किल से ख़ुदा समझे!

इस नये ज़माने के हिन्दी-संसार में 'इस्लाह और गुरु-शिष्य प्रणाली की बात कौन उठा सकता है? जब यार लोग तुलसीदास की ग़लतियाँ निकाल रहे हैं, केशवदास को किसी भाव में भी कवियों की श्रेणी में बिठलाने के लिए राज़ी नहीं हैं, और पिस

ज़ारी के गीतों के आगे वाल्मीकि और कालिदास को चैलेंज देते घूमते हैं (और फिर मज़ा यह कि हज़रत न वाल्मीकि को समझते हैं और न कालिदास को !!), तब भला भूमण्डल पर ऐसा कौन व्यक्ति जन्मा है जिसे वे गुरु-रूप में स्वीकार कर सकें। यहाँ तो हर एक पिद्दड़ी का यही दावा है—

इक तिफ़्ले-दबिस्ताँ है फलातूँ मेरे आगे,
क्या मुँह है अरस्तू जो करे चूँ मेरे आगे ?
बल्कि इससे भी एक हाथ बढ़कर।

फिर भला भाषा में सफाई कहाँ से आवे, प्रवाह कैसे पैदा हो, मुहाविरों के नगीने कैसे बैठें ? फल यह कि भिन्न-भिन्न लोगों की हिन्दी में सामंजस्य नहीं है। हमारे बड़े लेखकों ने साहित्य-संसार में प्रवेश करते समय भाषा की जो भूलें की थीं, आज बीस-पच्चीस वर्ष के अभ्यास के बाद भी उनकी—

वही रफ़्तार बेढंगी जो पहले थी सो अब भी है !

ख़ैर, यह तो हिन्दी-संसार का रोना है, अब उर्दू शायरी की इस्लाह को लीजिए।

इस्लाह का काम पालिश करना है। नया कवि सुन्दर-सुन्दर आभूषण तैयार करके उन्हें उस्ताद के सामने पेश करता है। उस्ताद इस्लाह के क़लम से उसपर ऐसा जिलाकर देता है कि जिसे देखकर आँखें चौंधिया जायँ! उस्ताद का यह काम नहीं है कि वह दूसरा शेर कह दे—उस आभूषण की जगह दूसरा आभूषण गढ़े। वह केवल शेर को चिकना कर उस पर पालिश कर देता है।

हज़रत 'अज़ीज़' लखनवी का कथन है कि इस्लाह की
यह है कि जब उस्ताद कोई शेर बनादे, तो फिर शेर में शाब्दिक
या आर्थिक किसी तरह की उन्नति की कमी न रहने पावे।
शब्द रख दे, वह एक तराशा हुआ हीरे का नगीना हो। ख्वाजा
आतिश ने कहा भी है—

बंदिशे अल्फ़ाज़ जड़ने से नगों के कम नहीं,
शायरी भी काम है आतिश मुरस्सा-साज़ का।

हजरत 'अज़ीज़' के कथनानुसार इस्लाह इन सिद्धान्तों
देना चाहिए—

१. शागिर्द को पहले शेर की आवश्यकताएँ बतलानी चाहिए।

२. शेर में सिर्फ़ शब्दों का परिवर्त्तन करना चाहिए,
बदलने की ज़रूरत नहीं। यदि अर्थ की दृष्टि से शेर दूषित हो,
उसे काट देना चाहिए।

३. यदि पूरे शेर या पूरे मिसरे को बदलना आवश्यक हो,
शागिर्द को आदेश देना चाहिए कि वह खुद कोशिश करे। इससे
उसकी काव्य-शक्ति बढ़ेगी।

४. जब शेर में कोई परिवर्त्तन किया जाय, तो उसका कारण
शागिर्द को समझा देना चाहिए, जिससे भविष्य में वह उस गलती
से बचे।

५. शेर को तमाम दोषों से मुक्त करके ऐसे शब्द रखने
चाहिए, जिनसे अच्छे और न हो सकें।

६. खुद शेर कहकर शागिर्द को न देना चाहिए।

चिन्ता में उसकी हिम्मत कम होती है और उसे उस्ताद पर भरोसा रखने की आदत पड़ती है।

७. 'रदीफ़' की प्रौढ़ता का इतना ध्यान रखना चाहिए कि अगर 'रदीफ़' निकाल दी जाय, तो पूरा शेर वेमानी हो जाय। इसी तरह काफ़िया केवल तुक मिलाने के लिए न हो, उससे मज़मून पैदा होना चाहिए। कोई कोई कवि मज़मून सोचने के बाद काफ़िया तलाश करते हैं, इससे शेर सुस्त हो जाता है।

८. ग़ज़ल, क़सीदा, मसनवी—इन सबकी ज़मीने भिन्न-भिन्न होती हैं। इस्लाह में यह बात भी मद्दे-नज़र रखना चाहिए।

हज़रत सफ़दर मिर्ज़ापुरी के कथनानुसार—"इस्लाह के वक्त फ़साहत (माधुर्य) बलाग़त (प्रसंगानुकूलता), ज़बान की तासीर, मुहाविरा, तरकीब बंदिश, चुस्ती, नशिस्त–अल्फ़ाज़ (शब्दों का जड़ाव), रवानी, सलासत (प्रवाह), मौज़ूनियत और अन्यान्य भीतरी तथा बाहरी बुराई और भलाई आदि सभी बातें देखी जाती हैं।"

खेद है कि पुराने शायरों की इस्लाहों का कोई संग्रह नहीं किया गया। हाल के कुछ शायरों की थोड़ी-बहुत इस्लाहें हज़रत सफ़दर ने संगृहीत की हैं। मौजूदा उस्तादों की इस्लाहें कभी-कभी 'उर्दू' 'उर्दूये मुअल्ला' आदि सामयिक पत्रों में प्रकाशित हुई हैं। इन इस्लाहों के कुछ नमूने नीचे दिये जाते है—

ख्वाजा आतिश का शेर हैं—

सख्तिये अय्याम है मेरे लिए सामाने ऐश,
संगे-दर को भी समझता हूँ मैं ज़ानू हूर का।

अर्थात् ज़माने की सख़्ती भी मेरे लिए ऐश का सामान है; दरवाज़े के पत्थर को भी मैं हूर (अप्सरा) का ज़ानू समझता हूँ।

इस पर उस्ताद मुस्हफ़ी ने इस्लाह दी—

सख्तिये अय्याम है मेरे लिए सामाने ऐश,
ख़िश्तबाली को समझता हूँ मैं ज़ानू हूर का।

'संगे-दर' (दरवाज़े के पत्थर) की जगह 'ख़िश्तबाली' क़ब्र के तकिए की जगह (सरहाने) का पत्थर बना दिया, क्योंकि 'संगेदर' की 'हूर के ज़ानू' से तुलना ठीक नहीं थी, 'ख़िश्तबाली' की उपमा बड़ी सुन्दर बैठती है।

स्वर्गीय मीर वज़ीर अली सबा, ख़्वाजा आतिश से सलाह लेने आते थे। ख़्वाजा साहब का दस्तूर था कि शागिर्द शेर पढ़ता जाता था और आप सुनकर 'हूँ' करते जाते थे। जिस शेर में कुछ परिवर्तन करना या कहना होता था, उस पर ठहर जाते थे। एक दिन सबा ने 'जल्लाद कभी' 'बेदाद कभी' इस तरह पर ग़ज़ल कहकर उस्ताद को सुनाई। जब उन्होंने यह शेर पढ़ा—

फ़स्ल गुल में मुझे कहता है कि गुल्शन से निकल,
ऐसी बेपर की उड़ाता न था सय्याद कभी।

और ख़्वाजा साहब ने इस पर भी 'हूँ' कहकर टालना चाहा तब तो मीर साहब से न रहा गया। उन्होंने कहा—"हज़रत

यह शेर मैंने खूने-जिगर खाकर कहा है। मतलब यह कि दाद दीजिये, क्योंकि कवि के शब्दों में—

✓ सरस कविन के हृदय को सालत हैं द्वै कौन !
असमझबार सराहिबो, समझबार को मौन ॥

ख्वाजा साहब ने कहा कि फ़रमाइये। सबा ने शेर पढ़ा, तो उन्होंने कहा– इसे यों बना दीजिए—

✓ पर कतरकर मुझे कहता है कि गुल्शन से निकल।
ऐसी वेपर की उड़ाता न था सय्याद कभी।

कैसी सुन्दर इस्लाह है। सबा के मिसरे में 'वेपर की उड़ाने' का सबूत न था। अब दो शब्दों के बदल जाने से शेर में कैसा सौंदर्य पैदा होगया।

रिंद का शेर है—

फिर ले चला है दिल मुझे बुतख़ाने की तरफ़,
अब साक़िनाने-काबा ! हमारा सलाम है।

इस पर ख़्वाजा आतिशने इस्लाह दी—

✓ फिर खींचती है उल्फते-बुत दैर की तरफ,
लो साकिनाने-काबा, हमारा सलाम है।

कवि कहता है कि मेरा दिल मुझे फिर बुतखाने–मूर्ति-मंदिर की ओर लिये जाता है। अब हे काबा–निवासियों (मस्जिद–निवासियों) हमारा सलाम है। दिल बुतख़ाने की तरफ़ क्यों लिए जाता है, इसका कोई कारण स्पष्ट नहीं है। उस्ताद ने इस्लाह में 'खींचती है उल्फते-बुत दैर की तरफ़' (अर्थात्, 'बुत'—मूर्ति का

प्रेम मंदिर की तरफ खींचता है) बनाकर कारण स्पष्ट कर दिया। इससे शेर चमक उठा। दूसरे मिसरे में 'अब' के स्थान पर 'लो' बनाकर 'सलाम है' के मुहाविरे को पूरा कर दिया, जिससे बयान में ख़ूबसूरती आगई।

एक दिन फ़तहउद्दौला 'बर्क़' उस्ताद नासिख़ की खिदमत में हाज़िर हुए। उस समय बर्क़ साहब इस्लाह से बरी हो चुके थे। उस्ताद ने पूछा—कहो भई, कौन नई गज़ल कही है? बर्क़ ने कहा—जी हाँ, 'बहार में', 'मज़ार में' इस तरह में एक ग़ज़ल कही है, जिसके एक शेर पर मुशायरे में बड़ी दाद मिली। उस्ताद ने कहा हमें भी सुनाओ। बर्क़ ने बड़े फ़ख़्र के साथ सुनाया—

उस गुल ने एक रात जो पहना तो बस गया,
बूये-गुलाब आती है, मोती के हार में।

उस्ताद सुनकर चुप हो गये। बर्क़ का दिल फड़क उठा। कहने लगे—हज़रत इसमें कोई नुक़्स है जो आप ख़ामोश हो गये? उस्ताद ने कहा—भई, यही सोच रहा था। अव्वल तो कोष के अनुसार 'गुलाब' शब्द के मानी अर्क़ गुल (गुलाब-जल) है, दूसरे गुलाब के फूलों का माला सिवा उन लोगों के जो किसी मंदिर या मठ के पुजारी हों, कोई और नहीं पहनता। मैंने तो किसी शरीफ़ आदमी को गुलाब के फूलों का हार पहनते नहीं देखा। इन एतराज़ों के बाद बोले—इसे इस तरह बना दीजिए

✓ उस गुल ने एक रात जो पहना तो बस गया,
बू मोतिये की आती है, मोती के हार से।

कैसी सुंदर इस्लाह है ! मोतिए (बेले) की कलियों और मोतियों की समता कैसी मौजूँ है ! यद्यपि पहला शेर भी बहुत उत्कृष्ट है ।

एक बार शेख इब्राहीम 'ज़ौक़' ने एक मुशायरे में निम्नलिखित शेर पढ़ा—

नरगिस के फूल भेजे हैं बटुये में डाल के,
ईमा यह है कि भेज दे आँखें निकाल के।

ज़ौक़ के उस्ताद शाह नसीर भी मुशायरे में उपस्थित थे। उन्होंने फ़रमाया—"मियाँ इब्राहीम, फूल बटुये में नहीं होते। यों कहो, 'नरगिस के फूल भेजे हैं दोने में डाल के ?। ज़ौक़ की तबियत की तेज़ी बहुत बढ़ी हुई थी, बोले—"हज़रत गुस्ताख़ी मुआफ़, 'दोने' में रखना होता है 'डालना' नहीं होता। ज्यादा मुनासिब तो यह होगा—

बादाम दो जो भेजे हैं बटुये में डाल के,
ईमा यह है कि भेज दे आँखें निकाल के।

रामपुर के स्वर्गीय नवाब यूसुफ़ अली ख़ाँ 'नाज़िम' का शेर है—

गर नहीं तेरी करामात तो यह क्या है साकी,
हमने सागिर को तेरे बज़्म में चलते देखा।

यानी-ऐ साक़ी ! यदि यह तेरी करामात नहीं है, तो क्या है ? क्योंकि हमने तेरी महफ़िल में (निर्जीव) प्याले को चलते देखा—

इस पर महा कवि ग़ालिब ने इस्लाह दी—

✓ है यह साक़ी की करामात कि नहीं जाम के पाँव,
और फिर सब ने उसे बज़्म में चलते देखा।

वाह-वाह क्या सुंदर इस्लाह है। साक़ी की करामात क
कैसा सुंदर सबूत पेश कर दिया। जाम के पाँव नहीं हैं, फि
भी बिना पाँव के निर्जीव पदार्थ को बज़्म में सबने चलते हु
देखा!

मौलाना हाली का शेर है—

उम्र शायद न करे आज वफ़ा,
सामना है शबे तनहाई का।

हज़रत ग़ालिब ने इस्लाह दी—

✓ उम्र शायद न करे आज वफ़ा,
काटना है शबे तनहाई का।

देखिए सिर्फ एक शब्द का 'सामना' के बजाय 'काट
कर देने से शेर कैसा ऊँचा हो गया। विरही की रात्रि का काट
ही ज्यादा मुश्किल है।

मीर नवाब मूनिस ने एक मर्सिया बड़ी मेहनत से लिख
सुप्रसिद्ध मर्सियागो 'अनीस' को दिखलाया। जब उन्होंने प्रा
काल का यह वर्णन पढ़ा—

✓ वह फूलना शफ़क का, वह मीनाये-लाजवर्द,
मख़मल-सी वह गयाह, वह गुलसब्ज़, सुर्ख़, ज़र्द।

रखती थी देखकर क़दम, अपना हवाये - सर्द,
यह ख़ौफ़ था कि दामने गुल पर पड़े न गर्द। ✗

अर्थात्—ऊषा का प्रफुल्लित होना और वह नील वर्ण आकाश रूपी प्याला। मख़मल-सी धरती, जिसपर हरे, लाल, पीले फूल खिले थे। शीतलवायु देख-देख कर पैर रखती थी, उसे डर था कि कहीं फूलों के आँचल पर गर्द न पड़ जाय।

तो अनीस ने कहा—"ज़रा ठहर जाइए।" वे चुप हो गए तो कहा—"इन चारों मिसरों में अगर कोई नुक़्स हो, तो तीन घंटे वक़्त दिया जाता है, दुरुस्त कर लीजिए।" मूनिस साहब ने पूरे तीन घंटे ग़ौर किया, पर उन्हें उसमें कोई दोष न दिखाई दिया। अन्त में जब वे हार गये, तो अनीस ने फरमाया—"तीसरे मिसरे में आप कह गये हैं—'रखती थी देखकर क़दम अपना हवाये-सर्द'। हवा के आँखें नहीं होतीं, फिर वह क्या 'देखकर' क़दम रख सकती है? इसको यों बना दीजिए—

रखती थी फूँककर क़दम अपना हवाये-सर्द,
यह ख़ौफ़ था कि दामने गुल पर पड़े न गर्द।

देखिये सिर्फ़ एक शब्द 'देख' के स्थान पर 'फूँक' रख देने से शेर ज़मीन से उठकर आसमान पर पहुँच गया। 'फूँकना' हवा के ही द्वारा होता है, और 'क़दम फूँककर रखना' मुहाविरा है शैदा लखनवी का शेर है—

देख लेंगे वह किसी तरह सरे बज़्म मुझे,
उनकी आँखों में जो तिल भर भी मुरव्वत होगी।

इस पर मीर बादशाह अली 'बक़ा' ने इस्लाह दी—

✓ देख लेंगे वह कनखियों ही से महफ़िल में मुझे,
उनकी आँखों में जो तिल भर भी मुरव्वत होगी।

'कनखियों' से देखने में एक ख़ास अदा है। भरी महफ़िल में और 'किसी तरह देखने' में भेद खुल जाने का डर है।

हज़रत 'ज़ाहिद' सहारन पुरी का शेर है—

गया जो वक्त़ उसे समझो गया, फिर कर नहीं आता,
न पाओगे, न पाओगे, कहीं देखो, कहीं ढूँढ़ो।

इस पर स्वर्गीय अमीर मीनाई ने इस्लाह दी—

गया जो वक्त़ वह फिर कर नहीं आता, नहीं आता,
न पाओगे, न पाओगे, कहीं देखो, कहीं ढूँढ़ो।

दूसरे मिसरे में 'न पाओगे' दोहराया गया है, अतः पहले मिसरे में 'नहीं आता' दोहराना बहुत ही सुंदर और उचित हुआ।

हज़रत 'ज़ाहिद' का दूसरा शेर है—

साक़िया लाख पिला जाय पसे जाम शराब,
न मिटेगी, न मिटेगी हविसे जाम शराब।

इसे 'अमीर' साहब ने यों बनाया—

साक़िया लाख पिला जाम पसे जाम शराब,
न मिटो है न मिटेगी हविसे जाम शराब।

'न मिटेगी' से केवल भविष्यत् काल प्रकट होता है, अब भूत और भविष्यत्, दोनो ही की बात साफ़ हो जाती

हज़रत 'बरहम' का शेर है—

बहुत क़रीब मगर है बहार का मौसम,
कली-कली मेरे दामन की मुस्कराती है।

हज़रत अमीर ने केवल एक शब्द के हेर-फेर से इस शेर में वह खूबी पैदा कर दी, जो बयान से बाहर है।

बहुत क़रीब है शायद बहार का मौसम,
कली-कली मेरे दामन की मुस्कराती है।

'महवी' लखनवी का शेर है—

क़यामत है दिले मज़लूम की आह,
गुज़र जाती है ज़ालिम आस्माँ से।

अर्थात्—अत्याचार पीड़ित के दिल की आह एक दम क़यामत के समान होती है, वह ज़ालिम आह आस्मान से गुज़र जाती है। इस पर मुंशी अहमदअली 'शोक़' ने इस्लाह दी—

क़यामत है दिले मज़लूम की आह,
कहाँ पहुँची गुज़र कर आस्माँ से!

'कहाँ पहुँची' ने शेर का अर्थ अनंत कर दिया। दीन-दुखी की आह के पहुँचने की कोई सीमा नहीं रक्खी। बड़ी सुन्दर इस्लाह है।

हैदराबाद-दक्षिण के स्वर्गीय निज़ाम का 'मतला' है—

चेहरे से उनके रंग जो टपका अताब का,
क्या हो चला है रंग गुलाबी नक़ाब का।

यानी किसी माशूक़ के चेहरे से अताब गुस्से का जो रंग

टपका, उससे उसकी नक़ाब का रंग गुलाबी होने लगा। इस प
स्वर्गीय 'दाग़' की इस्लाह सुनिए—

छिपता नहीं छिपाये से चेहरा अताब का,
होता चला है रंग गुलाबी नक़ाब का।

कैसी उस्तादाना इस्लाह है। इसने मतले की ख़ूबी को सैकड़
गुना बढ़ा दिया, क्रोध का चेहरा छिपाये नहीं छिपता, उसक
सबूत यह मौजूद है कि नकाब का रंग गुलाबी हो चला है! क
बारीकी पैदा कर दी!

'मदाह' फफूँदवी का शेर है—

छेड़ तो देखो अगर होता हूँ मैं सायल कभी,
वो यह कहते हैं कि कोई दूसरा घर देखिये।

प्रेमी कहता है कि उसकी छेड़ख़ानी तो देखिए, जब मैं प्रा
होता हूँ, तो कहता है कि कोई दूसरा घर देखो! इस पर ख़्वा
निज़ाम क़ादरी की इस्लाह है—

छेड़ तो देखो अगर होता हूँ मैं सायल कभी,
हँस के फ़रमाते हैं कोई दूसरा घर देखिये।

'हँस के फरमाने' में क्या शोख़ी पैदा कर दी है, और छे
के साथ शोख़ी का होना बहुत ज़रूरी है।

'आग़ा शायर' देहलवी का शेर है—

इस रंग से हो कुफ़्र-परस्ती तो ख़ूब है,
ज़ुन्नार डालिए तेरे फूलों के हार का।

यानी यदि इस प्रकार से कुफ़्र-परस्ती (पाखंड पूजा) हो

ख़ूब है कि तेरे फूलों के हार का जनेऊ डालें। इस पर हज़रत 'नश्तर' जलंधरी की इस्लाह है—

✓ इस रंग से हो कुफ़्रपरस्ती तो गुल खिलें,
जुन्नार हाथ आये किसी गुल के हार का।

इस्लाह में मज़मून वही बना रहा, मगर शब्दों ने कैसा चमत्कारिक सौंदर्य पैदा कर दिया। 'गुल खिलें' ने सचमुच गुल खिला दिये।

'ग़नी' इलाहाबादी का शेर है—

फ़स्ल-गुल आने तो दो फ़स्ले-बहार आने तो दो,
ख़ुद-बख़ुद खुल जायँगी कड़ियाँ मेरी जंज़ीर की।

इसपर नाख़ुदाये सख़ुन 'नूह' नारवी ने इस्लाह दी—

फ़स्ल-गुल आने तो दो फ़स्ले ख़िज़ाँ जाने तो दो,
ख़ुद-बख़ुद खुल जायँगी कड़ियाँ मेरी जंज़ीर की।

'ग़नी' साहब के शेर में 'फ़स्ल-गुल' और 'फ़स्ले-बहार'—एक ही चीज़ का दोबार ज़िक्र है, इसलिए 'फ़स्ले-ख़िज़ाँ जाने तो दो' बना दिया। साथ ही 'आने' के लिये 'जाने' की भी ज़रूरत पूरी हो गई। बड़ी अच्छी इस्लाह है।

श्री सुखदेवप्रसाद सिनहा 'बिस्मिल' इलाहाबादी का शेर है—

वह शमअ न थी वह बज़्म न थी, वह रौनक़े अहले बज़्म न थे;
इक याद दिलाने की ख़ातिर अंबार परे-परवाना था।

इसपर हज़रत नूह ने इस्लाह दी—

वह शमअ न थी वह बज़्म न थी, सुबह को अहले बज़्म न थे,

बस याद दिलाने की ख़ातिर अंबार परे-परवाना था।

दोनों मिसरों में परिवर्त्तन करने से शेर निराशा का बन गया है। 'बिस्मिल' साहब कहते हैं—वह मोमबत्ती न वह महफ़िल न थी, महफ़िल की रौनक़ बढ़ानेवाले वे सा थे, इक याद दिलाने के लिए पतिंगों के परों का ढेर था। साहब ने 'सुब्ह' को बिठला कर रात के जमघटों का अ प्रत्यक्ष कर दिया। उस्तादाना इस्लाह इसी का नाम है।

बिस्मिल का दूसरा शेर है—

समझ का फेर है इसको क़ज़ा कहने लगी दुनिया,
गिरह जब खुल गई तरकीब अजज़ाये परीशाँ की।

अर्थात् समझ का फेर है कि संसार इसे मृत्यु कहने जब तरकीब से बँधे हुए शरीर के परमाणुओं की गाँठ खुल इस पर 'नूह' साहब की इस्लाह है—

समझ का फेर था इसको क़ज़ा कहने लगी दुनिया
गिरह जब खुल गई तरकीब अजज़ाये परीशाँ की।

'कहने लगी' भूत काल है, इसलिए 'समझ का फेर है' स्थान में 'समझ का फेर था' कर दिया। निस्संदेह बि साहब का यह शेर बड़े ऊँचे दर्जे का है, मगर है यह चकबस्त के निम्नलिखित सुप्रसिद्ध शेर का भावापहरण, मात्र—

✓ज़िंदगी क्या है, अनासिर में ज़हूरे तरकीब,
मौत क्या है, इन्हीं अजज़ा का परीशाँ होना।

अर्थात् जीवन क्या है, शरीर के परमाणुओं में सुश्रृङ्खलता का प्रकट होना और मृत्यु क्या है इन्हीं का विश्रृङ्खल होना !

बिस्मिल साहब का एक शेर और है—

सय्याद से यह कहती है उकता के अन्दलीब,
कर दे क़फ़स में बंद हवाए-बहार को।

अर्थात् बुलबुल सय्याद से उकता कर कहती है कि पिंजड़े में बसन्ती वायु का आना बन्द कर दे। इसपर इस्लाह दी गई—

✓सय्याद से यह कहती है घबरा के अन्दलीब,
कर दे क़फ़स में बन्द हवाए-बहार को।

इस स्थान पर उकताना ठीक नहीं था, घबराना ही बहुत चुस्त होता है।

बाबू प्यारे मोहन 'आजिज़' का शेर है—

क्यों करें ग़म अबस किसी के लिए,
मौत है एक दिन सभी के लिए।

इस पर शाह शाहिद अली फ़ानी सब्ज़पोश की इस्लाह है—

कहते हैं रोयें क्यों किसी के लिए,
मौत है एक दिन सभी के लिए,

इस इस्लाह से शेर में रवानी पैदा हो गई।

उपर्युक्त इस्लाहों से पाठकों को इस बात का कुछ पता चल

जायगा कि इस्लाह से कविता में कितना सौन्दर्य पैदा हो सकता है, भाषा में कितनी प्रौढ़ता आसकती है, मुहाविरों के नगीने कैसे जड़े जा सकते हैं और ज़बान में कैसी रवानी और सफ़ाई पैदा की जा सकती है।

उर्दू कविता में इस्लाह

उर्दू नाम वहुत नया है। सचमुच 'मुसलमानी हिन्दी' भी हिन्दी ही की एक विशेष शैली है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता लाख रंग बदलने पर भी नहीं मानी जा सकती। किसी भाषा का पृथक् व्यक्तित्व निजके सर्वनाम, संख्या, अव्यय और क्रियापद पर अवलम्बित होता है। उर्दू के ये अङ्ग अपने नहीं हिन्दी के हैं। इसलिए उर्दू की अलग कोई हस्ती नहीं।

अपभ्रंश भारतीय साहित्य के आसन से उठ गई थी। स्थान-स्थान की बोलियाँ तो थीं ही, उन्हीं में से जिसे जैसा संयोग मिला वह वैसा ही सार्व-भौम या खण्ड-राज्य करने लगी। उन्हीं में से एक ब्रजभाषा थी जो कुछ तो अपनी भक्ति और कुछ शक्ति से काव्यपुरुष का पल्ला पकड़ चारो खूँट घूम आई, पर उसी की पड़ोसिन खड़ी बोली जहाँ की तहाँ खड़ी रहती अगर मुसलमान शासक उसका हाथ धर अपने साथ न खींच ले गये होते। मुसलमानों के संसर्ग से उसके पाँव तो निकले; पर वह अछूती न रह सकी।

उसने तेज़ी से अपना लिबास ही नहीं तबीअत भी बदलना शुरू किया। नतीजा यह हुआ कि वह अमीर खुसरो की 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' न रह कर नासिख़ की उर्दू बी बन बैठी। हिन्दी की परम्परा से विच्युत हो जाने के कारण संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के बहुत से चलते प्रयोग उससे उठ गये या क़सदन उठा दिये गये और उनका पद अधिकतर फ़ारसी मुहाविरों ने लिया। भला हो बेचारी उन ग्रामीण बोलियों का जो अब तक वैदिक काल तक के मुहाविरे जिला रही हैं! यदि यह परम्परा न टूटती तो अरबी फ़ारसी के ये निहङ्ग लाड़ले उसमें न घुस पड़ते और हिन्दी भी आज से सैकड़ों वर्ष पहले वैसी ही परिष्कृत और परिमार्जित हो गई होती जैसे उसकी वृद्धप्रपितामही संस्कृत हुई थी या जैसी वह स्वयं आज माई के लालों की बदौलत हुई है।

सँवार और निखार कुछ उर्दू के ही हिस्से की चीज़ नहीं, सभी सुसंस्कृत भाषायें एक समय संस्कृत होकर इसी प्रकार सँवरती सुधरती हैं।

हाँ,! हिन्दी के उन लेखकों को इस लेख से शिक्षा लेनी चाहिये जो भाषा को या तो घर की मुर्गी समझते हैं या आजकल दिमाग़ पर चढ़े अंग्रेजी मुहाविरों का अबोधपूर्वक मानसिक अनुवाद कर कर के हिन्दी का कलेवर पीवर बना रहे हैं। ऐसों के लिए इस्लाह या रुकावट की भारी ज़रूरत है। आजकल की उर्दू भी हिन्दी से अधिक इस दोष से दूषित है। किसी भाषा की पुष्टि या विकास, परिमार्जन या संस्कार, सात्म्य या सहज उपादानों से ही होता है, उधार लिये गये पराये टुकड़ों से नहीं।

हिन्दी कविता की प्रगति के संबन्ध में वर्माजी के विचार कुछ संदिग्ध और कुछ अब पुराने पड़ गये हैं। हिन्दी में अब उच्चकोटि की कविता

ऐसे नमूने मिलते हैं जो किसी उन्नत साहित्य के काव्यों के साथ एकासनासीन हो सकते हैं।

भाषा इस लेख की विषयानुरूप, अतः मिश्रित है। पर शैली की प्राञ्जलता के कारण ऐसी प्रवाहमय और गत्वर है कि पढ़ते-पढ़ते समा बँध जाता है।

ग़बन

महाशय दयानाथ जितनी उमंगों से व्याह करने गए थे, उतना ही हतोत्साह होकर लौटे। दीनदयाल ने खूब दिया, लेकिन वहाँ से जो कुछ मिला, वह सब नाचतमाशे नेग-चार में खर्च हो गया। बार-बार अपनी भूलपर पछताते, क्यों दिखावे और तमाशे में इतने रुपये ख़र्च किए। इसकी ज़रूरत ही क्या थी? ज्यादा-से-ज्यादा लोग यही तो कहते—महाशय बड़े कृपण हैं। उतना सुन लेने में क्या हानि थी। मैंने गाँववालों को तमाशा दिखाने का ठीका तो नहीं लिया था। यह सब रमा का साहस है। उसी ने सारे खर्च बढ़ा-चढ़ा-कर मेरा दिवाला निकाल दिया। और सब तक़ाज़े तो दस-पाँच दिन टल भी सकते थे पर सराफ़ किसी तरह न मानता था। शादी के सातवें दिन उसे एक हज़ार रुपए देने का वादा था। सातवें दिन सराफ़ आया,

मगर यहाँ रुपए कहाँ थे ? दयानाथ में लल्लो-चप्पो की आदत न थी, मगर आज उन्होंने उसे चकमा देने की कोशिश की। किस्त बाँधकर सब रुपये छः महीने में अदा कर देने का वादा किया और कहा कि फिर तीन महीने पर आए। मगर सर्राफ़ भी एक ही घुटा हुआ आदमी था, उसी वक्त टला, जब दयानाथ ने तीसरे दिन बाकी रक़म की चीजें लौटा देने का वादा किया और यह भी उसकी सज्जनता ही थी। वह तीसरा दिन भी आगया और अब दयानाथ को अपनी लाज रखने का कोई उपाय न सूझता था। कोई चलता हुआ आदमी शायद इतना व्यग्र न होता, हीले-हवाले करके महाजन को महीनों टालता रहता, लेकिन दयानाथ इस मामले में अनाड़ी थे।

जागेश्वरी ने आकर कहा—भोजन कब से बना ठंडा हो रहा है। खाकर तब बैठो।

दयानाथ ने इस तरह गर्दन उठाई, मानों सिर पर सैकड़ों मन का बोझ लदा हुआ है। बोले—तुम लोग जाकर खालो, मुझे भूख नहीं है।

जागेश्वरी—भूख क्यों नहीं है, रात में भी तो कुछ नहीं खाया था ? इस तरह दाना-पानी छोड़ देने से महाजन के रुपये थोड़े ही अदा हो जाएँगे ?

दयानाथ—मैं सोचता हूँ, उसे आज क्या जवाब दूँगा। मैं तो यह विवाह करके बुरा फँस गया। बहू कुछ गहने लौटा तो देगी ?

जागेश्वरी—बहू का हाल तो सुन चुके, फिर भी उससे
आशा रखते हो। उसकी टेक है कि जब तक चन्द्रहार न
जायगा, कोई गहना ही न पहनूँगी। सारे गहने सन्दूक में
कर रक्खे हैं। बस वही एक बिल्लौरी हार गले में डाले हुए।
बहुएँ बहुत देखी; पर ऐसी बहू न देखी थी। फिर, कितना
मालूम होता है कि कल की आई बहू, उससे गहने छीन लिए

दयानाथ ने चिढ़कर कहा—तुम तो जले पर नमक छिड़
हो, बुरा मालूम होता है, तो लाओ एक हज़ार निकाल कर दे
महाजन को दे आऊँ, देती हो? बुरा मुझे खुद मालूम होता
लेकिन उपाय क्या है? गला कैसे छूटेगा?

जागेश्वरी—बेटे का व्याह किया है कि ठट्ठा है? शादी
में सभी क़र्ज लेते हैं, तुमने कोई नई बात नहीं की। खाने-पह
के लिए कौन क़र्ज लेता है। धर्मात्मा बनने का कुछ फल मि
चाहिए या नहीं? तुम्हारे ही दर्जे पर सत्यदेव हैं, पक्का मक
खड़ा कर दिया, ज़मींदारी ख़रीद ली, बेटी के व्याह में कुछ
तो पाँच हज़ार तो ख़र्च किए ही होंगे!

दयानाथ—जभी दोनों लड़के भी तो चल दिए!

जागेश्वरी—मरना-जीना तो संसार की गति है, लेते हैं
भी मरते हैं, नहीं लेते वह भी मरते हैं। अगर तुम चाहो
छः महीने में सब रुपए चुका सकते हो।

दयानाथ ने त्योरी चढ़ाकर कहा—जो बात ज़िन्दगी-भर
को, वह अब आख़िरी वक्त नहीं कर सकता। बहू से साफ़

कह दो, उससे परदा रखने की जरूरत ही क्या है और पर्दा रह ही कै दिन सकता है। आज नहीं तो कल उसे सारा हाल मालूम ही हो जायगा। बस तीन-चार चीजें लौटा दे, तो काम बन जाय। तुम उससे एक बार कहो तो।

जागेश्वरी झुँझलाकर बोली—उससे तुम्हीं कहो, मुझसे तो न कहा जायगा।

सहसा रमानाथ टैनिस-रैकिट लिए बाहर से आया, सफ़ेद टैनिस शर्ट था, सफ़ेद पतलून, केनवस का जूता, गोरे रंग और सुन्दर मुखाकृति पर इस पहनावे ने रईसों की शान पैदा कर दी थी। रूमाल में बेले के गजरे लिए हुए था। उससे सुगन्धि उड़ रही थी। माता-पिता की आँखें बचाकर वह जीने पर जाना चाहता था, कि जागेश्वरी ने टोका, इन्हीं के तो सब काँटे बोए हुए हैं, इनसे क्यों नहीं सलाह लेते? (रमा से) तुमने नाच-तमाशे में बारह-तेरह सौ रुपए उड़ा दिए, बतलाओ सराफ़ को क्या जवाब दिया जाय? बड़ी मुशकिलों से कुछ गहने लौटाने पर राज़ी हुआ; मगर बहू से गहने माँगे कौन? यह सब तुम्हारी ही करतूत है।

रमानाथ ने इस आक्षेप को अपने ऊपर से हटाते हुए कहा—मैंने क्या ख़र्च किया? जो कुछ किया बाबूजी ने किया। हाँ, जो कुछ मुझसे कहा गया, वह मैंने किया।

रमानाथ के कथन में बहुत कुछ सत्य था। यदि दयानाथ की इच्छा न होती, तो रमा क्या कर सकता था? जो कुछ हुआ,

उनकी अनुमति से हुआ। रमानाथ पर इल्ज़ाम रखने से तो यह समस्या हल न हो सकती थी। बोले—मैं तुम्हें इल्ज़ाम नहीं देता भाई। किया तो मैंने ही; मगर यह बला तो किसी तरह सिर से टालनी चाहिए। सराफ़ का तक़ाज़ा है। कल उसका आदमी आवेगा। उसे क्या जवाब दिया जायगा? मेरी समझ में तो यही एक उपाय है कि उतने रुपए के गहने उसे लौटा दिए जायँ। गहने लौटा देने में भी वह झंझट करेगा, लेकिन दस-बीस रुपये के लोभ में लौटाने पर राज़ी हो जायगा। तुम्हारी क्या सलाह है?

रमानाथ ने शरमाते हुए कहा—मैं इस विषय में क्या सलाह दे सकता हूँ, मगर मैं इतना कह सकता हूँ कि इस प्रस्ताव को वह खुशी से मंजूर न करेगी। अम्मा तो जानती हैं कि चढ़ावे में चन्द्रहार न जाने से उसे कितना बुरा लगा था। प्रण कर लिया है, जब तक चन्द्रहार न बन आएगा, कोई गहना न पहनूँगी।

जागेश्वरी ने अपने पक्ष का समर्थन होते देख, खुश होकर कहा—यही तो मैं इनसे कह रही हूँ।

रमा—रोना-धोना मच जायगा और इसके साथ घर का पर्दा भी खुल जायगा।

दयानाथ ने माथा सिकोड़ कर कहा—उससे परदा रखने की ज़रूरत ही क्या। अपनी यथार्थ स्थिति को वह जितनी ही जल्दी समझ ले उतना ही अच्छा।

रमानाथ ने जवानों के स्वभाव के अनुसार जालपा से खूब डींग उड़ाई थी। खूब बढ़-बढ़ कर बातें की थीं। ज़मींदारी

उससे कई हज़ार का नफा है। बैंक में रुपये हैं, उनका सूद आता है। जाल्पा से अब अगर गहने की बात कही गई, तो रमानाथ को वह पूरा लबाड़िया समझेगी। बोला–पर्दा तो एक दिन खुलही जायगा, पर इतनी जल्द खोल देने का नतीजा यही होगा कि वह हमें नीच समझने लगेगी। शायद अपने घरवालों को भी लिख भेजे। चारों तरफ़ बदनामी होगी।'

दयानाथ—हमने तो दीनदयाल से यह कभी न कहा था कि हम लखपती हैं ?

रमा०—तो आपने यही कब कहा था कि हम उधार गहने लाए हैं और दो-चार दिन में लौटा देंगे। आखिर यह सारा स्वाँग अपनी धाक बैठाने के लिए ही किया था या कुछ और ?

दया०—तो फिर किसी दूसरे बहाने से माँगना पड़ेगा। बिना माँगे काम नहीं चल सकता। कल या तो रुपए देने पड़ेंगे, या गहने लौटाने पड़ेंगे। और कोई राह नहीं।

रमानाथ ने कोई जवाब न दिया। जागेश्वरी बोली–और कौन-सा बहाना किया जायगा ? अगर कहा जाय, किसी को मँगनी देना है, तो शायद वह देगी नहीं। देगी भी तो दो चार दिन में लौटायेंगे कैसे ?

दयानाथ को एक उपाय सूझा। बोले—अगर उन गहनों के बदले मुलम्मे के गहने दे दिए जायँ ? मगर तुरन्त ही उन्हें ज्ञात हो गया कि यह लचर बात है, खुद ही उसका विरोध करते हुए कहा–हाँ बाद को जब जब मुलम्मा उड़ जायगा तो फिर लज्जित होना

पड़ेगा। अक्ल कुछ काम नहीं करती। मुझे तो यही सूझता है, कि सारी स्थिति उसे समझा दी जाय। ज़रा देर के लिए उसे दुःख तो ज़रूर होगा, लेकिन आगे के वास्ते रास्ता साफ हो जायगा।

संभव था, जैसा दयानाथ का विचार था, कि जालपा रो-धोकर शांत हो जायगी; पर रमा की इसमें किरकिरी होती थी। फिर वह मुँह न दिखा सकेगा। जब वह उससे कहेगी, तुम्हारी ज़मींदारी क्या हुई? बैंक के रुपए क्या हुए, तो उसे क्या जवाब देगा? विरक्त भाव से बोला—इसमें बेइज़्ज़ती के सिवा और कुछ न होगा। आप क्या सराफ़ को दो चार छः महीने नहीं टाल सकते? आप देना चाहें, तो इतने दिनों में हजार-बारह सौ रुपए बड़ी आसानी से दे सकते हैं।

दयानाथ ने पूछा—कैसे?

रमा०—उसी तरह जैसे आपके और भाई करते हैं।

दया०—वह मुझसे नहीं हो सकता।

तीनों कुछ देर तक मौन बैठे रहे। दयानाथ ने अपना फैसला सुना दिया। जागेश्वरी और रमा को यह फैसला मंजूर न था, इसलिए अब इस गुत्थी को सुलझाने का भार उन्हीं दोनों पर था। जागेश्वरी ने भी एक तरह से निश्चय कर लिया था। दयानाथ को झख मारकर अपना नियम तोड़ना पड़ेगा। यह कहाँ की नीति है कि हमारे ऊपर संकट पड़ा हुआ हो और हम, अपने नियमों का राग अलापे जायँ। रमानाथ बुरा तरह फँसा था। वह जानता था कि पिताजी ने जो काम कभी नहीं किया, वह

न करेंगे। उन्हें जालपा से गहने माँगने में कोई संकोच न होगा और यही वह न चाहता था। वह पछता रहा था कि मैंने क्यों जालपा से डींगें मारीं। अब अपने मुँह की लाली रखने का सारा भार उसी पर था। जालपा की अनुपम छवि ने पहले ही दिन उसपर मोहिनी डाल दी थी। वह अपने सौभाग्य पर फूला न समाता था। क्या वह घर ऐसी अनन्य सुन्दरी के योग्य था? जालपा के पिता पाँच रुपए के नौकर थे; पर जालपा ने कभी अपने घर में झाड़ू न लगाई थी। कभी अपनी धोती न छाँटी थी। अपना बिछावन न बिछाया था। यहाँ तक कि अपनी धोती की खोंप तक न सी थी। दयानाथ पचास रुपया पाते थे; पर यहाँ केवल चौका बासन करने के लिए महरी थी। बाकी सारा काम अपने ही हाथों करना पड़ता था। जालपा शहर और देहात का फर्क क्या जाने। शहर में रहने का उसे कभी अवसर ही न पड़ा था। वह कई बार पति और सास से साश्चर्य पूछ चुकी थी, क्या यहाँ कोई नौकर नहीं है? जालपा के घर दूध-दही घी की कमी नहीं थी। यहाँ बच्चों को भी दूध मयस्सर न था। इन सारे अभावों की पूर्ति के लिए रमानाथ के पास मीठी-मीठी बड़ी-बड़ी बातों के सिवा और क्या था। घर का किराया पाँच रुपया था। रमानाथ ने पन्द्रह बतलाए थे, लड़कों की शिक्षा का खर्च मुश्किल से दस रुपये थे, रमानाथ ने चालीस बतलाए थे। उस समय उसे इसकी जरा भी शंका न थी, कि एक दिन सारा भण्डा फूट जायगा। मिथ्या दूरदर्शी नहीं होता, लेकिन वह दिन इतनी

जल्दी आएगा यह कौन जानता था। अगर उसने ये डींगें न मारी होतीं, तो जागेश्वरी की तरह वह भी सारा भार दयानाथ पर छोड़ कर निश्चिंत हो जाता, लेकिन इस वक्त वह अपने ही बनाए हुए जाल में फँस गया था। कैसे निकले ?

उसने कितने ही उपाय सोचे, लेकिन कोई ऐसा न था, जो आगे चलकर उसे उलझनों में न डाल देता, दलदल में न फँसा देता। एकाएक उसे एक चाल सूझी। उसका दिल उछल पड़ा; पर इस बात को वह मुँह तक न ला सका। ओह ! कितनी नीचता है। कितना कपट, कितनी निर्दयता। अपनी प्रेयसी के साथ ऐसी धूर्तता ! उसके मन ने उसे धिक्कारा। अगर इस वक्त उसे कोई एक हजार रुपया दे देता, तो वह उसका उम्र-भर के लिए गुलाम हो जाता।

दयानाथ ने पूछा—कोई बात सूझी ?

'मुझे तो कुछ नहीं सूझता।'

'कोई उपाय सोचना ही पड़ेगा।'

'आप ही सोचिए, मुझे तो कुछ नहीं सूझता।'

'क्यों नहीं उससे दो-तीन गहने माँग लेते ? तुम चाहो, तो ले सकते हो। हमारे लिए मुश्किल है।'

'मुझे शर्म आती है।'

'तुम विचित्र आदमी हो, न खुद माँगोगे न मुझे माँगने दोगे तो आखिर यह नाव कैसे चलेगी ? मैं एक बार, हज़ार बार कह चुका कि मुझसे कोई आशा मत रक्खो। मैं अपने आखिरी दिन

जेल में नहीं काट सकता। इसमें शर्म की क्या बात है, मेरी समझ में नहीं आता। किसके जीवन में ऐसे कुअवसर नहीं आते ? तुम्हीं अपनी माँ से पूछो।'

जागेश्वरी ने अनुमोदन किया—मुझसे तो नहीं देखा जाता था कि अपना आदमी चिंता में पड़ा रहे, मैं गहने पहने बैठी रहूँ। नहीं तो आज मेरे पास भी गहने न होते ? एक-एक करके सब निकल गए। विवाह में पाँच हजार से कम का चढ़ाव नहीं गया था, मगर पाँच ही साल में सब स्वाहा हो गया। तब से एक छल्ला बनवाना भी न नसीब हुआ।

दयानाथ जोर देकर बोले—शर्म करने का यह अवसर नहीं है। इन्हें माँगना पड़ेगा।

रमानाथ ने झेंपते हुए कहा—मैं माँग तो नहीं सकता, कहिए उठा लाऊँ।

यह कहते-कहते लज्जा, क्षोभ और अपनी नीचता के ज्ञान से उसकी आँखें सजल हो गईं।

दयानाथ ने भौंचक्के होकर कहा—उठा लाओगे उससे छिपा कर ?

रमानाथ ने तीव्र कण्ठ से कहा—और आप क्या समझ रहे हैं ?

दयानाथ ने माथे पर हाथ रख लिया, और एक क्षण के बाद आहत कण्ठ से बोले—नहीं, मैं ऐसा नहीं करने दूँगा। मैंने जाल कभी नहीं किया, और न कभी करूँगा। वह भी अपनी बहू के

साथ ? छिः छिः जो काम सीधे से चल सकता है, उसके लिए यह फरेब ? कहीं उसकी निगाह पड़ गई, तो समझते हो, वह तुम्हें दिलमें क्या समझेगी ? माँग लेना इससे कहीं अच्छा है।

रमा०—आपको इससे क्या मतलब । मुझसे चीज़ें ले लीजिएगा, मगर जब आप जानते थे, यह नौबत आएगी, तो इतने जेवर ले जाने को ज़रूरत ही क्या थी ? व्यर्थ की विपत्ति मोल ली ! इससे कई लाख गुना अच्छा था, कि आसानी से जितना ले जा सकते, उतना ही ले जाते । उस भोजन से क्या लाभ कि पेट में पीड़ा होने लगे । मैं तो समझ रहा था कि आपने कोई मार्ग निकाल लिया होगा । मुझे क्या मालूम था कि आप मेरे सिर यह मुसीबतों की टोकरी पटक देंगे । वरना मैं उन चीज़ों को कभी न ले जाने देता ।

दयानाथ कुछ लज्जित होकर बोले—इतने पर भी केवल चन्द्रहार न होने से, वहाँ हाय-तोबा मच गई ।

रमा०—उस हाय-तोबा से हमारी क्या हानि हो सकती थी। जब इतना करने पर भी हाय-तोबा मच गई तो मतलब भी तो न पूरा हुआ । उधर बदनामी हुई, इधर यह आफ़त सिर पर आई । मैं यह नहीं दिखाना चाहता कि हम इतने फटे-हाल हैं। चोरी हो जाने पर तो सब्र करना ही पड़ेगा ।

दयानाथ चुप हो गए । उस आवेश में रमा ने उन्हें खूब खरी-खरी सुनाई और वह चुपचाप सुनते रहे । आखिर जब न सुना गया, तो उठकर पुस्तकालय चले गए । यह उनका नित्य का

नियम था। जब तक दो-चार पत्र-पत्रिकाएँ न पढ़ लें उन्हें खाना न हज़म होता था। उसी सुरक्षित गढ़ी में पहुँच कर घर की चिन्ताओं और बाधाओं से उनकी जान बचती थी।

रमा भी वहाँ से उठा, पर जालपा के पास न जाकर अपने कमरे में गया। उसका कोई कमरा अलग तो था नहीं, एक ही मर्दाना कमरा था, इसी में दयानाथ अपने दोस्तों से गपसप करते, दोनों लड़के पढ़ते, और रमा मित्रों के साथ शतरंज खेलता। रमा कमरे में पहुँचा, तो दोनों लड़के ताश खेल रहे थे। गोपी का तेरहवाँ साल था। विश्वम्भर का नवाँ। दोनों रमा से थरथर काँपते थे। रमा खुद खूब ताश और शतरंज खेलता; पर भाइयों को खेलते देख कर उसके हाथ में खुजली होने लगती थी। खुद चाहे दिन भर सैर-सपाटे किया करे; मगर क्या मजाल कि भाई कहीं घूमने निकल जायँ। दयानाथ खुद लड़कों को कभी न मारते थे। अवसर मिलता, तो उनके साथ खेलते थे। उन्हें कनकौवे उड़ाते देखकर उनकी बाल-प्रकृति सजग हो जाती थी। दो-चार पेंच लड़ा देते। बच्चों के साथ कभी-कभी गुल्ली-डंडा भी खेलते थे। इसलिए लड़के जितना रमा से डरते उतना ही पिता से प्रेम करते थे।

रमा के देखते ही लड़कों ने ताश को टाट के नीचे छिपा दिया और पढ़ने लगे। सिर झुकाए चपत की प्रतीक्षा कर रहे थे; पर रमानाथ ने चपत नहीं लगाई। मोढ़े पर बैठ कर गोपीनाथ से बोला—तुमने भंग की दुकान देखी है न, नुक्कड़ पर ?

गोपीनाथ प्रसन्न होकर बोला—हाँ देखी क्यों नहीं ?

'जाकर चार पैसे का माजून ले लो, दौड़े हुए आना हाँ! हलवाई की दूकान से आध सेर मिठाई भी लेते आना। यह रुपया लो।'

कोई १५ मिनट में रमा ये दोनों चीज़े ले, जालपा के कमरे की ओर चला।

रात के दस बज गए थे। जालपा खुली हुई छत पर लेटी हुई थी। जेठ की सुनहरी चाँदनी में सामने फैले हुए नगर के कलस, गुम्बज और वृक्ष स्वप्न-चित्रों से लगते थे। जालपा की आँखें चन्द्रमा की ओर लगी हुई थीं। उसे ऐसा मालूम हो रहा था मैं चन्द्रमा की ओर उड़ी जा रही हूं। उसे अपनी नाक में खुश्की, आँखों में जलन और सिर में चक्कर मालूम हो रहा था। कोई बात ध्यान में आते ही भूल जाती, और बहुत याद करने पर भी याद न आती थी। एक बार घर की याद आ गई, रोने लगी। एक ही क्षण में सहेलियों की याद आ गई, हँसने लगी। सहसा रमानाथ हाथ में एक पोटली लिए, मुसकिराता हुआ आया और चारपाई पर बैठ गया।

जालपा ने उठकर पूछा—पोटली में क्या है ?

रमा०—बूझ जाओ तो जानूँ।

जालपा—हँसी का गोलगप्पा है, (यह कहकर हँसने लगी)

रमा०—ग़लत।

जालपा—नींद की गठरी होगी।

रमा०—ग़लत ।

जालपा—तो प्रेम की पिटारी होगी ।

रमानाथ—ठीक । आज मैं तुम्हें फूलों की देवी बनाऊँगा ।

जालपा खिल उठी, रमा ने बड़े अनुराग से उसे फूलों के गहने पहनाने शुरू किए, फूलों के शीतल कोमल स्पर्श से, जालपा के कोमल शरीर में गुदगुदी-सी होने लगी । उन्हीं फूलों की भाँति उसका एक-एक रोम प्रफुल्लित हो गया ।

रमा ने मुसकिराकर कहा-कुछ उपहार ?

जालपा ने कुछ उत्तर न दिया । इस वेश में पति की ओर ताकते हुए भी उसे संकोच हुआ । उसकी बड़ी इच्छा हुई कि ज़रा आइने में अपनी छवि देखे । सामने कमरे में लैंप जल रहा था, वह उठ कर कमरे में गई, और आइने के सामने खड़ी हो गई । नशे की तरंग में उसे ऐसा मालूम हुआ कि मैं सचमुच फूलों की देवी हूँ । उसने पानदान उठा लिया और बाहर आकर पान बनाने लगी ।

रमा को इस समय अपने कपट-व्यवहार पर बड़ी ग्लानि हो रही थी । जालपा ने कमरे से लौटकर प्रेमोल्लसित नेत्रों से उसकी ओर देखा, तो उसने मुँह फेर लिया । उस सरल विश्वास से भरी हुई आँखों के सामने वह ताक न सका । उसने सोचा—मैं कितना बड़ा कायर हूँ । क्या मैं बाबू जी को साफ़-साफ़ जवाब न दे सकता था ? मैंने हामी ही क्यों भरी ? क्या जालपा से घरकी दशा साफ़-साफ़ कह देना मेरा कर्त्तव्य न था ? उसकी आँखे भर आईं ।

जाकर मुँडेर के पास खड़ा हो गया। प्रणय के उस निर्मल प्रकाश में उसका मनोविकार किसी भयंकर जन्तु की भाँति घूरता हुआ जान पड़ता था। अपने ऊपर इतनी घृणा हुई कि एक बार जी में आया, सारा कपट व्यापार खोल दूँ, लेकिन सँभल गया। कितना भयंकर परिणाम होगा। जालपा की नजरों से गिर जाने की कल्पना ही उसके लिए असह्य थी।

जालपा ने प्रेम-सरस नेत्रों से देखकर कहा—मेरे दादाजी तुम्हें देखकर गए, और अम्मा जी से तुम्हारा बखान करने लगे तो मैं सोचती थी, तुम कैसे होगे। मेरे मन में तरह तरह के चित्र आते थे।

रमानाथ ने एक लम्बी साँस खींची। कुछ जवाब न दिया।

जालपा ने फिर कहा—मेरी सखियाँ तुम्हें देखकर मुग्ध हो गईं। शहजादी तो खिड़की के सामने से हटती ही न थी। तुमसे बातें करने की उसकी बड़ी इच्छा थी। जब तुम अन्दर गए थे तो उसी ने तुम्हें पान के बीड़े दिए थे, याद है?

रमा ने कोई जवाब न दिया।

जालपा—अजी, वही जो रंग-रूप में सबसे अच्छी थी, जिसके गाल पर एक तिल था, तुमने उसकी ओर बड़े प्रेम से देखा था, बेचारी लाज के मारे गड़ गई थी। मुझसे कहने लगी, जीजा तो बड़े रसिक जान पड़ते हैं। सखियों ने उसे खूब चिढ़ाया, बेचारी रोनी हो गई। याद है?

रमा ने मानों नदी में डूबते हुए कहा—मुझे तो याद नहीं आता।

जालपा—अच्छा अबकी चलोगे, तो दिखा दूँगी। आज तुम बाज़ार की तरफ़ गए थे कि नहीं ?

रमा ने सिर झुकाकर कहा—आज तो फ़ुरसत नहीं मिली।

जालपा—जाओ मैं तुमसे न बोलूँगी। रोज हीले-हवाले करते हो, कल ला दोगे न ?

रमानाथ का कलेजा मसोस उठा। यह चन्द्रहार के लिए इतनी विकल हो रही है ! इसे क्या मालूम कि दुर्भाग्य उसका सर्वस्व लूटनेका सामान् कर रहा है। जिस सरल बालिका पर उसे अपने प्राणों को न्योछावर करना चाहिए था, उसीका सर्वस्व अपहरण करने पर वह तुला हुआ है। वह इतना व्यग्र हुआ, कि जी में आया, कोठे से कूद कर प्राणों का अन्त कर दे।

आधी रात बीत चुकी थी। चन्द्रमा चोर की भांति एक वृक्ष की आड़ से झाँक रहा था। जालपा पति के गले में हाथ डाले हुए निद्रा में मग्न थी। रमा मन में विकट संकल्प करके धीरे से उठा; पर निद्रा की गोद में सोए हुए पुष्प-प्रदीप ने उसे अस्थिर कर दिया। वह एक क्षण खड़ा मुग्ध नेत्रों से जालपा के निद्रा-विहसित मुख की ओर देखता रहा। कमरे में जाने का साहस न हुआ। फिर लेट गया।

जालपा ने चौंककर पूछा—कहाँ जाते हो, क्या सवेरा हो गया ?

रमा०—अभी तो बड़ी रात है।

जालपा—तो तुम बैठे क्यों हो ?

रमा०—कुछ नहीं, ज़रा पानी पीने उठा था।

जालपा ने प्रेमातुर होकर रमा के गले में बाहें डाल दीं और उसे सुलाकर कहा—तुम इस तरह मुझपर टोना करोगे, तो मैं भाग जाऊँगी। न-जाने किस तरह ताकते हो, क्या करते हो, क्या मंत्र पढ़ते हो, कि मेरा मन चंचल हो जाता है। वासंती सच कहती थी, पुरुषों की आँख में टोना होता है।

रमा ने फूटे हुए स्वर में कहा—टोना नहीं कर रहा हूँ, आँखों की प्यास बुझा रहा हूँ। दोनों फिर सोए, एक उल्लास में डूबी हुई, दूसरा चिन्ता में मग्न।

तीन घंटे और गुज़र गये, द्वादशी के चाँद ने अपना विलास दीपक बुझा दिया। प्रभात की शीतल समीर प्रकृति को मद के प्याले पिलाती फिरती थी। आधीरात तक जागनेवाला बाज़ार भी सो गया। केवल रमा अभी तक जाग रहा था। मन में भाँति-भाँति के तर्क-वितर्क उठने के कारण वह बार-बार उठता था, और फिर लेट जाता था। आख़िर जब चार बजने की आवाज़ कान में आई, तो घबराकर उठ बैठा और कमरे में जा पहुँचा। गहनों का सन्दूक़चा आलमारी में रक्खा हुआ था; रमा ने उसे उठा लिया, और थर थर काँपता हुआ नीचे उतर गया। इस घबराहट में उसे इतना अवकाश न मिला, कि वह गहने छाँटकर निकाल लेता।

दयानाथ नीचे बरामदे में सो रहे थे। रमा ने उन्हें धीरे से जगाया, उन्होंने हकबका कर पूछा—कौन ?

रमा ने ओठ पर उँगली रख कर कहा—मैं हूँ। यह सन्दूक़ची लाया हूँ। रख लीजिये।

दयानाथ सावधान होकर बैठ गये। अभी तक केवल उनकी आँखें जागी थीं, अब चेतना भी जाग्रत हो गई। रमा ने जिस वक्त उनसे गहने उठा लाने की बात कही थी, उन्होंने समझा था कि यह आवेश में ऐसा कर रहा है। उन्हें इसका विश्वास न आया था कि रमा जो कुछ कह रहा है उसे पूरा भी कर दिखायेगा। इन कमीनी चालों से वह अलग ही रहना चाहते थे। ऐसे कुत्सित कार्य में पुत्र से साँठ-गाँठ करना उनकी अन्तरात्मा को किसी तरह स्वीकार न था। पूछा इसे क्यों उठा लाये ?

रमा ने धृष्टता से कहा—आप ही का तो हुक्म था ?

दया०—झूठ कहते हो।

रमा०—तो क्या फिर रख आऊँ ?

रमा के इस प्रश्न ने दयानाथ को घोर संकट में डाल दिया, झेंपते हुए बोले—अब क्या रख आओगे ? कहीं देख ले, तो ग़ज़ब ही हो जाय। वही काम करोगे, जिसमें जग-हँसाई हो। खड़े क्या हो, सन्दूकची मेरे बड़े सन्दूक में रख आओ और जाकर लेट रहो। कहीं जाग पड़े तो बस !

बरामदे के पीछे दयानाथ का कमरा था। उसमें एक देवदारु का पुराना सन्दूक रखा था। रमा ने सन्दूकची उसके अन्दर रख दी और बड़ी फुर्ती से ऊपर चला गया। छत पर पहुँच कर उसने आहट ली, जालपा पिछले पहर की सुखद निद्रा में मग्न थी।

रमा ज्यों-ही चारपाई पर बैठा, जालपा चौंक पड़ी और उससे चिमट गई। रमा ने पूछा—क्या है, तुम चौंक क्यों पड़ीं?

जालपा ने इधर-उधर प्रसन्न नेत्रों से ताक कर कहा—कुछ नहीं एक स्वप्न देख रही थी। तुम बैठे क्यों हो, कितनी रात है अभी?

रमा ने लेटते हुए कहा—सवेरा हो रहा है, क्या देखती थीं?

जालपा—जैसे कोई चोर मेरे गहनों की सन्दूकची उठाए लिए जाता हो।

रमा का हृदय इतने ज़ोर से धक-धक करने लगा, मानों उस पर हथोड़े पड़ रहे हैं। खून सर्द हो गया। परन्तु सन्देह हुआ कहीं इसने मुझे देख तो नहीं लिया। वह जोर से चिल्ला पड़ा—चोर! चोर!!

नीचे बरामदे में दयानाथ भी चिल्ला उठे—चोर! चोर!

जालपा घबड़ाकर उठी। दौड़ी हुई कमरे में गई, झट से आलमारी खोली। सन्दूकची वहाँ न थी। मूर्छित होकर गिर पड़ी।

१

ग़बन

ग़बन प्रेमचन्द का कलापूर्ण उपन्यास है। जो खण्ड हमारे सामने है यह उसी विशाल 'ग़बन' का एक अंश है। इस संदर्भ में कहानी के सभी गुण हैं पर यह एक छोटी कहानी ही नहीं है एक बड़े उपन्यास का बीज भी है। इस एक चावल से ही उपन्यास की परख हो जाती है, उपन्यास कला की सिद्धि देख पड़ती है।

स्वयं प्रेमचन्द ने उपन्यास के बारे में कुछ बातें कही हैं। हम उन्हीं की कसौटी लेकर, उनकी आलोचना करेंगे। कर्त्ता की कसौटी का आलोचना-जगत् में बहुत मान होता है।

प्रेमचन्द कहते हैं—मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्रमात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। 'ग़बन' सचमुच मानव-चरित्र का चित्र है। इस छोटे से टुकड़े में भी मानव-चरित्र के रहस्यों का—जीवन में दिन रात होने

वाले अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व का मार्मिक चित्रण है। इसीसे आलोचक गबन को चरित्रप्रधान उपन्यास का नमूना मानते हैं।

उपन्यास की आलोचना में दूसरी बात है कर्त्ता का दृष्टिकोण। आदर्शवाद और यथार्थवाद की दृष्टि का निर्णय करके ही चरित्र-प्रधान रचना का मूल्य आँका जा सकता है प्रेमचन्द के अनुसार वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए। ग़बन में ऐसा ही समावेश हुआ है। उसका यथार्थवाद पूर्णरूप से आदर्शोन्मुख है। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ 'आत्मपरिष्कार' और 'पथप्रदर्शन' है।

उपन्यास-साहित्य का तीसरा बड़ा प्रश्न है; उसका उद्देश्य। प्रेमचन्द 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त को सबसे ऊँचा आदर्श मानते हैं। इसी उनके अनुसार मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है। पर साथ ही वे यह भी मानते हैं कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है वह भी स्थायी महत्त्व का हो सकता है। हाँ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्षरूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाये और उसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे।

ग़बन के पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि प्रेमचन्द ने जो कुछ कहा है वह ठीक है। है तो यह प्रचार-प्रधान उपन्यास पर कलाकार के कौशल ने उसे स्थायी बना दिया है। सप्रयोजन रचना भी स्थायी और कालाश्रित है

सकती है, यदि वह प्रयोजन स्वाभाविकता और कला के भीतर छिपा रहे।

चौथी बात है कथावस्तु और कल्पना का विचार। यदि कवि में कल्पना है तो वह किसी भी छोटी घटना को लेकर अपना काम चला लेता है। उपन्यास में घटना की अपेक्षा कल्पना का महत्व बड़ा है। प्रेमचन्द के इस उपन्यास में यह बात सोलहों आने सत्य है। कल्पना के कारण ही वह इतना रमणीय है कि उसकी अस्वाभाविकता और उसके चरित्रों की बनावटी कमज़ोरियाँ भी पाठक को नहीं खटकतीं।

पाँचवी बात है लोक, शास्त्र आदि का निरीक्षण और लिखने का अभ्यास। ईश्वरदत्त शक्ति रहने पर भी कर्त्ता अपनी कृति को सजीव और स्वाभाविक नहीं बना सकता, यदि उसने उचित साधनों के द्वारा साहित्य की साधना नहीं की है। ग़बन में कर्ता की पूरी साधना के दर्शन होते हैं। उसके आरम्भिक उपन्यासों में भी प्रतिभा है, पर उपन्यास कला की ऐसी पूर्णता नहीं है।

उपन्यास में कल्पना, सजीवता और स्वाभाविकता आदि सब कुछ होने पर भी दो बातों की कमी से सब कुछ बिगड़ जाता है। एक साकांक्षता का निर्वाह और दूसरा संग्रह और त्याग का चुनाव। 'पहले छोटी सी बात खुले, फिर उससे कुछ बड़ी और अन्त में मुख्य रहस्य खुलें।' 'जिसमें पाठक की इच्छा सब कुछ जानने के लिए बलवती होती चली जाय।' और इसी प्रकार 'उपन्यासकला में यह बात भी बड़े महत्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे।' प्रेमचन्द ने अपनी कही इन दोनों बातों को खूब साधा है ग़बन इसका अच्छा सबूत है।

भाषा और शैली की दृष्टि से तो प्रेमचन्द का जादू सिर पर चढ़ कर बोलता है। ग़बन की भाषा टकसाली मानी जाती है और शैली सौम्य और

सरल। यद्यपि इतिहास और भावना से संबंध रखने वाले उपन्यासों में प्रसंगभरी और मधुर छायामयी कोमलकान्त पदावली बड़ी भली लगती है पर वह प्रायः लोकप्रिय नहीं हो पाती—उसके पाठकों का क्षेत्र छोटा रहता है। ग़बन के पाठकों का क्षेत्र बहुत बड़ा है।

आलोचना पूरी हो जाने पर भी अध्ययन की दृष्टि से एक बात पर और विचार होना चाहिए। उपन्यास और कहानी में भेद क्या है। ऊपर की सभी बातें दोनों में घटती हैं। तब क्या केवल बड़ाई और छोटाई का ही भेद दोनों में हैं? क्या उपन्यास बड़ी कहानी का ही नाम है। दोनों साहित्य रूपों में इतना मेल है कि दोनों का भेद अवश्य ध्यान में रखना चाहिए। उपन्यास में देश, काल और व्यक्ति की पूर्णता का समुद्र लहराता है और कहानी में केवल पूर्णघट की सुन्दरता रहती है। इसी सीमा के कारण कहानी की एकता का पूरा अनुभव होता है पर उपन्यास में वह एकता कभी कभी बिखरी रह कर भी सुंदर लगती है। उसमें एक मूल प्रवृत्ति अथवा विचार का प्रधान होना परमावश्यक नहीं। इससे भी बड़ा भेद यह है कि सफल कहानी में एक स्थिति का प्रभाव रहता है—एक प्रकार का नाटकत्व रहता है पर उपन्यास में एक व्यक्ति अथवा युग का इतिहास रहता है। कहानी में अनुभूति अधिक रहती है और उपन्यास में इतिवृत्त। इसी से उपन्यास की अपेक्षा कहानी में प्रभाववादी रीतियों की अधिक आवश्यकता पड़ती है। और इसी अनुभूति प्रधानता के कारण कहानी की कथा वस्तु कभी जटिल नहीं होती—बड़ी सरल और सीधी होती है, शायद ही कभी उसमें आधिकारिक और प्रासंगिक कथा की दुहरी लड़ी रहती हो।

कहानी का एक बन्धन और याद रखना चाहिये कि प्रगीत काव्य के

समान उसमें कला की निपुणता बहुत आवश्यक है और उपन्यास में महाकाव्य से भी अधिक स्वतंत्र और विशाल क्षेत्र रहता है। यद्यपि कहानी में नियम के बंधन लग नहीं पाते पर उससे कला का उत्तरदायित्व और अधिक बढ़ जाता है।

एक शब्द में कहानी मन और हृदय का रंजन करती है पर उपन्यास मन और हृदय के साथ ही थोड़ा सा लगाव बुद्धि से भी अवश्य ही रखता है। उपन्यास में बुद्धि का पूर्ण विलगाव कभी निभ नहीं सकता।

Rajshekhar

—— ५।

श्री हरदयाल मौजी

6.

नुमायश

नुमायश का आहाता बनकर तैयार हो चुका था। बीच-बीच में फुलवारी की क्यारियाँ लग चुकी थीं। दूकानों और बाज़ारों की व्यवस्था भी क़रीब-क़रीब हो ही गई थी। कुछ सजधज का काम अभी कहीं-कहीं बाकी था। मिस्त्री बिजली की तार लिए घूम रहे थे। कुछ पेड़ों पर चढ़े बल्ब टांगने में लगे थे। रविशों पर सुर्ख़ी बिछ रही थी। बड़े गेट को सजाया जा रहा था।

सन्तू, लगभग सात वर्ष का एक लड़का जो कुछ ही दूर पर अन्धी माँ के साथ बैठा था, टकटकी लगाए यह सब देख रहा था, बोला—'माँ!'

'हाँ!'—माँ बोली।

'नुमायश होगी यहाँ?'

'क्यों?'

'परसाल की तरह सब हो रहा है।'

'कोई खेल आया होगा।'

'नहीं, माँ ! लोग कहते जा रहे थे।'

'सच ?'

'हाँ।'

'होती होगी। अच्छा है, दो पैसे मिल जाया करेंगे।'

'जैसे परसाल, एँ माँ !'

'हाँ'

'परसाल तुमने हमें टिकट नही दिलाया था।'

'कैसा टिकट ?'

'नुमायश का।'

'मा ने कुछ उत्तर न दिया।'

'क्यों माँ !'—वह फिर बोला।'

'वह फिर भी चुप थी।'

'वोलती नहीं।'

'वेकार की बातें मुझे नहीं आतीं।'

'अच्छा, दिलाया था ?'

'नहीं दिलाया था।'

'क्यों ?'

'चाहती नहीं थी।'—हँसते हुए उसने क़हा।

सन्तू चुप हो रहा। जानता था खिन्न होने पर भी माँ ऐसे हँसती है। उसकी निगाह फिर उस आहाते पर टिक रही। कुछ

देर बाद अकुलाया-सा फिर बोला—'अच्छा, माँ।'

'हाँ।'

'अबकी दिला दोगी ?'

'दिला दूंगी।'—अन्यमनस्क सी हुई वह बोली।

'नहीं ?'—उसने फिर पूछा।

'दिला दूंगी, कहती तो हूँ।'—माँ ने तब ज़ोर से कहा औ मुस्कराहट को दबाने के प्रयत्न में दोनों ओठ ज़ोर से सटा लि

'कहती ही हो बस।'—सन्देह में माँ के ओठोंके तरफ़ देख हुआ वह बोला।

'ऐसा ही सही।'—माँ ने कहा।

'अच्छा, सच बताओ माँ, दिलाओगी कि नहीं ?—जी म कर ज़ोर लगाकर सन्तू ने विनय की।

हृदय की इस अपील पर अन्धी चुप रह गई झूठ बोलना उतना ही कठिन हो गया, जितना सच।

'क्यों माँ !'—सन्तू ने फिर पूछा।

'अच्छा, देखूँगी।'—गम्भीर होकर अन्धी बोली, जैसे ए बड़ा बोझ उसके ऊपर आ गया हो।

सन्तू प्रफुल्ल हो उठा और एक ओर से कुछ आदमियों आते देख माँ को कुहनी लगाई। इशारा समझकर अन्धी ने कहना शुरू किया—'बाबू अंधी मुहताज को, बाबू···

दो दिन बाद। नुमायश का उद्घाटन हो रहा था। गे पर बहुत भीड़ थी। सड़कें भरी आ रही थीं। रंग बिरंगी पोशा

में सँवरे हुए स्त्री, पुरुष और बच्चे आतुर होकर गेट की तरफ़ बढ़ रहे थे ।

एक तरफ़ जहाँ मोटर रुकती थी, अंधी भिखारिन सन्तू का हाथ पकड़े इधर-उधर डोल रही थी। वह कहती जाती थी बाबू! अन्धी मुहताज को······'

बाबू मोटरों से उतरते और बचकर एक ओर से निकल जाते। वह कहती रहती—'बाबू! अन्धी मुहताज को······'

सन्तू कभी गेट की ओर देखता कभी पों-पों करती हुई मोटरों की ओर और कभी उत्सुक हो उमड़ती हुई उस भीड़ की ओर। बीच बीच में बुढ़िया के मुँह की तरफ भी देख लेता—जैसे कुछ कहना चाहता हो। उसकी बात उसकी आँखों पर आ अटकी मालूम होती थी, पर अन्धी निर्विघ्न चिल्ला रही थी—'बाबू···'

रात के ग्यारह बज गए। सन्तू माँ का हाथ पकड़े घूमता ही रहा। आख़िर वह थक गया। खड़ा रहना मुश्किल मालूम होने लगा। बोला—'माँ!'

'हाँ।'

'कितने पैसे हो गए?'

'तू नहीं जानता क्या?'

'चार अभी नहीं हुए।'

'हो गए।'

'तो टिकट मिल जायगा।'

'मिल जायगा, पर रोटी नहीं।'—अंधी हँसकर बोली।

सन्तू समझ गया। वह चुप होगया। उसकी निगाह माँ के मुँह पर थी कुछ सोचता सा फिर बोला—'रोटी नहीं खाऊँगा।'

'अच्छा भैया! पेट भर तो कभी यों ही नहीं मिलता, आज पूरा ही फाका सही।...पर सन्तू! मुझसे तो उठा न जायगा, देखलो, कुछ आज ही की बात नहीं, कल को भी किसी के चाहिये।'

सन्तू ने कुछ न कहा, और अन्धी फिर उसी रट में लग और लगी रही, जब तक कि वहाँ सुनसान न हो गया।

प्रतिदिन शाम को वैसी ही भीड़ होती थी। वैसा ही पुरुष, बच्चों का एक समुद्र आनन्द से हिलोरें लेता था। भी उन्हीं में हर रोज़ घूमा किया। स्वयं दर्शकों में उसकी गि भले ही न थी, पर दर्शकों का भी एक दर्शक वह था। देख-देख कर उसे कुछ नुमायश का आनन्द आ जाता उसमें उसका हित था। उनकी वृद्धि और समृद्धि को देखकर खुश ही होता था। जैसे-जैसे भीड़ बढ़ती, जैसे-जैसे मोटरों बग्घियों की क़तार लम्बी होती, उसकी सोई हुई आशा भी ही वैसे जगती जाती और उसके जल्दी-जल्दी उठते हुए के पीछे अन्धी घिसटने लगती।

किन्तु गेट से निकलते हुए सज्जनों को भी वह देखता बहुत से हमउम्र होते थे, कुछ अधिक उम्र के और कुछ कम के। कोई कुछ तारीफ़ करता निकलता, कोई कुछ। वह परेशान सा अन्धी को लेकर उनके सामने हाज़िर होता। वे

निकल जाते, वह खड़ा देखता रह जाता। पर वह एक जगह खड़ा नहीं रह सकता था, क्योंकि बुढ़िया का हाथ उसके हाथ में बराबर चलते रहने का तक़ाजा किया करता था।

कई दिन हो गये थे। नुमायश भर रही थी। आज कुछ ज्यादा लोग आ रहे थे। ख़रीदारी भी अधिक हो रही थी। दूकानदारों ने चीज़े आज पहले से कुछ सस्ती कर दी थीं। लगभग सभी लोग कुछ-न-कुछ हाथ में लिए गेट से निकल रहे थे। कुछ गोद भरे चले आ रहे थे और कुछ के पीछे कुली लदे थे। अधिकांश बच्चों के हाथों में खिलौने थे। सन्तू भी अपनी आशा, का टूटा-सा खिलौना लिए वहीं मौजूद था। आज वह विशेषतः दौड़-धूप करता दिखाई दे रहा था। माँ ने वादा किया था कि अगर चार भी पैसे मिले, तो वह उसे दे देगी। जैसे-तैसे भीड़ को चीरता हुआ जल्दी-जल्दी एक से दूसरे सज्जन के सामने वह अपनी अन्धी माँ को पेश कर रहा था। माँ चिल्ला रही थी— 'बाबू अन्धी मुहताज को—'

पर वह समय ही ऐसा नहीं मालूम होता था कि किसी को उस अन्धी के हाथ की ओर देखने की गुंजायश या फ़ुर्सत होती।

सन्तू इधर से उधर, उधर से इधर ताना बिनता ही रहा। बहुत देर हो चली। उसने बार-बार माँ के मुँह की तरफ देखा कि शायद कुछ और उपाय बतलाए, पर पूछने की हिम्मत न हुई। भीड़ हल्की हो रही थी। आ कम रहे थे, जा अधिक। सन्तू

को वह दिन भी जाता ही मालूम हुआ। आखिर वह बिना
नहीं ही रह सका। बोला—'माँ!'

'हाँ।'

'पैसे हो गए?'

'हो गए।'

'ला तो फिर।'

'बस, एक पैसे की कमी है।'

'कमी है!'

'हाँ।'

सन्तू चुप हो गया। किन्तु उसकी खामोशी वजह
कर माँ ने कहा—'और देखो, शायद मिल जाय।'

सन्तू फिर अन्धी का हाथ पकड़ कर इधर-उधर घूमने
वह चिल्लाने लगी—'बाबू! एक पैसा।'

वह बहुत बेचैन हो रहा था। जिन जिन बाबुओं को
मोटर की ओर जाते देखता, जिन-जिन को बहुत मोटा-ता
पाता, जिन–जिन के बच्चे बहुत खेल-खिलौने लिए गेट से
लते, नजर पड़ते उन्हीं की ओर उसके पैर खुद-बखुद चल पड़ते
पर वे लोग अपने ही में कुछ इतने मशगूल मालूम होते कि
ओर उनका ध्यान ही न जाता।

जाने वाले आगे को बढ़े ही चले जाते थे। मोटर वाले मोटर
में बैठे आँखों से ओझल हो जाते थे। अन्धी माँ को खबर भी
होती थी कि कब कौन गया। वह उसी एक ओर मुँह कि

चिल्लाती रहती जब तक की सन्तू के हाथ का इशारा न मिलता।

सन्तू बहुत बेचैन था। एक पैसे की कमी थी। किसी एक बाबू का इशारा बाक़ी था। उसी की वह खोज में था; पर कोई नहीं मिल रहा था। यह साल भी यों ही चला जायगा, यह सोच-सोच कर वह गेट की तरफ़ देख लेता था। आखिर उसने देखा, एक बाबू बुकिंग आफ़िस पर खड़े टिकट ले रहे हैं। सन्तू ने झट अन्धी को वहाँ लेजा खड़ा किया। अन्धी ने जैसे कलेजे से पुकार कर कहा—'बाबू! एक पैसा अन्धी को भी।'

किन्तु बाबू खिड़की से टिकट खरीद हाथ में ले गेट की ओर घूमने लगे। सन्तू से न रहा गया। उसका मुह अनायासही कह उठा—'बाबू!'

बाबू रुक गए। उन्हें जान पड़ा,कोई आवाज़ देता है। आज पहली ही बार सन्तू ने किसी को पुकारा था।

'क्यों?'—बाबूजी बोले।

'तीन पैसे हैं।'

'तो?'

'एक पैसा दे दो।'

'क्या मतलब?'

'एक टिकट लूँगा।'

'अच्छा, रहने दो भाई! भीख माँगकर नुमायश देखने के पक्ष में मैं नहीं हूँ।' बाबू क़हक़हा लगा कर बोले, और यह देखो, भिखमंगे भी नुमायश देखेंगे!'—कहते हुए गेट के पार हो गए।

उनकी बात की दाद और भी कई आदमियों ने हँसकर दी। कुछ देर के लिए इसी विषय पर विचार-विनिमय छिड़ गया।

सन्तू वहीं खड़ा था। हिलना उसे मुश्किल हो गया। अन्धी के कानो में भी क़हक़हे की आवाज़ पड़ी। उसने ज़ोर से सन्तू का हाथ झटक दिया और 'देखी नुमायश' कहते हुए वहाँ से चलने का इशारा किया।

सुबह हुई। दोनों माँ-बेटे एक मिट्टी के पुश्ते पर बैठे हुए। सन्तू ने देखा—दूकानों का सामान ठेलों पर लाद कर नुमायश गेट से बाहर हो रहा है। बोला—माँ !

'क्यों ?'

'क्या आज नुमायश न रहेगी ?'

'कैसे ?'

'सामान जा रहा है।'

'तो ?'

'हमने नहीं देखी।'

'अगले साल देख लेना।'—अन्धी बोली और ठहाका मार कर हँस पड़ी। सन्तू उसके मुह की ओर देख रहा था।

'हमने नहीं देखी।' अन्धी ने फिर सन्तू की बात को दुहराया और ज़ोर से हँस पड़ी। सन्तू देख रहा था।

नुमायश

इस कहानी में कहानी के सभी गुण हैं। यह इतनी छोटी है कि इसे कोई कामकाजी भी एक बैठक में पढ़ सकता है। इसकी शैली में इतना प्रवाह और भाषा में इतनी सरलता है कि पाठक अनजाने ही बढ़ता चला जाता है। पर इसका सबसे पहला आकर्षण है इसकी सीधी सादी घटना। बड़ी परिचित बात है, एक अंधी बुढ़िया भिखमंगिन का हाथ पकड़े एक छोटा लड़का नुमायश के सामने घूम रहा है। इतना तो हम सभी देखते हैं पर कवि ने इस घटना के भीतर झाँक कर देखा है। वही भीतर की झाँकी दर्दभरी कहानी है। छोटी ही सी घटना इतने कौशल से सामने आती है कि दिल पर चोट किये बिना नहीं रहती। आपसे आप करुण रस की निष्पत्ति हो जाती है। कहानी पूरी हो जाती है पर अंधी माँ का ठहाका मार कर हँसना नहीं भूलता। उसमें कितना मार्मिक व्यंग्य है! कितना भीषण चीत्कार है!! उसकी ठेस सहृदय का हृदय ही जानता है।

कहानी की कथा अपने छोटेपन में भी पूर्ण है, कुछ छूटने नं पाया है। सब कुछ है। समाज के दोनों पक्ष हैं। एक ओर जुमायन मस्तानी सैर और दूसरी ओर मुहताज अंधी का एक लड़का। माँ के हृदय चित्रण ही कहानी का हृदय है। इसीसे चरित्र-चित्रण सफल होने पर आलोचक की दृष्टि में यह रसप्रधान कहानी है।

कथावस्तु और चरित्रचित्रण दोनों का सौंदर्य बढ़ाने वाला तीसरा है माँ बेटे का मर्मस्पर्शी कथोपकथन। लड़का कहता है—

माँ, सामान जा रहा है।

तो ?

हमने नहीं देखी।

अगले साल देख लेना।

इन छोटे वाक्यों में साक्षात् करुणा बोल रही है।

लेखक कहानी की कथोपकथन-शैली का उस्ताद है। वह व्यर्थ वर्णन नहीं करता। केवल माँ के ठहाके की बात लिखके चुप हो जाता है। उसका यही मौन कहानी कला की सफलता है। भाषा भी वैसी ही अद सरल और स्वाभाविक है जैसी कहानी की घटना है। वर्णन तो इसमें है नहीं और उसकी आवश्यकता भी नहीं है। इस कहानी का एक प्रयोजन समाज पर व्यंग्य परन्तु वह कलाकार की कला में छिपा हुआ है। ह सामने केवल कहानी है।

श्री जैनेन्द्र कुमार

१.

शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय

—:❀:—

शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय के देहान्त की ख़बर जब यहाँ के अंग्रेज़ी अख़बार के एक कोने में पढ़ने को मिली, तब अनुभव हुआ कि कितने गम्भीर भाव से उस नाम ने मेरे भीतर जगह कर ली थी। मेरे अपने लिए वह सामान्य घटना न थी। इतनी असामान्य थी कि मैं सोचता रह गया कि किस भाँति यह सम्भव हुआ कि भारत का यह समाचार-पत्र, चाहे फिर वह अँग्रेजी में ही छपता हो, ऐसे बेमन भाव से इस सूचना को ग्रहण करे। हमने शरद को क्यों नहीं समझा? क्यों यह बंगाल के ही ज़िम्मे रहा कि वह शरद को पाए; पाकर कृतार्थ हो और खोकर विकल हो जाय? सोचता हूँ, अगर ब्रिटिश-नीति और ब्रिटिश-भाषा की जगह भारत के पास अपनी राष्ट्र-नीति और अपनी राष्ट्र-भाषा होती तो?

शरद का आविर्भाव एक विशिष्ट घटना थी। इससे उनके अभाव की घटना ऐतिहासिक ही हो जाती है। वह हमें बिना छुए नहीं रह सकती। जो मेरे जीवन में अधिक वास्तविक, अधिक सत्य है, वह अधिक आभ्यन्तर भी है। उसी कारण वह परोक्ष है। शरद हमारे बीच उसी मार्मिक किन्तु परोक्ष तत्व के प्रतीक थे। प्रदर्शन से विमुख, लुब्धाकांक्षाओं से दूर, सहज-सामान्य मानवता की वह प्रतिमूर्ति थे। असाधारण इसी लिए कि वह अन्त तक साधारण बने रहे। स्पर्द्धापूर्वक दूसरे को नाँघकर स्वयं आगे और ऊँचे दीखने की प्रवृत्ति उनमें मानो नीचे मुँह गाड़कर खो गई थी।

—२—

शरच्चन्द्र का नाम मैंने जीवन में जल्दी नहीं जाना। किताबें पढ़ी थीं, और पढ़कर मन हिल-हिल गया था। उनकी कोई कहानी शायद ही विना रुलाए रही हो। पर किताब के द्वारा स्वयं लेखक को पढ़ने की बात बहुत पीछे जाकर सूझी। कहानियों और उपन्यासों में घटनावली ही तो मुख्य है, सो उस घटनावली तक ही पाठक की हैसियत से मेरा सम्बन्ध रहता था। तब उस पुस्तक के लेखक का नाम तक मानो अनावश्यक था।

'मँझली दीदी', 'बड़ी दीदी', 'परिणीता', 'पंडितजी', 'चन्द्रनाथ', 'विजया' आदि, मन की इसी स्थिति में मैंने पढ़ीं। पढ़कर शरद की मझली और बड़ी दीदियाँ ठीक-ठीक मानो वैसी ही दीदियाँ मेरी भी बन आई थीं। शरद के पंडितजी, 'चन्द्रनाथ'

विजया एवं अन्य पात्र मेरे मन के निकट बहुत घनिष्ठ और प्रत्यक्ष बन-बन जाते थे। उनके दुख के साथ मेरे मन में रोना उठता था। जी में अकुलाहट होती थी कि हाय, इन (पात्रों) पर पड़ने वाली विपता कैसे हो कि सब-की-सब स्वयं मैं झेल लूँ। सहानुभूति ऐसी उमड़ कर उठती थी !

इतना था, पर शरद बाबू से मैं अनजान था। सृष्टि को देखता था, उसमें मुग्ध भी था; पर स्रष्टा को मानो अनावश्यक ही बनाए हुए था। मेरी कैसी भारी मूर्खता !

इस मूर्खता का पार बहुत दिन बाद पाया। यह तमाम सृष्टि जिस स्रष्टा को व्यक्त करती है, उसको चिन्तना-कल्पना में न लाऊँ तो सृष्टि को ही कैसे उपलब्ध कर सकता हूँ। इस सब का स्रोत जहाँ है, समन्वय जहाँ है, वहाँ क्या पीड़ा क्या बिछोह है, क्या यह समझने का प्रयास मुझे नहीं करना चाहिए ?

अपने अभ्यन्तराद्भ्यन्तर में से क्या कुछ डालकर शरद ने अपने पात्र-पात्रियों को ऐसा सजीव, प्रत्यक्ष और प्रेरणामय बनाकर हमारे सामने प्रस्तुत किया कि हम मानो अत्यन्त कृतार्थ भाव से अपना जी उन (पात्र-पात्रियों) की मुट्ठी में दे बैठे ? हमारे मन की बद्ध-मूल परुषता में, अहंकार-जड़ित हमारे नाना नकार-निषेधों में शरद के किस अतर्क्य बल की ठेस लगी कि वे गलकर बहने को हो गए और मन कातर हो आया ? किस भाँति यह हो सका, जानना कठिन है। पर इसके अतिरिक्त जानना ही और क्या है।

सपने सभी लेते हैं। वे मनोरथ-से मनोरम हैं, क्योंकि ये

स्वप्न हैं। उनमें सत्यता नहीं, यथार्थता नहीं। वे इतने सूक्ष्म हैं कि स्थूल के स्पर्श पर छू हो जाते हैं। इससे 'वे हैं,' यह भी झूठ हो जाता है। हमारा स्वप्न हमारे पास ही झूठ है। हम जगे नहीं कि वह उड़ जाता है। अपने ही सपने को पकड़ना कितना कठिन है। वह याद तक में नहीं बँधता।

और स्वप्न क्या हैं ? क्या वे हमारी ही अतृप्तियों के रूप नहीं हैं ? आकांक्षाओं के छोर नहीं हैं ?

अपने भीतर निरन्तर वर्तमान उन स्वप्निल भावनाओं को अपने ही समक्ष प्रत्यक्ष पाना कितना दुस्साध्य है। सम्भव तो है पर कितनी असम्भवता के साथ सम्भव। उसके बाद उन्हीं स्वप्नोपम भावनांशों को अपने से अन्य किसी के मन के भीतर उपलब्ध करा देना कितना दुस्साध्य न होगा। क्या यह काम कभी चतुराई के बस का हो सकता है ? केवलमात्र कौशल से हो सकता है ? लोग जो कहें, पर शरद ने यह काम किया, और इस खूबी से किया कि अचम्भा होता है। कह लो शरद को आर्टिस्ट, लेकिन तब आर्ट चतुरता नहीं है। वह आत्मदान है। शरद ने अपने भीतर के दुर्लभ को उपलब्ध करने की राह में उसे हमारे लिए भी यत्किंचित् सुलभ कर दिया। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा जो चाहे पाया हो, पर हमने तो उनमें बहुत-कुछ अपना मर्म पाया। शरद ने अपने को देकर पाया है। जान पड़ता है उन्होंने अपने भीतर कुछ नहीं छोड़ा, बूँद-बूँद दे डाला है।

यह आत्मदान की लाचारी क्यों ? दुनियाँ में सब अपने

अपने को बटोरते दीखते हैं। तब यह व्यक्ति क्यों अपने जीवन में मानों दोनों ओर बत्ती लगाकर जलता रहा? क्या इस लिए कि हमें प्रकाश देना चाहता था? छीः, यह कहना आग की जलन को मिठास कहना है। मेरे पास एक ही उत्तर है। वह यह कि वह व्यक्ति महाप्राण था। महाप्राण पुरुष अपने स्वभाव में यह दुर्भाग्य लाते हैं। दुनिया कहे उसे प्रतिभा, लेकिन वह भीतर तक करुण पीड़ा की बनी होती है।

तभी तो उनके पात्र चित्र नहीं हैं। चित्र में गति-परिणमन नहीं होता, आत्मा नहीं होती। शरद की मूर्तियाँ इतनी आत्ममयी हैं कि उनपर हम-आप विवाद ही कर सकते हैं, अधिकार नहीं कर सकते। उनमें अपना जीवन, अपना स्वभाव है, इस कारण वे सब इतनी अबूझ हैं कि कोई दो व्यक्ति उनपर एक मत नहीं रख सकते। शरद ने जो कुछ उनके द्वारा करा दिया है, उससे आगे और उसके अतिरिक्त मानो कोई उन मूर्तियों से कुछ नहीं करा सकता। पुस्तक-गत स्थिति से भिन्न परिस्थिति में वे पात्र-पात्रियाँ क्या करतीं, लाख विवेचन पर भी मानो कोई निश्चित निश्चय नहीं हो सकता।

वे पात्र सजीव हैं, इससे नियम-निर्मित नहीं हैं। उनकी सृष्टि का सार शरद की अपनी आत्मा में ही है। आत्मा देश-कालातीत होती है। वह भाषा की परिभाषा में नहीं आती, नहीं आयगी। जीवन बेहिसाब है, क्योंकि उसका उस स्रोत से उद्गम है, जहाँ से इजाजत लेकर स्वयं काल चलता है। शरद के चरित्र

उसीसे अनुप्राणित हैं। इससे उनपर कभी विवाद की समाप्ति नहीं हो सकती। मानो उनका भेद उन्हीं के भीतर बन्द है। भीतर से ही वह मिले तो मिले, बाहर से वह समझ की पकड़ में न आयगा। शरद ने अपने में से कुछ इतने गहरे की वस्तु उनमें डाली है कि उसे जाना नहीं जा सकता, अनुभूत ही किया जा सकता है। मेरे विचार में स्वयं शरद ने अपने पात्रों को जानने की स्पर्धा नहीं की। शरद का नाता उनसे प्रेम का नाता था। प्रेम, यानी उत्तरोत्तर अभिन्नता। विज्ञान का नाता नहीं, जिसकी शर्त है द्वित्व और पार्थक्य।

इस सिलसिले में क्या मैं कहूँ कि रवि ठाकुर और अधिकांश अन्य पाश्चात्य लेखकों का अपने पात्रों के साथ सम्बन्ध इतने विशुद्ध प्रेम अर्थात् ऐक्य का नहीं होता। बीच में कहीं मानों विज्ञान को आ घुसने के लिए दुराव भी होता है। आधुनिक भाषा में कहें तो वे अपने पात्रों के प्रति, और अपने के प्रति प्रेमी से अधिक धीमान् हैं।

—३—

ठीक सन् मुझे याद नहीं। शायद ३१ की बात है श्रीचन्द्रगुप्त विद्यालंकार संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों की एक पुस्तक हिन्दी में छपा रहे थे। भारतीय कलाकारों की बात करते हुए बोले—भारत की ओर से इस संग्रह में दो कहानियाँ देना चाहता हूँ। क्या राय है ?"

मैंने पूछा—"आप क्या सोचते हैं ?"

बोले—"शरद को मैं भारत का सर्वश्रेष्ठ कहानी लेखक मानता हूँ। रवीन्द्रनाथ की कहानी तो जायगी ही। उनकी कहानी क्या एक-एक नगीना हैं। पर शरद की कहानी कोई छोटी नहीं मिल रही है।"

मैंने कहा—"हिन्दी की पुस्तक में प्रेमचन्द की अनुपस्थिति निभेगी ?"

बोले—"लेकिन, भाई, प्रेमचन्द शरद-रवीन्द्र के बाद आते हैं। क्यों, नहीं ?"

आख़िर पुस्तक में प्रेमचन्द की कहानी दी गई और शरद चन्द्र की नहीं दी जा सकी। इसपर चन्द्रगुप्तजी का मन खिन्न था। पर शरद की छोटी कहानी भी दुर्लभ हो रही थी।

बोले—"शरद को मैं निश्चित रूप में भारत का सर्वश्रेष्ठ कहानीकार मानता हूँ। जानता हूँ, मैं वह बात दोहरा रहा हूँ। पर बार-बार उसको कहकर मानो फिर कहने की इच्छा रहती है। रवीन्द्र की और बात है। साहित्यकार शरद से कहीं बड़े वह हों और हैं, पर कहानी की जहाँ चर्चा हो, वहाँ शरद हैं। क्यों, क्या नहीं ?"

मैंने तब कहा था (कहा था, अब नहीं कहता) कि मुझ में वैसी श्रद्धा नहीं है। शरद, हाँ, अच्छा लिखते हैं। पर जान पड़ता है, कहीं से कोई लटका उन्हें हाथ लग गया है। एक गुर पा गए हैं, बस उसी को हर जगह इस्तेमाल कर जाते हैं। देखिए न, हर कहानी में घूम-फिर कर वही बात, वही बात !

श्रीचन्द्रगुप्त सुनकर मेरी ओर देखते-के-देखते रह गए थे। मानो मेरी धृष्टता सह्य हो सकी तो इसी से कि बेहद अप्रत्याशित थी। उस समय तो जैसे क्रोध भी उनसे न करते बना।

मैंने कहा—"सुनिए, शरद एक काम लाजवाब खूबी से करते हैं। वह खूबी है, और बेशक लाजवाब है। लेकिन लाजवाब हो चाहे कुछ हो, बस वह अकेली खूबी ही उनके पास है। स्त्री और पुरुष के प्रणय और मान के सम्बन्धों का जो चित्र वह खींच कर रख देते हैं, क्या वह चित्रण कहीं और भी मिलेगा? लेकिन दुनिया स्त्री-पुरुष-प्रेम नहीं है। वह और भी बहुत कुछ है। सो समूचे जीवन पर उनकी पकड़ साधिकार नहीं है। असल में जीवन-दर्शन उनका एकांगी है। कहता तो हूँ कि कहीं से गुरु-मंत्र पा गए हैं। उसी के बल पर चमत्कार-सा दिखा देते हैं।

चन्द्रगुप्त जी ने मुझे तरह-तरह से समझाया—तर्क से भी, आग्रह से भी, झिड़की से भी। कहा कि कहानी-कला के बारे में ऐसी अहंकृत, उथली और भ्रान्त धारणा बनाकर चलना अपने हक में मेरे लिए अशुभ होगा। लेकिन मैं न मान सका। कहता रहा कि शरद की खूबी आकस्मिक है, गहरी नहीं है। शरद में रमी हुई नहीं है। एक प्रकार का रचना-कौशल है, अधिक नहीं।

मैं नहीं जानता अगर ऐसा मानने वाले और लोग हों। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि आज मैं ऐसा नहीं मानता। आज अचरज करता हूँ कि वह सब मैं किस भाँति कह गया हूँगा।

इस परिवर्तन का कारण है। कारण यह कि दो (अथवा अधिक) व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों के विकास अथवा विचार में जो मूल-सिद्धान्त काम करता है, वही तो है सत्य। उसके अतिरिक्त ज्ञेय और क्या है। क्या जो यह अनेकता की और दुई की माया चारो ओर फैली है वह अपने-आप में जानने योग्य है? वैविद्ध्य क्या अपने-आप में अर्थकारी है। अपने–अपने खानों में बटा हुआ विशेषित ज्ञान क्या सचमुच सत्य है? वह सत्य हो कैसे सकता है। फिर तो सत्य विभक्त और खंडित ठहरेगा। इससे उस प्रकार के लौकिक ज्ञान का समग्र रूप में मूलाधार जहाँ है, सत्य भी वहीं है। और लौकिक ज्ञान हितकर है तो तभी जब वह उस परमतत्व को प्रकाशित और विशद करे, जहाँ अनेक का ऐक्य और समस्त का समन्वय है।

व्यक्ति सच है कि पदार्थ?
व्यक्ति सच है कि समाज?
एक व्यक्ति सच है कि दूसरा व्यक्ति?

ये मूल प्रश्न जब सामने खड़े होते हैं तो जान पड़ता है कि सत्य किसी दूसरे को छोड़कर किसी एक में नहीं है। वह कहीं भी एक जगह नहीं है। पदार्थ में नहीं है, व्यक्ति में नहीं है, समाज में नहीं है—वह एक एक में नहीं है। वह अनेक के ऐक्य में है। वह ऐक्य है।

अर्थात् जो किन्हीं दो को दूर से पास करता है, और पास

से इतना पास करना चाहता है कि वे दो एक हो जायँ, जो बिना इतना किये चैन लेता नहीं और न चैन देता है, —जगत में यदि कुछ ज्ञातव्य है, तो वही तत्व ज्ञातव्य है। वह है प्रेम। लिखने-पढ़ने द्वारा अथवा व्यवसाय-तपस्या द्वारा यदि कुछ भी हमें खोजना है, जानना है, पाना है, तो वह वही प्रेम है।

शरद ने यदि लौट-लौट कर अपनी रचनाओं में (स्त्री-पुरुष) प्रेम की चर्चा की, उसी की व्याख्या की, तो समाज-हित की दृष्टि से, लेखक की हैसियत से, इससे और अधिक करणीय कर्तव्य दूसरा हो कौन सकता है ? अन्य बौद्धिक बातें झमेला हैं। वाद और विवाद बहुत से चल सकते हैं, चल रहे ही हैं। लेकिन उनके भीतर व्यर्थता बहुत है, सिद्धि यत्किंचित् भी नहीं है। उनके ऊपर दूकानदारी चल सकती है, लड़ाई बन सकती है, मानव-हित-साधन उनसे असम्भव है। प्रेम का योग यदि नहीं, तो बौद्धिकता जड़ता है, वन्धन है।

इसलिए शरच्चन्द्र ने अनावश्यक को छोड़ कर आवश्यक ही पकड़ा, जब कि उन्होंने राजनीति एवं समाजनीति, देशोद्धार अथवा समाजोद्धार की चर्चा नहीं की। स्त्री-पुरुष के मध्य खिंचाव की वेदना जितनी सघन और सूक्ष्म रूप से शरद चित्रित कर सके हैं, मैं मानता हूँ, उतने ही अंश में वह अपने को ज्ञानी प्रमाणित कर सके हैं। षड्दर्शनों का पंडित कैसा दार्शनिक है, मैं नहीं जानता। पर शरद खरे दार्शनिक हैं, यह मैं कृतज्ञभाव से स्वीकार करना चाहता हूँ। कलाकार का मैं और अर्थ नहीं

जानता। कलाकार गतिशीलता में सत्य को बूझता है, पंडित का सत्य निस्पन्द है।

ऊपर कहा गया कि समाज-हित की दृष्टि से जो सर्वाधिक आवश्यक है, वह शरद ने किया। समाज मानवसम्बन्धों को लेकर बनता है। शरद ने उन सम्बन्धों के भीतर भावना की उष्णता और आर्द्रता पहुँचाई। समाज के भिन्न-पदस्थ लोगों को (पुरुषों को, स्त्रियों को) उसने मानवता के पैमाने से नापा और नापना बताया। समाज में जो ऊँचा है, वह ऊँचा हो सकता है, नहीं भी हो सकता। कौन कहाँ किस जगह को भर रहा है, यह तो बाह्य परिस्थितियों पर अवलम्बित हो सकता है। मुख्य प्रश्न यह है कि वह वहाँ अपने स्वधर्म के मध्य कैसे वर्तन करता है। शरद ने इसी भीतरी दृष्टि से मानव-समाज को देखा और दिखाया। और इस व्यापार में जितने सहानुभूति-पूर्ण और सहज साम्य के साथ शरद ने कर्तव्य-पालन किया, उतना कम देखने में आता है। रवि ठाकुर तक में पक्ष-समर्थन है। प्रेमचन्द में तो वह खूब उभार में है। इधर रूसी विचार से प्रभावित साहित्य में वह बेहद उग्रता से है। शरद की सहानुभूति व्यापक है, यह कथन इस कारण यथेष्ट नहीं है, क्योंकि वह सब कहीं एक-सी गहरी भी है। धीमान् की सहानुभूति और भी व्यापक हो सकती है; पर उसमें क्या अनुभूति की गहराई भी होती है? शरद में विस्तार कम है, तो घनता उस कमी को पूरा कर देती है। तात्विक गहनता उतनी नहीं है, तब प्रसाद सविशेष है। उनकी रचनाओं में

कहना कठिन हो जाता है कि कौन शरद को विशेष प्रिय है, और नायक हैं, कौन प्रतिनायक, कौन खल। जान पड़ता है, जैसे सब बस स्वयं हैं।

पर व्यक्ति की विशेषता ही उसकी मर्यादा भी होती है। शरद समाज-हित की दृष्टि से बेहद प्रभावक और उपादेय हैं (उनकी लोकप्रियता देखिए!) तब आत्म-हित की दृष्टि उन साहित्य में विशेष नहीं है। शरद में व्यक्ति और समाज सदा परस्पर सम्मुख रहे हैं। व्यक्ति और विराट्, व्यक्ति और समष्टि का साम्मुख्य वहाँ नहीं के तुल्य है। उनकी नायिका बंग-नारी-समाज की जैसी सदस्या है, क्या वैसी ही मानव नारी-समाज की भी है? शायद नहीं। उससे आगे बढ़कर क्या कोई ऐसी भी है, जो नर-नारी के भेद से (मानसिक स्तर पर) ऊँची हो जाती है? नहीं, ऐसा तो बिलकुल नहीं! कोई पुरुष-पात्र नहीं है, जिसके लिए मध्य बिन्दु कोई सदेह नारी न हो, कुछ और हो। और कोई नारी नहीं है, जिसने देह-धारी पुरुष को लाँघ कर इसी भाँति किसी एक संकल्प को समर्पण अथवा वरण किया हो।

जहाँ प्रश्न उस तल तक उठता है, वहाँ भारत में हमारी आँखें बरबस रवीन्द्र की ओर उठ जाती है। समाज के हेतु से नहीं, बल्कि मानों अपने भीतर से ही रवीन्द्र के पात्र समूची प्रकृति के ही साथ द्वन्द्वग्रस्त हैं। वे जैसे अपनी ही गाँठ को खोलना चाह रहे हैं।

इसी से शरद जब कि हमारे जी को मथ डालते हैं, तब

क्या वह हमें विराट् की ओर भी उद्बुद्ध करते हैं? स्तूपाकार महदादर्श-पात्र शरद नहीं खड़े करते। पात्र देते हैं, वह प्रतीक नहीं देते।

लेकिन क्या हम इसे शरद की त्रुटि कहकर छुट्टी पाएँ? मानव और मानव के प्रेम की, उनके सम्बन्धों की, समस्या को शरद ने इतना अपना लिया कि व्यक्ति और विराट् का प्रश्न पीछे रह गया। पर क्यों इसके लिए भी हम सामाजिक व्यक्ति की हैसियत से उनके और अधिक कृतज्ञ नहीं हो सकते?

—४—

एक मित्र के साथ की बात-चीत भूलती नहीं है। भूल जाती, अगर मैं मित्र को मामूली मान सकता। विचार और परख के आदमी थे और तबीयत के साफ़। कलकत्ते रहते थे। मैं साधारणतया शरच्चन्द्र के बारे में जिज्ञासा से भरा रहता था। जानकारी जो मिले उसी को संग्रह कर लेना चाहता था।

मैंने कहा—"सुना है, शरद बाबू यहीं कलकत्ते में किसी जगह हैं। आप जानते हैं?"

बोले—"शरद नावलिस्ट न? हाँ, रहते हैं। जगह बिलकुल ठीक तो नहीं जानता। कुछ काम है?

मैंने कहा—"काम तो क्या, यों ही पूछा। कभी मिलने को जी हो आता है।"

बोले—"जिससे मिलना चाहते हो, उसे जानते भी हो? मैं तो मिलने की सलाह न दूँगा।"

पूछा—"क्यों ?"

बोले—"आदमी कुछ—यों ही है। तरीक़े का आदमी नहीं है। संस्कारिता उसमें नहीं दीखती।"

पूछा—"आप उनसे मिले हैं ?"

बोले—"मिला नहीं, देखा है। यों इतिहास काफ़ी कुछ जानता हूँ। असल में उस व्यक्ति को सभ्य सोसाइटी मिली भी तो नहीं। और जब मिली तब संस्कार पक चुके होंगे।" सुनकर मैं असमंजस में पड़ गया। जानना चाहा कि ऐसी अभद्रता के सूचक लक्षण उन्होंने क्या-क्या पाए हैं। और फिर दीखने वाली भद्रता क्या संदिग्ध वस्तु भी नहीं हो सकती ? कपड़े ढंग के न हों तो क्या मन साफ़ नहीं रह सकता ?

मित्र ने बात सुनी अनसुनी कर दी और बताने लगे कि अजी, वह शख़्स शराब इतनी पीता है कि तौबह !

मैंने पूछा—"तो ! इनों-गिनों को छोड़कर यूरोप-अमरीका में सब शराब पीते हैं, तो क्या यह कहना होगा कि सब अशिष्ट हैं ! शराब इतनी बड़ी चीज़ है ?"

बोले—"और भी ऐब हैं। सभी ऐब हैं।"

मैंने कहा—"सब तो कहाँ से होंगे। क्योंकि सब ऐब शरद में ही हो जावेंगे, तो बाक़ी हम आपके लिए क्या बचेगा ? पर सुनते हैं, उन्होंने शादी नहीं की।"

मित्र सुनकर हँस दिए। वह हँसी जी की नहीं, व्यंग्य की थी। बोले—"शादी बन्धन जो है।"

मुझे यह बात रुची नहीं। चाहा कि बात व्यंग्य से नहीं, सफ़ाई से हो।

बोले—"साफ़ मुझसे न कहलाओ। फिर एक क़िस्सा नहीं है। कहूँ भी तो क्या-क्या? और तुम न सुनो तो अच्छा।"

कुछ रुक कर मैंने पूछा—"आपने उनकी रचनाएँ पढ़ी हैं?"

बोले—"कुछ पढ़ी हैं। लिखता अच्छा है। लेकिन उससे क्या?"

मैंने कहा कि मुझे नहीं मालूम होता कि लिखकर दूसरे के मन को प्रभावित करना इतना आसान काम है और वह काम बुरे मन और मैली तबीयत से हो सकता है।

बोले—"अभी दुनिया और देखो। लिखना लिखना है, इन्सानियत और चीज़ है।"

मैं उन मित्र की शरद के प्रति ऐसी अप्रिय भावनाओं का भेद अब भी नहीं जानता हूँ। शरद से उनका वैर नहीं। फिर उन भावनाओं में ऐसी हीनता, ऐसी परुषता क्यों थी? प्रतीत होता है कि ऐसे मामलों में स्वरति ही परवैर जितना काम दे जाती है। वह मित्र अपने सम्बन्ध में इतने आश्वस्त थे कि जैसे आत्म-निरीक्षण और आत्म-ग्लानि की उन्हें आवश्यकता ही न हो। इससे जिस आसानी से अपने को सही मानते थे, उसी आसानी से दूसरे को ग़लत मान सकते थे।

उन्होंने जानना चाहा कि आखिर शरद को जानने की मैं क्यों इतनी उत्कंठा रखता हूँ। कुछ दिलचस्प कहानियाँ लिख दी हैं, इसीलिए?

मैंने कहा—"हाँ।"

बोले—"कहानी तो मन-गढ़न्त कल्पना होती है। जो अच्छी कहानी लिखता है, वह अच्छा झूठ बोलता है, यही तो मतलब हुआ ?"

मैंने कहा—"यह भी सही। लेकिन क्या इतनी तसल्ली कम है कि बुरा झूठ नहीं बोलता ? और जो अच्छा है, वह सच ही होता है। झूठ भी कभी अच्छा हुआ है ?"

बोले—"चलो, तर्क छोड़ो। लेकिन उस शख़्स से आखिर चाहते क्या हो ?"

कहा—"प्रणाम-निवेदन करना चाहता हूँ। मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

वह मेरी इस भावना को नहीं समझ सके। मैं भी क्या समझा सकता था। निश्चय जाना, यह अन्त में भावनाओं का ही प्रश्न है। 'जाकी रही भावना जैसी'। क्योंकि इसके बाद उन्होंने शरद बाबू के सम्बन्ध में जाने क्या-क्या बातें न सुनाई। उन्हें ज्यों-का-त्यों माना जाय तो शरद इतने काले बनेंगे, जितना कोयला। मैं सब सुनता रहा।

बोले—"अब भी उनके लिए तुम्हारा आदर कायम है ?"

मैंने कहा—"सच कहूँ तो विस्मय कुछ बढ़ गया है। और आदर भी बढ़ गया है। जो शरद इतना मैला है और फिर भी अपनी रचनाओं से इतनी सुनहरी और विविध रंगों की आभा बिखेर सकता है, तो इससे मेरे मन को यही

मालूम होता है कि वह और भी जानने योग्य है, और भी गहन है।"

बोले—"तुम मेरा विश्वास नहीं करते ?"

मैंने कहा—"इसी लिए नहीं करता कि मैं शरद को देवता नहीं समझना चाहता। उनकी रचनाओं में जो है, उस रचनाकार को सच मानूँ, और आपकी बातों में जो शरद दीखता है, उसे भी विश्वसनीय मान लूँ, तो शरद मानवोत्तर, लोकोत्तर हो जाते हैं—एक दम विस्मय-पुरुष।"

नहीं जानता कि भिन्न लोगों की भिन्न, यहाँ तक कि प्रतिकूल, धारणाओं का मेल कैसे बैठाया जावे। सच यह है कि सत्य अनन्त है। और झूठ बस अहंकार ही है, जिसका शरद में इतना अत्यन्ताभाव है कि मन होता है कि कहूँ कि शरद धार्मिक पुरुष थे। उनकी रचनाएँ लगभग धर्म-ग्रन्थ ही हैं।

अचरज है कि जिस रचना की सहायता से मेरे मन में प्रीति का आवेश भर उठता है, उसी रचना के कारण दूसरे व्यक्ति को शरद दानव किस भाँति प्रतीत हो आते हैं। देखता हूँ कि मेरी कृतज्ञता और श्रद्धा उनके प्रति जितनी अडिग है, उस ओर की अश्रद्धा भी उतनी ही कट्टर है। पर वह जो हो और व्यक्तियों की मतियाँ जितनी भिन्न हों, यह पक्का निश्चय है कि जो शक्ति विना किसी आयुध के काग़ज पर छपे शब्दों द्वारा किसी एक के भी जी को हिलाकर उसमें से उच्छ्वास और आँसू निकलवा सकती है, वह शक्ति दानवी नहीं है। नहीं, दानवी वह कभी नहीं है।

—५—

दर्शनशास्त्र के एक बंगाली प्रोफेसर से, जो अब चौथेपन में हैं और अवकाश-प्राप्त हैं, मिलने पर अक्सर कला और धर्म की चर्चा चल निकला करती है। कहने लगे—"कला और पैसा, ये दो हैं। एक दूसरे पर नहीं टिक सकते। कला को व्यवसाय बनाना ग़लत है। लेकिन जीना तो कलाकार को भी पड़ता है न। जीने में पैसा लगता है। और आज दुनिया की यह हालत है कि पैसा पाने के लिये छीन-झपट की वृत्ति चाहिए। राजनीति का बोलबाला है और पैसा मुद्रा-नीति के तावे है। इससे कला का व्यभिचार होता है। व्यभिचार व्यभिचार हो, पर उससे टके जो सीधे होते हैं। इससे टके की दुनिया में व्यभिचार आर्ट क्यों न होजाय। इससे आज दिन 'आर्टिस्ट' के आर्ट की ज़रूरत नहीं है, 'आर्टिज़न' वाला आर्ट चाहिए। इससे आर्ट का सत्यानाश हो जायगा, माना, पर रोटी तो मिलेगी……"

बाबा (उनको हम यही कहते हैं) बोलते कम हैं, बोल पड़ते हैं तो रुकना सहज नहीं रहता। और इस आर्ट और व्यवसाय के विरोध के बारे में जैसे उनके भीतर कहीं घाव है। ठेस लगी कि फिर व्यथा ही वहाँ से निकल पड़ती है।

मैंने कहा—"सुनिए। आप शरद को जानते हैं ?"

बोले—"बंगाली हूँ, शरद को न जानूँगा ? हाँ, तुम समझते क्या हो। शरद पैसे को मिट्टी भी नहीं, मैल समझता था।

कुरता-धोती से आगे उसने कपड़ा नहीं जाना। धन आया, पर मन पर क्या उसकी छाया भी आ सकी ?"

इसके बाद स्वदेश, विदेश, आदिकाल और आधुनिक-काल के कलाविदों की चर्चा उन्होंने छेड़ी कि—

मैंने कहा—"आप निकट से उन्हें जानते हैं न ?"

बोले—"हमारा एक क्लास-फ़ेलो शरद का बहुत घनिष्ठ मित्र रहा है।"

मैंने कहा—"मित्र? तो शरद मित्र-हीन नहीं थे, जैसे कि वह पत्नी-हीन थे ?"

बोले—"ओः, मित्र से वह बात नहीं। He was a solitary soul that way (उस दृष्टि से वह एकाकी थे)।"

मैंने पूछा—"निकट के रिश्तेदार हैं ?"

बोले—"रिश्तेदार होंगे। शायद हैं। पर मेरा विश्वास है कि शरद के अपने चक्कर में कोई नहीं है। या कहो किसी के चक्कर में वह स्वयं नहीं है।"

मैंने पूछा—"शादी ?"

"एक बरमीज कोई थीं। फिर वह भी नहीं थीं।"

"नहीं रहीं ! यानी—"

"नहीं नहीं। सुना, उन्हें ख़ुद बरमा भेज दिया।"

वह व्यक्ति जिसने पत्नी-रूप में नारी को कभी नहीं पाया—प्रतिभा पाई, बासठ वर्ष की वय पाई, स्नेह से लबालब भरी आत्मा पाई, फिर भी नारी को जिसने पत्नी नहीं पाया—ठीक

उसी व्यक्ति ने नारी हृदय को जितना स्पन्दनशील और सम्पूर्ण भाव से चित्रित किया, वैसा क्या कोई गृहस्थ कर सका ? नहीं कर सका।

इसीसे मैं इस विरागी, फिर भी संसारी प्राणी के प्रति उत्कंठित जिज्ञासा से भर-भर आया।

देवदास पार्वती की अलख जगाए रहा। लेकिन जब वह विवाहित पार्वती रात्रि के एकान्त में सम्पूर्ण-भाव से उसके प्रति अपना आत्मार्पण-निवेदन कर उठी, तब निविड़ अधमाचार से घिरे देवदास ने क्या किया ? क्या पार्वती को लिया ? नहीं लिया नहीं। मूर्ति की भाँति उसे अपने से दूर ही रक्खा। मूर्ति की भक्ति उसने अपने लिए चाही; मूर्ति पाने की स्पर्द्धा नहीं की।

क्यों ?

मालूम होता है शरद स्वयं उसके जवाब हैं। और नहीं तो नारी-हृदय के प्रभु शरच्चन्द्र के चिर-एकाकी रहने का भेद हो क्या सकता है ? वह है, तो प्रेम की प्रगाढ़ता ही है।

शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय

कलापूर्ण शैली का सबसे बड़ा गुण यह है कि उसमें बुद्धि और हृदय का पूरा मेल हो। इस निबंध की, ऐसी ही 'गुणवती' शैली है। बुद्धि ने पाँच बातें कही हैं। साफ साफ निबंध के पाँच काण्ड है। आलोचना समझने में तनिक सा भी भ्रम नहीं होता पर इन सुलझी हुई बातों में आलोचक के हृदय ने एक प्रेम का नाता समझाया है। पाँचों खण्डों में वही एक अखण्ड बात मिलती है कि शरद ने मानव-हृदय को पहचानने का यत्न किया था और पहचान भी लिया था। मानव-हृदय की यही अनुभूति—जीवन की यही ठोस वस्तु-शरद् का रहस्य है, उनकी सफलता और लोक-प्रियता का प्रधान कारण है। इसी एक बात को शरद् ने अपनी अनेक कृतियों में समझा है और उनके आलोचक जैनेन्द्र ने उसीको कई ढंग से अपने निबंध में परखने की चेष्टा की है। आलोचक की सबसे पहली चेष्टा होती है अपने हृदय को टटोलना कि उसपर क्या प्रभाव पड़ा है। आलोचना के पहले खण्ड से यह

स्पष्ट है कि जैनेन्द्र के हृदय पर शरद् का वड़ा प्रभाव है। वे उन्हें असाधारण समझते हैं। सामान्य मानवता की प्रतिमूर्ति। जैनेन्द्र स्वयं हिन्दी के यशस्वी कर्त्ता है, कहानीसाहित्य के मर्मज्ञ हैं, निष्पक्ष आलोचक हैं। क्योंकि न तो वे शरद के मित्र हैं और न वंगाली होने के नाते स्वसाहित्य के भक्त। ऐसे विदग्ध सहृदय का हृदय अवश्य कसौटी माना जा सकता है।

दूसरे खण्ड में आलोचक ने शरद की कृतियाँ ली हैं। पहले उन्होंने सीधे से अपनी वात कह दी कि शरद वहुत वड़े हैं। फिर उनकी रचनाओं में उन्होंने कारण ढूँढ़ा है। रचनाओं में साधारणीकरण की वह शक्ति है कि सभी भावुकों के मन के निकट वे प्रत्यक्ष अनुभव वन वन जाती हैं। पर मननशील मनुष्य रचनाओं के भीतर पैठकर देखता है कि उनमें आत्मदान का धन है। यही आत्मदान शरद की आत्मा है, स्रष्टा का जीवन है। इससे भी वड़ी वात यह है कि सच्चा दाता दान करता है जान वूझकर किसी कारण से नहीं, अपने स्वभाव से लाचार होकर। यदि कभी उसी महापुरुष को दान का ज्ञान हो गया तो फिर ज्ञान की गंध आने लगती है चाहे वह 'सु' हो अथवा 'कु'। शरद में यह ज्ञान-विज्ञान तनिक भी नहीं है।

तीसरे खण्ड में आलोचक एक अवदान सुनाता है जिससे भारत के कर्त्ताओं में शरद का स्थान स्थिर हो सकता है। वे सर्वश्रेष्ठ कहानीकार हैं। इसी वीच में यह वात भी कह दी गई है कि जवतक लोगों को अनुभव कम रहता है, प्रत्यक्ष जीवन की समझ तक नहीं हो पाती, तवतक वे सहृदय होने पर भी यही कहा करते हैं कि अमुक लेखक को कहीं से गुरुमंत्र मिल गया है, उसीके वलपर चमत्कार करता है। देखो न, वार वार वही प्रेम और प्रणय की कहानी आती है। विस्तार और व्यापकता तो है ही नहीं। आलोचक

ने इन सब बातों का बड़ा बढ़िया उत्तर दिया है। वह शरद के लिए ही नहीं, 'प्रसाद' जैसे अन्य साहित्यकारों के लिए भी सोलह आने ठीक है।

चौथे खण्ड में शरद के घरेलू जीवन के बारे में बड़े पते की बात है। शरद चरित्रहीन थे। वे थे या नहीं पर लोकप्रवाद तो यही कहता है। प्रायः साधारण कोटि के उपदेशक और आलोचक, ऐसे कवियों को देखकर कह बैठते हैं कि इन सबका साहित्यिक जीवन ऊंचा होता है पर असली जीवन बहुत गिरा रहता है। इस क्रूर और भोली निन्दा का उत्तर हमारे निबंध-लेखक ने दो प्रकार से दिया है। यदि हम सदय और सहृदय होकर देखें तो यह भावना की बात है—कवि, अच्छा कवि, कभी पतित और हीनहो नहीं सकता। दूसरी बात बुद्धि की है। कवि यदि चरित्र का काला है, वैसा काला कोयला जैसा वह कहा जाता है; और साथ ही उसकी देन, इतनी समुज्ज्वल है कि दूसरों को भी उससे उजेला मिलता है, तो अवश्य ही वह महापुरुष है, लोकोत्तर व्यक्ति है।

पांचवे खण्ड में शरद के चिर-एकाकी रहने की बात है। उनके न तो मित्र थे और न संबंधी। उनका घनिष्ठ कोई न था। ऐसे एकाकी (अकेलुआ) ने गृहस्थी को इतनी अच्छी तरह समझा कि गृहस्थ उस पर निछावर हो गए। इसका कारण था उसकी एकान्तसाधना—प्रेमसाधना।

इस निबंध की शैली में एक बड़ा आकर्षण है। वह यह कि यद्यपि पांच भिन्न बातों की ओट में केवल एक तत्त्व की–शरद के प्रेम तत्त्व की–व्याख्या है तथापि वे पांचो खण्ड पांच कहानी जैसे हैं। आपबीती घटनाओं का उल्लेख आलोचना की गंभीरता को भी रोचक बना देता है। इसी कारण आलोच-नात्मक निबंध के मुख्य गुणों के साथ ही इसमें साहित्यिक पुट भी है। यह

प्राभाविक आलोचना का अच्छा नमूना है। अपने हृदय की बात सुनाता है कि किस प्रकार उस पर प्रभाव पड़ा पर यह काम वह इतने कौशल से करता है कि उसके श्रोता पर भी वैसा ही प्रभाव पड़े और वह मूल कृति को पढ़ने के लिए उत्सुक हो जाय। इस प्रकार आलोचक अपनी भावानुभूति का अनुभव दूसरे को कराता है अर्थात् वह भी साहित्य रचता है। इसीसे सफल प्राभाविक आलोचना स्वयं साहित्य है।

आलोचना की ऐसी साहित्यिक शैली के वारे में कहा जा सकता है कि शैली की पूर्णता है अनेकता में एकता, स्वतंत्रता में सरलता और स्पष्टता में वह कथन-शक्ति जो औचित्य को संभालते हुए मानव-हृदय को झंकृत कर दे।

3

वंशज

बात भटनागर परिवार की है। प्रातः सात बजे लेडी डाक्टर ने कमरे से बाहर आकर हँसते हुए गृहिणी से कहा—"माता जी, बधाई है, बालगोपाल पधारे हैं।"

गृहिणी का चिन्ताकुल मुख एक बार ही श्वेत हो गया, मानो प्राण ही नहीं रहे देह में। कोने में बैठी नौकरानी क्षेमा की आँखों से चुपचाप आँसू बरसने लगे। लेडी डाक्टर ने मन ही मन चकित होकर सोचा—"भगवान! यह क्या काण्ड है? बालिका होने पर परिवार को रोते देखा है; पर बालक के शुभागमन पर गंगा-जमुना बहती तो सुनी नहीं"! लेकिन इस गंगा-जमुना बहाने का जो कारण है, वह किसी को क्या मालूम? वर्तमान को समझने के लिये पुराने इतिहास के पन्ने उलटने पड़ेंगे।

और यह पहले की बात है—मेरठ में कृष्णबिहारी बाबू का परिवार बहुत पुराना है। बहुत पुराने के अर्थ हैं औरंगजेब के समय का। कृष्णबिहारी बात करते, तो किसी न किसी प्रकार वह पहुँच जाती उनके दो सौ वर्ष पहले के पूर्वज कृष्णचन्द्र तक। उनके जीवन की कौतुकमयी, आश्चर्ययुक्त, ऐश्वर्यपूर्ण घटनाओं का वर्णन करते २ उनका स्वभाव से शान्त चेहरा एक बार ही सुर्ख हो जाता, नेत्र चमकने लगते। और नेत्र चमकने की बात भी है। पूरे दो सौ वर्षों से इस परिवार ने अपना मस्तक ऊँचा रक्खा है। उनके वंशज अधिक नहीं हैं। पेड़ का तना बिलकुल सीधा खड़ा है। इधर उधर से शाख नहीं निकली, लेकिन है तो एक और सीधा। फिर कृष्णबिहारी के नेत्र वंश के वैभव को सोचकर क्यों न गर्व से चमकें। कृष्णबिहारी के लड़के हैं आनन्दबिहारी। बस, एक हैं। इस परिवार में कभी दो लड़के नहीं हुए। यह भी परिवार के ऐश्वर्य और वैभव का शुभ-सूचक है।

जिस दिन आनन्दबिहारी की बहू के चौथी कन्या का जन्म हुआ, पड़ोसिन हेमनलिनी ने दबे हुए स्वर से गृहिणी को बधाई देकर कहा—"लड़की जिये, घर के लिये शुभ हो और भाई को लावे।"

गृहिणी लक्ष्मी ने तुरन्त ही कहा—"हेमनलिनी बहन, तुम लड़के के लिए शोच न करो। हमें लड़के के लिये कभी हाथ पसारना नहीं पड़ा। हमारा वंशज अपने समय पर आ जायगा।"

पास खड़ी हुई अन्नपूर्णा, जो दूर की बुआ लगती है जल्दी

से बोली—"हेमनलिनी, हमारे लिए लड़कियाँ भी लड़के के समान हैं। हँसती क्यों नहीं हो जी ? क्या मन ठीक नहीं है।"

समय से लक्ष्मी की बात पूरी हुई। बालक श्यामबिहारी ने शुभ समय में जन्म लिया। दादा और दादी की प्रसन्नता का आवेग मानो थमता ही नहीं। कृष्णबिहारी बाबू का आधा-समय बीतता है ज्योतिषियों के साथ। सब एक स्वर से कहते हैं, बच्चा बड़ा भाग्यवान है। बड़ी चमत्कारी कुंडली है महाराज ! जो भी हो, सारे परिवार में सुख की हँसी बिखर पड़ी। गृहिणी लक्ष्मी नौकर से भी बात करती तो हँसकर। नौकर-चाकर भी मानो प्रसन्नता में रँगे हैं। क्षेमा नौकरानी तो आधी पागल हो रही है। बहूजी, भैया साहब ! बस, बात यहीं रह गई हँसी का फुहारा बरस पड़ा।

गृहिणी कहतीं—"अरी, तू क्या पागल हो जायगी ? क्या घर में कोई बात निराली हुई है ?"

जो कुछ भी हो; पर धूमधाम तो निराली ही है। दिन भर बाहर शहनाई बजती है। सदाव्रत खुला है। घर में कोकिल-कंठ से पारस्परिक स्त्रियाँ राग अलापती हैं। दिन भर लोगों के आने-जाने की चहल-पहल है। सारे शहर में मशहूर हो गया, भटनागर परिवार का वंशज आ गया।

इसी सुख की गंगा में नहा-नहा कर बालक चन्द्र की नाईं बढ़ने लगा। पहले दादा की गोद में लेटे-लेटे उनकी दाढ़ी के बाल नोचे, फिर कुछ दिन बाद छोटे-छोटे हाथों से हाथ पकड़

कर कहना सीखा—त्रा-बा-आ। कृष्णविहारी बच्चे को गोद में लेकर गृहिणी से कहते—'देखती हो पेशानी। बच्चा बड़ा नाम-वाला निकलेगा।' और प्यार से बच्चे के हाथ को अपने मुँह पर फेरते। फिर जब वच्चा और वड़ा हुआ, तब वह उनके साथ-साथ खाता और उन्हीं के पास सोता। इस तरह से वालक श्याम-बिहारी के पाँच वर्ष बीत गये।

एक दिन संध्या को दादा के साथ घूम कर लौटा, तब माँ की गोद में छुपकर कहा—"माँ, मैं पढूँगा।"

बाबा ने कहा—हाँ, हाँ, भैया बड़ा हुआ, जरूर पढ़ेगा।"

गृहिणी की तरफ देखकर कहा—"सुनती हो जी, भैया का विद्यारम्भ करवाना होगा। जल्दी ही, समझीं! पंडितों को कल बुलवाना।

पर हाय रे भगवान! कल की बात को किसने जाना है! इस रंगीन आवरण के पीछे का भेद किसने पाया है?

सुबह हुई। नित्य की तरह दादा ने बच्चे के माथे पर हाथ फेरा और हाथ मानो वहीं माथे पर ठिठुर गया। यह क्या है ठण्डा? ठण्डा क्या है? कृष्णबिहारी चीत्कार करके गिर पड़े। पल भर ही में घर में हाहाकार मच गया। बालक सबका दिल लूट कर चला गया।

पड़ोसिनें आ-आकर सान्त्वना दे-देकर चलीं गईं। चलते २ हेमनलिनी ने तारा ठकुरानी से धीरे से कहा—"दुनिया में दुनिया के लोगों की तरह चलना चाहिए, भई! गर्व करने से

देखो तो क्या होता है।" पड़ोसी रो-पीट कर चले गये, पर घर में तो मानों रात आ गई। एक ही बार। और इस रात में नक्षत्र भी तो नहीं हैं।

इस तरह बीत गए १८ वर्ष। और अब १८ वर्ष के बाद आज सुबह सुबह यह लेडी डाक्टर खड़ी खड़ी कह रही है कि 'बहूजी, बालगोपाल पधारे हैं।' तो यह गृहिणी क्या कहे क्या करे?

अंदर कमरे में ४५ वर्ष की बहू बच्चे को गोद में लेकर घुमा-फिराकर देखती है, यह स्वप्न है या सत्य? बाहर कमरे में कृष्णबिहारी और आनन्दबिहारी बैठे हैं, कह रहे हैं, बालगोपाल आये हैं! कौन से बालगोपाल?

लेकिन घर में सन्नाटा है पूरा। अरे किधर हैं २३ वर्ष पहले की शहनाई और राग के सुर? न आँसू है न हँसी! केवल क्षेमा चुपचाप बैठे आँसू बहाये जा रही है!

वंशज

'वंशज' सुभद्रा काटजू की सफल कहानी है। देखने में छोटी पर प्रभा में बड़ी मार्मिक है। करुण रस की कहानी है पर आँसू भीतर ही रह जाते हैं, सिर्फ मीठा सा दर्द मालूम पड़ता है। यही दर्द कथा का प्राण है।

कथावस्तु है बड़ी छोटी पर उसमें तेईस वर्ष की पूरी कहानी है। साकांक्षता आदि से अन्त तक बनी रहती है।

पूर्णता और सांकाक्षता के साथ ही कहानी में घटना का वह आकर्षण भी है जिसके कारण साधारण पाठक भी उसे पढ़ता है। उसमें घरेलू कहानी की रमणीयता पूरी मात्रा में है। इसका सबसे बड़ा गुण है इसके संग्रह और त्याग की पहचान। न कोई बात छूटी है और न कोई व्यर्थ कही गई है। केवल एकवाक्य ऐसा है जो कथावस्तु के नाटकीयत्व और सांकाक्षत्व को शिथिल सा कर देता है। 'पर हाय रे भगवान्।' वाक्य यदि न आता तो कथा का वन्ध और भी दृढ़ रहता।

भाषा और शैली के भी सभी गुण इस कहानी में हैं। सीधी, सरल हिन्दी रसास्वादन में सहायक हुई है। लपेट और कृत्रिमता का नाम नहीं

नहीं है। जिस प्रकार कथावस्तु किसी परिवार की एक 'बात' है उसी प्रकार भाषा भी किसी गृहिणी की बातचीत है। यद्यपि शैली में नाटकीयता है तथापि वह इतनी स्वाभाविक है कि उसका अलंकार उसी में छिपा है। शैली का दूसरा बड़ा गुण है उपक्रम और उपसंहार की एकात्मता। आरंभ और अन्त दोनों ही बालगोपाल और आँसू के साथ संबद्ध हैं।

कहानी की ढलन वर्णनप्रधान है। उसमें कथोपकथन की अधिक गुंजाइश नहीं। परन्तु जो वाक्य संवाद में आए हैं वे वक्ताओं के चित्र और चरित्र दोनों को स्पष्ट अंकित कर देते हैं। इसी प्रकार यद्यपि यह कहानी चरित्र-प्रधान नहीं है, रसप्रधान है, तथापि कृष्णबिहारी, गृहिणी, बुआ अन्नपूर्णा, पड़ोसिन, हेमनलिनी आदि के चरित्र पूरे पूरे व्यक्त हो गए हैं। पढ़ने में ऐसा लगता है कि हमें भी ऐसे जीव देखने को मिले हैं।

अन्त में यदि कहानी का कोई प्रयोजन पूछा जाय तो यही कहना पड़ेगा 'भली बात सुनाने का भी कोई प्रयोजन हो सकता है?' रोज ही पड़ोसिनें आपस में ऐसी बातें कहा सुना करती हैं। कलाकार ने उन्हींमें से एक को लिख दिया है। यही निष्प्रयोजनता कला की सफलता है।

इस प्रकार कहानी में एक मार्मिक भाव का पूरा चित्रण हुआ है। लोगों की हँसी और आँसू चित्रित करके अनुभव कराया गया है उस हृदय का जिसमें न आँसू हैं न हँसी।

पूरी कहानी पढ़ सकने पर आलोचक संतोष के साथ कहता है कि 'वंशज' नाम सोलहो आने ठीक है। करुण रस को पुष्ट करने वाली बात वंशज का सहज प्रेम ही है।

श्री बनारसी दास चतुर्वेदी

पत्रलेखन-कला

सन् १८८७—

२१ वर्ष का एक फरासीसी युवक पेरिस की एक मामूली गली में अपने छोटे-से कमरे में बैठा हुआ है। वह कला और गानविद्या का प्रेमी है। अभी हाल ही में टाल्सटाय की पुस्तक "हमारा कर्तव्य क्या है?" (What is to be done) छपी है। इस पुस्तक में टाल्सटाय ने कला-सम्बन्धी प्रचलित विचारों पर काफी ज़ोरदार आक्षेप किये हैं। इस पुस्तक को पढ़कर उस युवक की मानसिक स्थिति डावाँडोल हो गई, क्योंकि अब तक वह टाल्सटाय को अपना आदर्श मानता रहा है। उसने मनमें सोचा कि चलो, टाल्सटाय को एक चिट्ठी ही लिख दूं। वह महान लेखक मेरे जैसे मामूली युवक के पत्र का उत्तर तो भला क्यों देने लगा। उसने टाल्सटाय को एक पत्र भेज दिया, जिसमें उसने

अपनी शङ्काएँ लिखी थीं। और कुछ दिनों तक उत्तर की प्रतीक्षा भो की, फिर इस बात को भूल ही गया। कुछ सप्ताह इसी तरह बीत गये। एक दिन शाम के वक्त वह अपने कमरे पर लौटा, तो क्या देखता है कि फरासीसी भाषा में एक लम्बी चिट्ठी कहीं से आई है! उसको खोलने पर मालूम हुआ कि यह तो टाल्सटाय का पत्र है! यह पत्र ३८ पृष्ठ का था,या यों कहिये कि एक छोटा सा ट्रेक्ट ही था। उस अपरिचित साधारण युवक को टाल्सटाय ने 'प्रियबन्धु' लिखा था। पत्र के प्रारम्भिक शब्द थे-"तुम्हारी पहिली चिट्ठी मुझे मिली। उससे मेरा हृदय दुःखित हो गया। पढ़ते-पढ़ते आँखों में आँसू आ गये।" इसके बाद टाल्सटाय ने अपने कला-सम्बन्धी विचार उस पत्र में प्रकट किये थे— "दुनियाँ में वही चीज़ कीमती है, जो मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध को दृढ़ करे, जो उनमें भ्रातृभाव स्थापित करे, और सच्चा कलाकार वही है, जो अपने सिद्धान्तों तथा विश्वासों के लिये त्याग और बलिदान करने के लिये तैयार हो। सच्चे पेशे की पहिली शर्त कला का प्रेम नहीं, बल्कि मानव-जाति से प्रेम है। जिनके हृदय में मनुष्य-जाति के प्रति प्रेम है, वे ही कभी कलाकार की हैसियत से उपयोगी कार्य करने की आशा कर सकते हैं।" टाल्सटाय के विस्तृत पत्र का सारांश यही था।

इस पत्र ने उस युवक के हृदय पर बड़ा भारी प्रभाव डाला। सबसे महत्वपूर्ण बात उसे यह जँची कि इस विश्व-विख्यात महापुरुष ने मेरे जैसे एक अपरिचित युवक को इतनी लम्बी और

सहृदयता-पूर्ण चिट्ठी भेजी है। और तब से उस युवक ने यह निश्चित कर लिया कि यदि कोई आदमी अपने संकट के समय में अन्तरात्मा से कोई पत्र भेजेगा, तो मैं अवश्य ही उसका उत्तर दूंगा, क्योंकि संकटग्रस्त मनुष्य की सेवा ही कलाकार का सर्वोत्तम गुण है।

इस घटना को आज ४६ वर्ष होने को आये। इन ४९ वर्षों में उस युवक ने, जो आज रोमाँ रोलाँ के नाम से संसार प्रसिद्ध हो चुका है, हजारों ही चिट्ठियाँ लिखी हैं और सहस्रों ही व्यक्तियों के लिए पथप्रदर्शक का काम किया है। टाल्सटाय की उस एक चिट्ठी ने जो बीज बोया था, वह आज वटवृक्ष के रूप में लह-लहा रहा है। रोमाँ रोलाँ के लिखे हुए हजारों हो पत्र जो साहित्यिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, संसार के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के पास सुरक्षित हैं। जिस दिन टाल्सटाय ने उस पत्र के लिखने में अपने समय के कुछ घंटे व्यय किये थे, उन्होंने स्वप्न में भी यह ख्याल न किया होगा कि आगे चलकर मेरा वह पत्र इतना सफल होगा।

इस घटना से पत्र-लेखन-कला का महत्व प्रकट होता है। क्या ही अच्छा हो, यदि हम लोग—ख़ास तौर से हिन्दी-लेखक और सम्पादक—इस बात को हृदयङ्गम करलें। पत्र-लेखन-कला पर अधिक लिखने के पहिले एक बात स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है, वह यह है कि जो आदमी बज़ात ख़ुद अच्छा नहीं है, वह अच्छा पत्र-लेखक हर्गिज़ नहीं बन सकता। कृत्रिम ढंग से लिखे

हुए पत्रों की पोल बड़ी आसानी से खुल जाती है। जिस तरह कोई कुशल व्यापारी रुपये को हाथ में लेते ही खरे और खोटे सिक्के की पहचान कर लेता है। उसी तरह किसी सुसंस्कृत आदमी के लिये स्वाभाविक और बनावटी पत्रों में भेद करना कोई मुश्किल बात नही है। इसके सिवा बने हुए पत्र काग़ज़ी नाव की तरह हैं, जो चल नहीं सकते। काठ की हाँड़ी की तरह केवल एक बार आप उनसे काम ले सकते हैं। अच्छा पत्र-लेखक बनना अत्यन्त कठिन है। अन्य क्षेत्रों में तो आपको थोड़े से आदमियों का मुकाबिला करना पड़ता है; पर यह क्षेत्र तो ऐसा है, जिसमें दुनिया आपकी प्रतिद्वन्द्विता के लिये खड़ी है, क्योंकि चिट्ठियाँ तो लाखों-करोड़ों ही आदमी नित्यप्रति लिखा करते हैं।

खेद की बात है कि हिन्दी साहित्यसेवियों ने इस कला के महत्व को अभी तक नहीं समझा। हिन्दी में अभी तक एक भी ऐसी पुस्तक नहीं निकली, जिसमें इस कला पर विस्तारपूर्वक लिखा गया हो, और जिन महानुभावों ने पुस्तकें लिखी हैं, वे खुद इस विषय के विशेषज्ञ नहीं हैं। इन पंक्तियों के लेखक को चिट्ठी लिखने का एक व्यसन-सा रहा है, और पिछले पचीस वर्ष में उसने हजारों ही चिट्ठियाँ लिखी होंगी और सैकड़ों ही चिट्ठियों का संग्रह उसके पास है। अतएव वह अपने इस विषय के अनुभवों को 'विशाल भारत' के पाठकों सम्मुख उपस्थित करता है।

हिन्दी-क्षेत्र के जितने लेखकों, कवियों तथा सम्पादकों से पत्र-व्यवहार करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है, उनमें पूज्य पं०

महावीरप्रसाद द्विवेदी, स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा, स्वर्गीय गणेश-शंकर विद्यार्थी और स्वर्गीय पं० श्रीधर पाठक मुख्य हैं। नवीन लेखकों के नाम हम यहाँ जानबूझकर छोड़ रहे हैं। उनका ज़िक्र हम द्वितीय लेख में करेंगे।

यदि पत्र-लेखन-कला के सब गुणों को मिला कर देखा जाय, तो निस्संदेह स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा इस कला के आचार्य सिद्ध होंगे। उनका मुक़ाबला करने वाला पत्र-लेखक हिन्दी-क्षेत्र में अबतक कोई नहीं हुआ और न निकट भविष्य में इसकी आशा ही की जा सकती है। पत्र-लेखन के लिए जिस फ़ुर्सत की आवश्यकता होती है, वह स्वर्गीय शर्मा जी के पास ख़ूब थी, और साथ ही भाषा पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। इन सबसे बड़ी बात यह थी कि वे अत्यन्त सहृदय और ज़िन्दादिल आदमी थे। इसलिए वे कलम के रास्ते काग़ज पर कलेजे को उड़ेल कर रख सकते थे। उनकी सम्भाषण-शक्ति और स्मरण-शक्ति भी अद्भुत थी। ग़रज यह कि अच्छे पत्र-लेखक में जो गुण होने चाहिये, वे उन में आश्चर्यजनक मात्रा में विद्यमान थे। स्वर्गीय शर्मा जी की लगभग छै सौ चिट्ठियाँ हमारे पास सुरक्षित हैं और यदि किसी के पत्रों का संग्रह पुस्तकाकार छपाने योग्य है, तो वे शर्मा जी ही हैं।

हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र के बाहर के आदमियों में जिनके पत्रों का छोटा-मोटा संग्रह हमारे पास है, उनमें दीनबन्धु सी० एफ० ऐण्डूज़ और माननीय श्रीनिवास शास्त्री मुख्य हैं। महात्मा गांधी के

भी अनेक पत्र हैं, और दो तीन चिट्ठियाँ कवीन्द्र की भी हैं। पत्र लेखकों में मि० ऐण्ड्रूज़ के मुकाबले के आदमी बहुत कम निकलेंगे। स्वयं कवीन्द्र रवीन्द्र ने 'मोरिया' नामक जहाज़ से अपने १५ जुलाई सन् १९२१ के पत्र में मि० ऐण्ड्रूज़ को लिखा था—

"About one thing I can never hope to compete with you. As a letter-writer you are incomparable !"

अर्थात्—'एक बात में मैं आपका मुकाबला करने की आशा भी हर्गिज़ नहीं कर सकता। पत्र-लेखक की हैसियत से आप अद्वितीय हैं।' इसके बाद गुरुदेव ने लिखा था—'आपके पत्र एक के बाद एक इस प्रकार आते हैं, जैसे प्यासी ज़मीन पर वर्षा का जल, और आपके लिए पत्र लिखना उतना ही स्वाभाविक है, जितना शान्ति-निकेतन के शालवृक्षों के लिए वसन्त ऋतु में नवीन पत्रों का धारण करना।'

मि० ऐण्ड्रूज़ की जो प्रशंसा कविवर ने की है, उसमें अत्युक्ति नहीं; पर स्वयं कविवर पत्र-लेखकों में शिरोमणि हैं। जो महानुभाव उनके अँगरेज़ी पत्रों को पढ़ना चाहें, वे George Allen के यहाँ छपी हुई उनकी Letters to a Friend (एक मित्र को पत्र) नामक पुस्तक पढ़ सकते हैं। इस संग्रह में अनेक पत्र लाजवाब हैं, और उनका सौन्दर्य तो पढ़ने पर ही प्रकट होता है। कवीन्द्र के बँगला पत्र तो उनसे भी अच्छे हैं।

गांधी महात्माजी के पत्रों में मतलब की बात रहती है, और ज्यों

ज्यों उनका कार्यक्षेत्र बढ़ता जाता है, उनके पत्र छोटे होते जाते हैं। दरअसल महात्मा जी ऐसे कार्य्यव्यग्र महापुरुष से लम्बे पत्रों की आशा करना ही व्यर्थ है। उनके बाज़-बाज़ पत्र तो मन्त्र की तरह होते हैं। अपनी ज़िन्दगी भर के अनुभवों का निचोड़ महात्मा जी जिस खूबी के साथ एक दो वाक्यों में रख देते हैं, उसें देख कर आश्चर्य होता है। अभी साल-दो-साल पहले तक महात्मा जी प्रायः सभी आवश्यक पत्रों का उत्तर अपने हाथ ही से लिखते थे। दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के नाम उन्होंने जो पत्र लिखे थे, वे ख़ास तौर से महत्वपूर्ण हैं।

कोई-कोई चिट्ठी तो रात दो बजे उठकर लिखी थी; पर जब तक महात्माजी एक पत्र का उत्तर दे पाते, तब तक मि० ऐण्ड्रूज दो चिट्ठियाँ और भेज देते! आख़ीर कवीन्द्र की तरह महात्माजी भी उनसे हार मान बैठे। महात्माजी ने एक बार मुस्करा कर कहा था—"ऐण्ड्रूज ही एक ऐसा आदमी है, जो तार में भी प्रेम भेजा करता है!"

दिल्ली में जब महात्माजी ने २१ दिन का उपवास किया था, उस समय मि० ऐण्ड्रूज उनके चौकीदार होकर रहे थे। जब उपवास सकुशल समाप्त हो गया, तो मि० ऐण्ड्रूज साबरमती आश्रम में चले आये। उस वक्त महात्माजी ने उन्हें दिल्ली से लिखा था—"I have been missing you every moment! Oh! for your love." अर्थात्—मुझे आज तुम्हारी क्षण क्षणपर याद आती रही। तुम्हारा प्रेम भी क्या अद्भुत चीज़ है!" मि० ऐण्ड्रूज को वे

My dearest Charlie (मेरे अत्यन्त प्रिय चार्ली)। लिखते हैं। यदि महात्माजी अनुमति दे दें, तो ये पत्र अनुवाद-सहित छपाये जा सकते हैं।

माननीय श्रीनिवास शास्त्रीजी के पत्र उनकी सुसंस्कृति के प्रबल प्रमाण हैं। उनका एक छोटा-सा पत्र भी पत्रलेखन-कला का नमूना होता है। उनके हस्ताक्षरों को देखते ही हृदय में उत्कण्ठा हो जाती है कि पत्र खोल कर जल्दी से-जल्दी पढ़ा जाय। पढ़ते ही तबियत खुश हो जाती है। संयत भाषा, चुने हुए शब्द, अद्भुत गुणग्राहकता, स्वाभाविक विनम्रता और सहज स्नेह का ऐसा विचित्र सम्मेलन भला और कहाँ मिल सकता है! माननीय शास्त्रीजी यद्यपि हिन्दी नहीं जानते, पर कविवर रहीम के निम्न-लिखित दोहे को उन्होंने अवश्य हृदयंगम कर लिया है—

"जो गरीब सों हित करैं, धनि रहिम वे लोग;
कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग।"

"Don't worry dear friend & brother. Up and down, up and down, is the course of any people."—प्रिय मित्र और भाई, फ़िक्र न करो। प्रत्येक जाति के जीवन में उन्नति और अवनति के क्रम आया ही करते हैं।' * किसी भी निराश व्यक्ति

* यह अंश शास्त्रीजी के उस पत्र का है, जो उन्होंने केनिया के अन्याय-पूर्ण निर्णय के दिनों में लिखा था। —लेखक

को उत्साहित करने के लिये माननीय शास्त्रीजी के पत्र टॉनिक का काम कर सकते हैं। इन पंक्तियों के लेखक की तरह के लाखों ही आदमी शास्त्रीजी को चाहे जब मिल सकते हैं; पर शास्त्रीजी की उदारता भी अद्भुत है।

ग़लतफ़हमी होने की आशंका के कारण हम उनके पत्रों के प्रेमपूर्ण अंश उद्धृत नहीं कर रहे हैं। जिन महानुभावों का जीवन इतना कटु बन गया है कि वे सदुद्देश्य से कही हुई प्रत्येक बात के पीछे कोई-न-कोई Motive (भीतरी उद्देश्य) तलाश करते हैं, वे तो हर हालत में अर्थ का अनर्थ करते ही हैं; पर हमारे कितने ही सुसंस्कृत पाठक भी इस मर्ज़ में मुबतला हैं।

शास्त्रीजी के पत्रों की मधुर स्मृति बहुत दिनों तक बनी रहती है; पर इससे विपरीत कोटि के पत्र भी कभी-कभी हमें मिलते रहते हैं, और उनसे किसी भी सहृदय मनुष्य के हृदयाकाश में घटा छा सकती है। प्रशंसा से जो उत्फुल्ल न हों और निन्दा से जो विचलित न हों ऐसे मनुष्य सन्त-समाज में ही पाये जाते हैं।

यदि आपको कोई लिखे—"तुम धूर्त हो, मूर्ख हो, पाखण्डी हो, भाँड़ हो, अहंकारी हो, आडम्बरी हो, पतित हो, बेपेंदी के लोटे हो, तुम्हारा कोई सिद्धान्त नहीं, कोई Sincerity नहीं," तो इस विष का पान करने के लिये आपको भगवान शिवशंकर की योग्यता हासिल करनी होगी। हमारे साहित्य-क्षेत्रका यह दुर्भाग्य है कि ऐसे पत्र-लेखक हमारे यहाँ विद्यमान हैं, और वे अपने तथा

दूसरों के जीवन में कटुता का प्रवेश प्रायः किया करते हैं। इस प्रकार के अनेक पत्र पाकर हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि जिन्हें कब्ज़ रहता है—शारीरिक या मानसिक—अथवा जिन्हें मन्दाग्नि अथवा 'अकल अजीरन रोग' है, वे ही ऐसी चिट्ठियाँ लिख सकते हैं। जिसका पेट साफ नहीं रहता, उसके लिए पेट का साफ होना मुश्किल है। पत्रों में तो नहीं, हाँ, बातचीत में ऐसी अक्षम्य भूलें हमसे भी कई बार हो चुकीं हैं, और उनका प्रायश्चित कर लेने पर भी हमें आज भी उनके लिए लज्जा अनुभव होती है। पत्रों का पेट से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस बात को हम अच्छी तरह समझ गये हैं। एमर्सन ने एक जगह लिखा है:—A man should make life and nature happier to us, or he had better never been born. —'मनुष्य का कर्तव्य है कि वह हमारे लिये जीवन तथा प्रकृति को मधुर कर दे, यदि वह ऐसा नहीं कर सकता, तो बेहतर है कि वह पैदा ही न होता।'

स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा ऐसे व्यक्ति थे, जिनके प्रत्येक पत्र को बड़ी उत्कण्ठा से खोला जाता था, जो अपने दाद देने के अद्भुत गुण के कारण चिरकाल तक साहित्य में जीवित रहेंगे। जीवित साहित्य-सेवियों में से पूज्य द्विवेदी जी भी उसी कोटि के हैं। इस लेख को हम स्वर्गीय शर्मा जी के एक पत्र के साथ समाप्त करते हैं। इस लेखमाला के अगले लेखों में हम पत्र-लेखन-कला के अन्य उदाहरण देंगे।

प्रिय चतुर्वेदीजी नमस्कार।

आज जब आपको रजिस्टर्ड पैकिट रवाना कर चुका, तो ९ बजे के करीब 'विशाल भारत' ने दर्शन दिये, यानी प्रेस की डाक में पधारे। कल इंडियन प्रेस में ठा० श्रीनाथ सिंह जी के पास थोड़ी देर यों ही उलट पलट कर देखा था। ऐनक यहाँ भूल गया था, इसलिये कठिनता से हेडिंग देख सका था। मैं रात को इतमीनान से देखना चाहता था कि यहाँ अचानक एक उपद्रव खड़ा हो गया, यानी गाने बजाने की कन्सर्ट पार्टी आ डटी। एक सज्जन सितार के एक्सपर्ट, दूसरे वेला के प्रवीण बजगर, तीसरे तबले के मास्टर, चौथे ताल और दाद देने में पटु और मजा यह कि सब-के-सब ग्रेजुएट और एल. एल. बी.। इनमें पहिले हिन्दुस्तानी और बाकी बंगाली; सब-के सब-ब्राह्मण—एक द्विवेदी, बाकी मुकरजी। मैं 'विशाल भारत' पढ़ना चाहता था, उधर संगीत शुरू हो गया। मुझे पढ़ने का व्यसन तो है ही; पर सुनने के लोभ को संवरण नहीं कर सकता। पार्टी में सम्मिलित न होना शिष्टाचार के विरुद्ध समझा। मण्डली के पास बैठ कर सुनना ही पड़ा; पर हाथ में 'विशाल भारत' लेकर बैठा, एक साहब बोले, इसे रख भी दो, सुनोगे कि पढ़ोगे ? मैंने कहा कि दोनों काम साथ-साथ करूँगा साहित्य और संगीत के आकर्षण की तुलनात्मक परीक्षा हो जायगी, देखूंगा किसमें अधिक आकर्षण है ? मुझे जब कभी ऐसा मौका मिल जाता है कि कोई अच्छी पुस्तक-वह भी काव्य-पढ़ता हूँ और पास ही संगीत हो रहा हो, तो एक

अद्भुत आनन्द आता है, काव्य में—जिसे उस समय देख रहा हूँ—नई-नई बातें सूझने लगती हैं। हाँ, हारमोनियम से मुझे क़ुदरती नफ़रत है। अच्छे-अच्छे बजाने वालों को सुना है; पर मुझे कभी अच्छा नहीं लगा—ख़ासकर सितार, सारंगी या वेला के साथ तो बहुत ही बुरा लगता है। ख़ैर, पहले सितार का गत बजा उधर मैंने आपका सम्पादकीय पढ़ना शुरू किया। बड़े मजे में पढ़ता रहा और आपके ज़ोरे-क़लम की दाद देता रहा। 'सारनाथ में क्या देखा' खूब लिखा है। मार्के की टिप्पणी है। श्री शंकराचार्य पर आक्रमणवाली बात मुझे भी बहुत ही बेतुकी और मूर्खतापूर्ण मालूम हुई। मैं आपके साथ मिस्टर धर्मपाल से मिलने गया होता, तो उन्हें इतना फटकारता कि याद रखते। मैंने पत्रों में जब उनके भाषण की रिपोर्ट पढ़ी थी, तो बहुत बुरी मालूम हुई थी। शंकराचार्य का मुकाबला तो संसार भर के दार्शनिक भी मिल कर नहीं कर सकते। मिस्टर धर्मपाल तो उनकी बातें समझेंगे भी नहीं। ख़ैर, सितार के बाद वेला की बारी आई। वेला सितार से भी अच्छा बजा, बड़ा तैयार हाथ था, उस समय मैं नन्ददासजीवाला लेख देख रहा था। कान उधर लगे थे और आँखें लेख में मन द्रुतगति से दोनों ओर काम कर रहा था। कई बार दो चार मिनट के लिए आँखों को भी कान का साथ देना पढ़ा। गज इस सफाई से फिर रहा था, हाथ इस तेज़ी से चल रहा था कि न देखना अन्याय था। वेला के साथ मैंने नन्ददासजी को समाप्त कर डाला। नन्ददासजी

की कविता मुझे भी बहुत पसन्द है। आपने खूब लिखा है। तबीयत खुश हो गई। 'भारतमित्र' प्रेस की छपी रासपंचाध्यायी' की एक प्रति मेरे पास है, जो स्वर्गीय श्री सत्यनारायणजी ने मुझे दी थी। उसपर उनके पेन्सिल से लिखे नोट भी हैं। इसीलिए मैंने उसे बड़े प्यार से रख छोड़ा है। सत्यनारायण जी ने उस प्रति से सब 'रासपंचाध्यायी' बड़े ही मधुर स्वर में पढ़कर सुनाई थी। उस पुस्तक को जब देखता हूँ, तो वह दृश्य आँखों में फिर जाता है, हा !

वेला की जब द्वितीयावृत्ति हुई, तब मैं उजड़ी वाटिका देख रहा था वह कविता मुझे बहुत पसन्द आई। यह 'चकोरी' देवी कौन हैं ? अच्छा लिखती हैं। मैंने पहिली बार ही इनकी रचना पढ़ी है। तीसरे छन्द की अन्तिम पंक्ति पढ़ते धचका-सा लगता है। उसमें छन्दों-भंग या ध्वनिभंग है। मात्राएँ तो गिनी नहीं पर धचका ज़रूर लगता है। ज़रा पढ़ देखिये।

हाँ, रत्नाकर जी के उस कविता का योग्य अन्तिम चरण क्या है ? ज़रा हम भी तो सुनें !

श्री चिन्तामणि जी के सुपुत्र श्री बालकृष्णराव जी अपनी पुस्तक मुझे दे गये हैं। जिस वक्त दोपहर को वह यहाँ पुस्तक देने आये, उस दिन मेरी तबीयत अच्छी न थी। लेट रहा था। वह कुछ देर बैठ कर और रघुनन्दन जी को पुस्तक देकर चले गये। मुझे किसी ने सूचना न दी। फिर पं० केशवदेव जी शर्मा के मार्फ़त उनकी इच्छा मालूम हुई कि मैं उसपर सम्मति लिख दूँ।

मेरा विचार उसपर एक नोट 'विशाल भारत' में भेजने का है। बहुत अच्छी कविता है। बालकृष्ण राव प्रोत्साहन के पात्र हैं। अस्तु कन्सर्ट पार्टी की एक बात लिखना भूल गया। सितार और बेला के बाद 'हारमोनियम' का नम्बर आया, तो मैंने यह कहा कि अंगूर खिला कर यह निबौलियाँ क्यों खिलाते हो ?—

'जीभ निबौरी क्यों लगै बौरी ! चखि अंगूर ?

सितार आदि बाजों के लिये यह 'हारमोनियम' भी वैसी ही बला है; जैसी तुलसीदास की रामायण के लिये 'राधेश्यामी रामायण' ! भारतीय संगीत-कला को इस 'हारमोनियम' ने बड़ी हानि पहुँचाई है।

आज के पैकट में ठा० गुरुभक्तसिंह जी की दो पुस्तकें मैंने भेजी हैं। उन्हें ज़रा देख जाइये। शायद कोई कविता आपको पसन्द आ जाय। उनकी कविता और चित्र दे दीजिये, सम्मति भी छाप दीजिये।

अब बस करता हूँ, १२ बजने को हैं।

मैं परसों प्रातः काल की गाड़ी से आगरे जारहा हूँ। पटे जी से मिलूँगा। उनकी कविता इस अंक में तो नहीं आई, अगले में ज़रूर जाय।

हिन्दी-प्रेस, प्रयाग १५-१२-३१ पद्मसिंह शर्मा

पुनश्चः—१७-१२-३१ के 'भारत' में तीसरे पेज पर एक लम्बा लेख 'हिन्दी के विकास में बाधा' न पढ़ा हो तो पढ़

लीजिये। आपको सम्पादन-कौशल' का सार्टीफिकेट 'भारत' सरकार से मिला है, बधाई है ! बधाई !!!

× × ×

'श्यामसगाई' सचमुच सुन्दर कविता है। मैंने पत्र लिखने के वाद फिर पढ़ी। २७ पद्य की दूसरी पंक्ति ठीक नहीं मालूम होती—'जोरी' से पहले 'ये' का 'यह' हो और 'विधाता' की जगह 'विधना' तो शायद ठीक हो जाय।

वर्माजी ने मुसोलिनी को समाप्त कर डाला ? वड़ी वहादुरी का काम किया। श्री सम्पूर्णानन्द जी के विषय में लिखते हुए उपसंहार में जो-कुछ लिखा है, उससे मैं पूरी तरह सहमत हूँ। साहित्य-सेवी का सैनिक बनना उचित नहीं।

पत्र-लेखन-कला

शुद्ध साहित्य और ज्ञानसाहित्य के बीच की चीज़ है प्रयुक्त साहित्य। उसमें सौन्दर्य और सत्य दोनों का मिश्रण रहता है। इसकी कला को परखने वाले इसे सच्चे साहित्य की सीमा के भीतर ही रखते हैं। अतिमधुरप्रिय या अरोचकी आलोचक ऐसी खिचड़ी को 'वेस्वाद' या रोगी का पथ्य कहकर कस सकते हैं पर अनुभव कहता है कि उसमें भी रस है, स्वाद है। प्रस्तुत निवन्ध ऐसा ही है। शीर्षक से झलकता है कि यह 'पत्र-लेखन-कला' का विवेचन है। पर पढ़ने पर भाषा की सुघराई और शैली की साहित्यिकता हमें अपना लेती है। सीधा शिक्षक सीधे सीधे कहता कि 'पत्र का उत्तर अवश्य देना चाहिएँ, पत्र बनावटी नहीं लिखना चाहिए, पत्र में लेखक के चरित्र की छाया रहती है' इत्यादि। पर यह कोरी सीख होती, पाठशाला की नीरस शिक्षा होती। वही बात जब कान्तासम्मित चतुरता से अथवा सुहृत्सम्मित सहृदयता से कही जाती है तो सीधे हृदय तक पहुँच जाती है, मनमें वैठ जाती है। निबन्ध-लेखक ने ऐसी ही शैली को अपनाया है। इसीसे उसके उपदेश से लाभ उठाने के साथ ही हमारा मन उसमें रमता भी है।

यही साहित्यिक शैली की शक्ति है। व्यंग्य और विनोद का पुट भी इसमें उचित मात्रा में है। सहज ही में साहित्यानंद के साथ शिक्षक विद्यार्थी और लेखक इस सौम्य और मनोहर शैली से लाभ उठा सकते हैं। यदि पाठशाला और स्कूल के निवन्धों में ऐसी शैली वर्ती जाय तो शुष्क निवन्ध की नीरसता अवश्य मिट जाय। इस निवन्ध का आरम्भ जैसा नाटकीय और कुतूहलजनक है उसी प्रकार उपसंहार साहित्यिक और मनोरम है। वीच में छोटे बड़े पत्र-लेखकों की ऐसी सजीव चर्चा हुई है कि जानकारी के साथ साथ मनोरंजन भी होता है। ये ही तीन गुण विषय-प्रधान निवन्ध को शोभा बढ़ा सकते हैं। इस प्रकार यह निवन्ध अप्रत्यक्ष रूप से निवन्ध-लेखनकला भी सिखाता है।

जयशंकरप्रसाद १९४६-१९९५

छायावाद के उत्कृष्ट कवि प्रसाद का जन्म संवत् १९४६ में काशी के प्रसिद्ध घराने में हुआ। बारह वर्ष की अवस्था में ही आप से पिता की छत्रच्छाया छिन गई; और आपने विश्वविद्यालय में यथाविधि शिक्षा न पाकर घर पर ही संस्कृत, फारसी, उर्दू और अंग्रेजी का अच्छा अभ्यास किया। बचपन से ही आप भावप्रवण थे। आप की रचना में काननकुसुम, प्रेमपथिक, महाराणा का महत्व, सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य, छाया, उर्वशी, राज्यश्री, करुणालय, प्रायश्चित्त, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, तितली, इन्द्रजाल, आकाशदीप और लहर प्रसिद्ध हैं। आपका कामायनी नामक काव्य महत्वपूर्ण है।

पुस्तकों की सूची से ही आपके व्यापक पांडित्य और निसर्गसिद्ध कवित्व का मान हो जाता है। आमूलचूल प्रेम में पगे रहने पर भी आप अपनी निभृत वेदना को अश्लील नहीं होने देते और

सदा लौकिक सौंदर्य के चित्रपट से अलौकिक सौंदर्य की लीला देखते हैं। वृत्ति आपकी सदा उस अव्यक्त की ओर रहती है, जो नाम-रूपों के द्वारा इस संसार में व्यक्त होता है और मूर्त न होने पर भी उषा आदि के नानावर्ण मुकुर में प्रतिबिंबित हुआ भास-मान होता है—

प्राची के अरुण मुकुर में,
सुंदर प्रतिबिंब तुम्हारा।
उस अलस उषा में देखूँ,
अपनी आँखों का तारा॥

अव्यक्त की लीला का साक्षात्कार होते ही—

मिल गए प्रियतम हमारे मिल गए,
यह अलस जीवन सफल अब हो गया।
कौन कहता है जगत है दुःखमय,
यह सरस संसार सुख का सिंधु है॥

प्रसाद का नीरस संसार सरस बन जाता है किंतु थोड़ी देर बाद ही "लाल की लाली" छलिया के रूप में आपके सामने आती है और नयनों में बसी हुई भी उसकी रूप-रेखा, चाहने पर भी आपके हाथ नहीं लगती—

भरा नैनों में मन में रूप,
किसी छलिया का अमल अनूप।
जल, थल, मारुत, व्योम में जो छाया है सब ओर,
खोज खोज कर खो गई मैं पागल प्रेम-विभोर॥

कभी कभी सौंदर्य का यह तत्त्व आपके सामने प्रचंड रूप धारण करके आता है; तब आपकी मधुर वेदना विधुर चिंता में परिणत हो जाती है—

ओ चिंता की पहली रेखा,
अरी विश्व वन की व्याली।
ज्वालामुखी-स्फोट के भीषण,
प्रथम कंप सी मतवाली॥
हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा।
हरी-भरी सी दौड़-धूप, ओ
जलमाया की चल रेखा॥

❀ ❀ ❀

एक मौन वेदना विजन की, झिल्ली की झनकार नहीं,
जगती की यह स्पष्ट उपेक्षा, एक कसक, साकार नहीं।

संसार का प्रत्येक अणु इसी चिंता के पट को बुनने में लगा हुआ है; जीवन का प्रत्येक इंगित इसी सुरधनु के चित्रण में संलग्न है—

इस आकाशपटी पर जितने चित्र बिगड़ते बनते हैं;
उनमें कितने रंग भरे, जो सुरधनु पट से छनते हैं।
किंतु सकल अणु पल में घुल कर व्यापक नील शून्यता सा;
जगती का आवरण वेदना का धूमिल पट बुनते हैं॥

किंतु कल्याण मार्ग पर चलने वाले पथिकों को भी 'तियछबि

छाया-ग्राहिनी' अछूता नहीं छोड़ती। वे भी समय समय पर उसके वश में आ जाते हैं, वे भी कभी कभी काली आँखों की मार से चलनी हो जाते हैं—

काली आँखों में कितनी यौवन के मद की लाली,
मानिक मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली।

किसी रूपराशि शालीन से आपकी नीचे लिखी प्रार्थना अत्यंत कमनीय बन पड़ी है—

हे लाजभरे सौंदर्य बता दो, मौन बने रहते हो क्यों?

❀ ❀ ❀

मेरी आखों की पुतली में तू बन कर प्राण समा जा रे।
जिससे कण कण में स्पदन हो,
मनमें मलयानिल चंदन हो।
करुणा का नव अभिनंदन हो,

× × × ×

वह जीवन-गीत सुना जा रे।
खिंच जाय अधर पर वह रेखा॥
जिसमें अंकित हो मधु लेखा,
जिसको वह विश्व करे देखा,
वह स्मित का चित्र बना जा रे।

स्नेहालिंगन की लतिकाओं की झुर मुट छा जाने दो।
जीवनधन! इस जले जगत को वृंदावन बन जाने दो॥

रहस्यवाद और श्रृङ्गार की अलसमुद्रा में भी प्रसाद जी अपने देश को नहीं भूलते—

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरु शिखा मनोहर ॥
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा ॥

× × × ×

करुणा-कादंबिनि बरसे
दुख से जली हुई यह धरणी प्रमुदित हो सरसे।
प्रेम प्रचार रहे जगतीतल दयादान दरसे।
मिटे कलह शुभ शांति प्रकट हो अचर और चर से ॥

जयशंकर प्रसाद

आलोचनात्मक निवंध भी दो प्रकार के होते हैं। एक में स्वतः कला की आलोचना रहती है दूसरे में कला के उपजीव्य सिद्धान्तों की। इस निवंध में काव्यकला की आलोचना है। वह आलोचना भी ऐतिहासिक अथवा तुलनात्मक नहीं है, केवल परिचयात्मक है। है तो यह डा० सूर्यकान्त के "हिन्दी साहित्य की रूपरेखा" नामक इतिहास का एक अंश पर इसमें परिचयात्मात्मक निवंध की स्वतन्त्रता और पूर्णता है। पूरा और निरपेक्ष होने के कारण यह छोटा सा सफल निबंध है। इसे पढ़कर हम कवि प्रसाद का परिचय पा जाते हैं। ऊपर से साहित्यिक भाषा और चुने उद्धरणों से सजी शैली की कृपा से काव्य का आनन्द मिलता है। सच्ची आलोचना में काव्य के चुने उद्धरण और कवियों की–यथासंभव आलोच्य कवि की–ही पदावली प्रयुक्त होनी चाहिए। यह बात इस निवंध में है।

अन्नपूर्णानन्द वर्मा

6

कल की बात

समय जाते देर नहीं लगती। पन्द्रह वर्ष बीत चुके, पर जान पड़ता है कि अभी कल की बात है। सन् १९१६ में मैं तीसरी वार इन्ट्रेन्स की परीक्षा देने बैठा था।

दो साल मैं लगातार फेल हो चुका था। और चीज़ों में ज्यों-त्यों पास भी हो जाता, पर गणित का विषय मुझे अन्त में ले डूबता। छोटे दर्जों में भी इसने मेरे रास्ते में रोड़े अटकाये, परीक्षाओं में इसने मेरे साथ सदा अड़ङ्गानीति से काम लिया, पर मैं किसी न किसी करवट से दर्जा बराबर चढ़ता ही गया। इन्ट्रेन्स में पहुँचना था कि यह मेरे पीछे हाथ धोकर पड़ गया।

लोगों का ऐसा ख़याल था और अब भी है—कि प्रतिभा नाम की चीज़ मेरे बाँटे कभी पड़ी ही नहीं, पर मैं इसे मानने के लिये तैयार नहीं हूँ। ऐसा सोचना भी मेरे ऐसे-व्यक्ति के प्रति घोर अन्याय करना है जिसने सातवीं कक्षा में 'पेट' पर निबन्ध लिख लाने की आज्ञा पाकर यह दोहा लिखा हो—

नित रितवत नित के भरत, जिमि चुअना कंडाल।
इति न होति अति अजब गति, पेट गजब चंडाल।

हाँ, इतना मैं स्वयं कहूंगा, कि मेरी प्रतिभा सर्वतोमुखी नहीं थी। गणित की ओर से वह रूठी हुई दुलहिन-सी मुंह फेर लेती।

खैर, गणित की कृपा से दो साल फ़ेल होकर तीसरे साल में फिर इन्ट्रेंस की परीक्षा देने बैठा। गणित के ज्ञान से अब भी बिल्कुल कोरा था; पर परीक्षा देने चला गया। एक आदत सी पड़ गई थी, जो परीक्षा-भवन तक मुझे खींच ही ले गई।

गणित का पर्चा मेरे सामने रख दिया गया। पर्चा पढ़ने के पहले मैंने त्रिकुटी में ध्यान लगाकर ईश्वर से प्रार्थना की कि 'हे प्रभो आनन्ददाता ज्ञान मुझको दीजिए' कि मैं दो एक सवाल तो ठीक कर सकूँ—और नहीं तो 'शीघ्र सारे गार्डों को दूर मुझसे कीजिए' कि मैं आसानी से नकल ही कर सकूँ।

इसके बाद मैं पर्चे को एक बार पढ़ गया। पढ़ते ही ऐसी इच्छा हुई, कि अपना सर खुजलाऊँ, फिर मैंने सोचा कि पर्चे को दुबारा पढ़ लूँ, तब निश्चिन्त होकर सर खुजलाना शुरू करूँ। मैंने यही किया, दुबारा पढ़ गया। दुबारा पढ़ डालना महज एक रस्म की बात थी, अगर मैं सौ बार भी पढ़ता, तो इसी नतीजे पर पहुँचता कि इस कम्बख्त पर्चे का एक सवाल भी मेरे लिये नहीं बनाया गया है।

मैंने कलम को कान पर चढ़ा लिया और हाथ-पर-हाथ

रखकर बैठ रहा। मन में उस परमात्मा का गुण-गान करने लगा जिसने गणित, गोजर और गण्डमाला ऐसी चीज़ें संसार को दीं। निराशा और निस्सहायता के भाव मेरे मन मुकुर को धूमिल करने लगे।

और परीक्षार्थियों की क़लमों ने घुड़दौड़ सी मचा रक्खी थी, पर मेरी क़लम अभी तक टस से मस भी न हुई। कान पर से उतार कर मैं उसे कापी के सामने ले आया, पर उसने आगे बढ़ने से क़तई इनकार कर दिया। मैं हिम्मत न हारा और क़लम सम्हाले बैठा ही रहा। मुझे इस तरह बैठा देखकर एक गार्ड ने कहा—'क्यों व्यर्थ कापी को क़लम से धमका रहे हो?

मैं चुप रहा। कहाँ तो मेरे गले में फाँसी पड़ी है और कहाँ इन्हें हाँसी सूझ रही है। अपना वक्त सब कुछ कराता है, न मैं ऐसा होता, न ये मेरे ऊपर अपनी ज़बान माजते!

मैं कभी पर्चे की ओर देखता था, कभी कापी की ओर, और कभी कलम की ओर, पर तीनो ढाक के तीन पात की तरह अलग ही नज़र आते! इन तीनों का अस्तित्व एक दूसरे का विरोधी जान पड़ता था। मैंने कापी से कई वार अपनी लेखनी का साक्षात् कराया, पर कुछ काम न निकला।

मैंने देवता, पित्तर, भुइयाँ, भवानी, सबको मनाया, पर किसी ने स्थिति को सुलझाने की कोशिश न की। मैंने आध घंटे के अन्दर क़लम में चार नई निबें लगाई, कि शायद इसी तरह उसकी अकर्मण्यता दूर हो, पर सब उपचार व्यर्थ गये।

मैंने सोचा कि लाओ पर्चे को कापी पर नकल कर दूँ, और घर का रास्ता लूँ, पर "जब तक साँस तब तक आस" ने ऐसा न करने दिया। मेरी इस समय ऐसी दशा थी कि परीक्षक महोदय यदि मेरे सामने आ खड़े होते, तो मैं उन्हें मामा पुकार बैठता, सुना है कि साँप को भी मामा पुकारे, तो उसे दया आ जाती है।

जब मनुष्य निरुपाय हो जाता है, तब मूर्खता पर कमर कसता है। संकटापन्न अवस्था में अच्छे अच्छे विद्वानों की बुद्धि भी मोच खा जाती है, तो मेरी क्या बिसात, मैं तो अपने को किसी बुद्धिमान का इज़ारबन्द होने योग्य भी नहीं समझता!

मैंने जब अच्छी तरह देख लिया कि और कोई चारा नहीं है तब यही निश्चय किया कि परीक्षक के नाम कापी में एक पत्र लिख दूं और लिखकर घर का मार्ग पकड़ूँ।

ज्यों-ज्यों मैं ग़ौर करता था, मुझे यही कार्यक्रम समयोचित और उपयुक्त जँचता था। इस कार्यक्रम की विशेषता यह थी कि इससे हानि कुछ भी नहीं थी, क्योंकि परीक्षक यदि मेरी धृष्टता से चिढ़ जाता, तो अधिक से अधिक मुझे फ़ेल कर देता, पर यह कौन सी नई बात हो जाती। फ़ेल होना तो यों भी मेरा 'परीक्षा-सिद्ध' अधिकार था। इसके विपरीत यदि मेरा पत्र पढ़कर दया से द्रवीभूत होकर वह कुछ नम्बर दे निकलता, तब तो परीक्षा-फल निकलने पर मैं ही मैं दिखाई पड़ता। यह कोई असम्भव बात नहीं थी, परीक्षक बड़ा आदमी होता है, और

सुना है, बड़े लोगों के 'दिल दरियाव' में अकसर अनायास दया की मौज उठने लगती है।

मैं इस पत्र में परीक्षक के बाल-बच्चों की ख़ैर मनाता और लिखता कि मेरी नौका मजधार में है और आप ही उसके खेवैया हैं। इन बातों के अतिरिक्त मैं एक बात बड़े मार्के की लिखने वाला था। वह यह कि इस साल मेरी शादी होने वाली है, अगर फ़ेल हो जाऊँगा, तो फिर न जाने कितने दिन के लिए शादी टल जायगी, इसलिए यदि दया करके आप मुझे पास कर देंगे, तो अप्रत्यक्ष रूप से आपको कन्यादान का भी फल होगा।

मैं सोच ही रहा था कि इस पत्र को लिखना शुरू करूँ, कि किसी ने धीरे से मेरे कन्धे पर हाथ रक्खा। मैंने पीछे घूम कर देखा तो एक गार्ड महाशय को खड़ा पाया। मुझे देखकर आश्चर्य हुआ कि वे और गार्डों की तरह हृदय-हीन नहीं जान पड़ते थे। उनकी दृष्टि में दया और स्पर्श में समवेदना थी।

वे चले गये पर मेरे हृदय में आशा का संचार कर गये। मुझे निश्चय हो गया कि वे मेरे लिए कुछ करेंगे। यही हुआ भी। वे थोड़ी देर में टहलते हुए मेरे पास आए और बड़ी सफाई से एक सोखते का टुकड़ा मेरे पास फेंक कर चल दिये।

मैंने उस सोखते के टुकड़े को बड़ी सावधानी से उलट कर देखा। उस पर पर्चे के दो सबसे कठिन प्रश्नों के उत्तर उनकी संक्षिप्त विधि के सहित पेंसिल के बहुत हलके हाथ से लिखे हुए थे।

अब क्या था ! दो सवाल तो मैंने मार लिये बाकी बच गये चार, कुल छः करने थे। इनसे कैसे निपटा जाय। अब आगे की सुधि लेनी थी। मेरे ऊपर अकारण कृपा करने वाले गार्ड महोदय भी कहीं खिसक गये थे।

ठीक इसी समय एक ऐसी घटना हुई, जिसने मुझे सच पूछिए, तो कतरे से दरिया कर दिया। मुझसे कुछ दूर पर मेरे ही स्कूल का एक लड़का बैठा हुआ था। वह यकायक खड़ा हो गया और बड़े उत्तेजित स्वर में अपने पास वाले गार्ड से बोला— "मास्टर साहब ! मास्टर साहब !! यह चौथा सवाल ग़लत छपा है।' गार्ड ने उसे डाट कर बैठा दिया। और सभी लोग उसकी बात पर अविश्वास की हँसी हँस पड़े। पर मैंने इस मौके पर बड़ी समझदारी से काम लिया। मैं उस लड़के को बख़ूबी जानता था। गणित के ग्रन्थों की सैकड़ों उदाहरणमालाएं उत्तरों सहित उसके कण्ठस्थ थीं। ऐसा लड़का बिना कारण किसी प्रश्न को ग़लत नहीं बता सकता। मुझे विश्वास हो गया कि जब वह कहता है, तब प्रश्न अवश्य ग़लत होगा। बस, मैंने पन्ना उलट लिया और मार्जिन में प्रश्न नं० ४ दर्ज करके उसके सामने लिख दिया—'इस प्रश्न को कई बार करने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ, कि यह ग़लत छपा है; इसलिये इसका उत्तर निकालने की आवश्यकता नहीं है।

बाद को साबित हुआ कि उस लड़के ने ठीक कहा था। प्रश्न वास्तव में ग़लत छप गया था। सारी यूनिवर्सिटी में दस ही

पाँच लड़के इस भेद को जान पाये थे; और उन लड़कों से परीक्षक बहुत प्रसन्न हुआ था। कहना न होगा कि उन्हीं दस-पाँच में मैं भी एक था।

कहाँ एक सवाल भी पहाड़ हो रहा था, कहाँ चुटकी बजाते मैंने तीन कर लिए। छः में तीन, पास होने के लिये काफी थे, इसलिए चिन्ता जाती रही, और उत्साह बढ़ गया। मैंने सोचा कि जब किस्मत ने चर्राना शुरू किया है, तब उसे चर्राने का काफी मौक़ा देना चाहिए। सम्भव है किसी सूरत से, किसी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा, किसी ओर से, किसी रूप में, किसी प्रश्न पर, किसी समय, कुछ भी प्रकाश पड़ जाय, कोई इशारा मिल जाय, तो कुछ नम्बर और बटोर लूँ।

मैं शेष प्रश्नों को बार-बार पढ़ने लगा। सिर्फ पढ़ना भर हाथ लगता था, पर तब भी मैं बार-बार पढ़ने से बाज़ न आया। एक प्रश्न दशमलव का था, जिसे मैंने दूर ही से प्रणाम करके छोड़ दिया। मेरा विश्वास है कि भगवान रामचन्द्र ने बजाय दशानन के दशमलव का संहार किया होता, तो अगणित स्कूली छात्रों के धन्यवाद-भाजन बने होते। दूसरा प्रश्न व्याज का था, जिसे मैं तुरन्त समझ गया कि इस जन्म में न कर पाऊँगा। तीसरा सवाल इस प्रकार था—

'एक घड़ी तीन बजे चलाई जाती है और ठीक ७ सात बजे वह बन्द हो जाती है। बताओ की इतनी देर में घड़ी की दोनों सूइयाँ एक दूसरे को किस-किस समय में पार करेंगी।'

ऐसे सवालों को करने के लिए अंकगणित में एक खास तरीका है, जिसे एक बार सीखने की कोशिश करने पर मुझे सौ बार तोबा करना पड़ा था। और किसी वक्त मैं इस प्रश्न की ओर फूटी आँख भी न देखता, पर इस वक्त स्वयं परमात्मा मेरी पीठ पर था और मुझे तदबीरों की फुरहरी सुँघा रहा था। जो प्रश्न मेरे लिए भरतपुर के किले से भी बढ़कर था, उसे मैंने आज यों सर किया।

मेरे जेब में घड़ी थी। उसे मैंने निकाला। उसमें बारह बजे थे मैंने उसमें तीन बजा दिये और फिर धीरे धीरे सुई घुमाने लगा और देखने लगा कि दोनों सुइयाँ सात बजने तक कहाँ कहाँ पर मिलती हैं।

यों मैंने छ में चार सवाल कर लिये। मूँछे तो उस समय थी नहीं, पर जहाँ होनी चाहिएँ वहाँ का चमड़ा ऐंठता हुआ मैं उस दिन मकान आया।

दो महीने में परीक्षा का फल प्रकाशित हुआ। दुनियाँ ने देखा कि मैं पास हूँ। लोग आश्चर्य में डूबे, उतराये और उभचुभ हुए। किसी ने अन्धे के हाथ बटेर की कहानी याद की। किसी ने पत्थर पर दूब जमना स्वीकार किया। कई नास्तिकों ने ईश्वर को मान लिया। मैंने अपनी पीठ ठोंकी और कहा जीते रहो। जैसा मेरा राजपाट लौटा, वैसा ईश्वर करे सबका लौटे।

कल की बात

यह व्यंग्य और विनोद से पूर्ण निबंध है। इसमें परिहास की पूरी सामग्री है; उससे भी बड़ी बात है छिपी हुई विदग्धता जो विदग्ध हृदयों को रह रह कर गुदगुदा देती है। उपसंहार के दो तीन वाक्य उदाहरण के लिए काफी हैं। घड़ी वाली घटना साहित्यिक प्रहास का अच्छा नमूना है। इस प्रकार विदग्धता और परिहास, प्रहास आदि हास के कई रूप इसमें आ गए हैं। भाषा भी मुहाविरेदार और रसानुरूप है। नये रूपकों की उद्भावना खूब ही फबी है। शैली आत्मकथा की है जो प्रहसन और विनोद में खूब जमी है।

इसमें आलम्बन का नैतिक पतन किसी आलोचक की रुचि को खल सकता है पर जो हास्य के मूल तत्त्व तथा कल्पना की लीला से परिचित है वह कभी कला और नीति के ऐसे विरोध-वाद में नहीं पड़ता। शुद्ध साहित्य उसी के लिए है जो नीति के परे कला को परख सकता है। दूसरों के लिए प्रयुक्त साहित्य ही ठीक है। प्रयुक्त साहित्य की वस्तु सदा पथ्य और अनुकरणीय होती है पर शुद्ध साहित्य में ऐसी बातें भी आती हैं जो केवल आस्वाद्य हों। यह प्रहसन ऐसा ही आस्वाद्य साहित्य है।

राजा राधिका रमणसिंह

हरिऔध अभिनन्दनोत्सव

(भाषण)

सज्जनो,

आज जिस मंगल-यज्ञ की पूर्णाहुति है, उसका श्रीगणेश आज से ढाई वर्ष पहले हो चुका था। अभिनन्दन की आरती पुजारियों की हृदय-कुटी से चल कर मन्दिर के द्वार तक और फिर आराध्य की पुनीत प्रतिमा तक पहुँचते-पहुँचते इतने लम्बे दिन और इतनी लम्बी रातें बीत जायेंगी, आरम्भ में इसकी कल्पना भी न हो सकी थी। कौन जानता था, प्रभंजन का प्रबल वेग, पग-पग पर दुंद बाँध कर टूट पड़ेगा और पुजारियों के लिये उस आरती-शिखा को अपनी श्रद्धा की चादर के साये में संजोए रखना एक मुश्किल का सामना होगा।

अभिनन्दन-ग्रन्थके समर्पणका निश्चय तो हो गया; पर उसका सुन्दर सम्पादन, मुद्रण, और प्रकाशन किस प्रकार हो, यह समस्या

विकट हो उठी। इधर 'पत्रं, पुष्पं, फलं, तोयं' का भी सामान नहीं, उधर देवपूजा के विराट अनुष्ठानकी उत्कण्ठा थी। इधर 'सभा'का विकट अर्थ-संकट, उधर अभिनन्दनग्रन्थ को सर्वांग सुन्दर बनानेका सुख-स्वप्न! ग्रन्थ छपे कहाँ, इसी की गुत्थी सुलझाने में कितने दिन गुजर गये। अन्त में खड्गविलास प्रेस के अध्यक्ष रायबहादुर बा० रामरणविजय सिंह ने मुद्रण-भार अपने कंधों पर लिया और यह विकट संकट टला। पर, एक यही संकट न रहा। एक के बाद अनेक आये। ग्रन्थ तैयार भी न हुआ, कि दुर्भाग्यवश रणविजय बाबू चल बसे! नाव मजधारमें जा पड़ी। इतना होकर भी रह जाता, तो एक बात थी। पर, होना तो अभी कुछ और था! उधर मुद्रक का घर सूना हुआ, इधर प्रकाशक की गली सूनी हुई। सभा के प्राण बा० अमीरचन्द जी भी हमें छोड़ चले। कहाँ पूर्णिमा को पूर्णचन्द्र का गौरव-सुख और कहाँ यह राहु-केतु का क्रूर खग्रास! और, फिर इसी बीच सभा के मंत्री बा० राधिका प्रसाद सिंहजी का असह्य पुत्रवियोग! पहाड़ टूट पड़ा! दिल बैठ गया। 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' अक्षरशः सत्य निकला।

इस प्रकार विपत्तियों पर विपत्तियों के आघात सहते-सहते, हमारे कर्त्तव्य के पथ से रोड़े चुनते-चुनते सभा को इतने कल्प-से दिन लग गये। हमारे साथ हाथ बँटानेवालोंकी कमी होती गयी और त्रुटियोँ पर उँगली उठानेवालोंकी तरक्की होती रही। हम खुद अपनी शर्मसे पानी-पानी हो गये। मगर पानी में आग लगाने वालों की आँखों में पानी न था। खैर, अब अतीत की चिता-भस्म को

कुरेद कर क्या होगा ? किसी-किसी तरह, सर पर के वे बादल टल गये। और, यद्यपि मनचाहे सरस सुन्दर फूलों की अर्घ्यडाली और अगर-चन्दन की आरती न सज सकी, तथापि भग्न-हृदय की मिट्टी की डाली में भावनाओं के मुरझाये फूल और पीड़ित आँखों के दीप में श्रद्धा के आँसू डाले, मन्दिर-द्वार तक हम पहुँच आये, यही हमारे लिये बहुत है। आख़िर दुनियाँ के सभी कामों का एक वक्त मुअइयन है, इस उत्सव का भी शायद यही समय था। यह आज ही होना था, पहले हो कैसे ? हाँ, जब हम अपने राष्ट्र के सारथी राजेन्द्र बाबू को यहाँ मौजूद पाते हैं, तो समझते हैं कि 'देर आयद दुरुस्त आयद'।

राष्ट्र और साहित्य का परस्पर सम्बन्ध पवित्र और अटूट है। साहित्य से जीवन बनता है और जीवन से साहित्य। जीवन का मूल निरन्तर प्रयत्न है, साहित्य का मूल जीवन है। जीवन में स्वप्न भी है, संकल्प भी है और संकल्प के साथ सक्रियता भी। और तीनों के मेल से जीवन में पूर्णता आती है। हमारी भावनाओं की तह में अगर प्रेरणा न रही और प्रेरणा की तह में सक्रियता न रही, तो हमारे जीवन की सारी अभिव्यञ्जना अधूरी रह गयी। जहाँ भावना निर्बल है, वहाँ साहित्य भी निःसार है और जहाँ साहित्य तेजस्वी नहीं, वहाँ राष्ट्र भी अस्वस्थ है। वहाँ न निर्माण है, न योजना, न प्रगति। राष्ट्र साहित्य को प्रेरणा देता है और साहित्य राष्ट्र में भावना भरता है। इसी आपस की लेन-देन पर—सामञ्जस्यपूर्ण सहयोग पर—हमारे जीवन की सर्वां-

गीण प्रगति है। साहित्य ने अगर राष्ट्रीय जीवन की कठिनता पर रस के छींटे नहीं बरसाये, हमारे अन्तस्तल से स्वार्थ के कांटे चुन-चुन कर निष्काम सेवा, सच्ची सहानुभूति की भावना नहीं भरी, तो फिर इसकी उपयोगिता, इसकी महत्ता कहाँ रही ?

इसी तरह काव्य हमारे जीवन में सहज रस-माधुर्य ही नहीं भरता है, हमारी नैतिक दुर्बलताओं को रौंद कर हमारी नस-नस में क्रियात्मक शक्ति भी भर सकता है। इसीलिये आज राष्ट्रीयता के युग में काव्य की मुरली भी रण की भेरी बन गयी है, नूपुरों की झन्कार की जगह गांडीव का टङ्कार गूँज रहा है। आज सुन-हरे आँचलों की पताका उड़ानेवाले तिरंगे झण्डे उड़ाने में कंधे लगा रहे हैं। शीरीं सख़ुन के उपवन में भावना के तोड़े बुनने वाले राष्ट्रीयता के पथ से विभेद के रोड़े चुन रहे हैं। साक़ी की सुराही में आवेश का मद भरनेवाले, युवक की छाती में देश का मद भर रहे हैं। इसीलिये आज कविता की मधु-माया में देश की अँगड़ाइयों की छाया छलक रही है।

महानुभाव, आज राष्ट्रीयता के पुजारी के हाथों से कविता के पुजारी का अभिनन्दन साहित्य के इतिहास में एक ख़ास जगह रखता है। अपने प्रान्त के अग्रणी देशरत्न श्रीराजेन्द्र प्रसादजी के कर-कमलों से बढ़ कर पवित्र वरद हस्त हम और कहाँ पाते, जिससे इस महाकवि का उचित सम्मान सम्भव हो सके ?

पूज्य राजेन्द्र बाबू का परिचय देना सूर्य की परिभाषा बतलाना है। राजेन्द्र बाबू ने देश को सबल बनाने के लिये

अपने शरीर के तमाम बल को तहलील कर दिया। खुद तो सूख कर हड्डी रह गये, मगर उन हड्डियों में दधीचि की हड्डियों की जो फौलादी शक्ति भरी है, वह राष्ट्र की नस-नस में बिजली बन कर समा गयी है। इन्होंने बिहार की आँखों में उँगलियाँ देकर दिखा दिया, कि जो त्याग का धनी है, वही 'राजेन्द्र' है! जो निर्वैर निःस्वार्थ होकर अहिंसा का अस्त्र हाथ में लिये लड़ाई के मैदान में उतरता है, वही लाखों में मैदान लेता है और जो देश के सदक़े सर पर कफ़न बाँधता है, उसीके सर पर सेहरा बँधता है। आज वह सर का कफ़न इनके सर का तुर्रा है। वह तुर्रा, जिस तुर्रे की तजल्ली के आगे तमाम तुर्रों की लन्तरानियाँ सुबह के चिराग़ की लौ बन गयी हैं। सदाक़त आश्रम के इस तपस्वी ने अपनी सेवा और तपस्या के बलपर इन्द्र के सिंहासन को जीत लिया है। अमरावती में पहुंच कर भी वह मेनका के मोह से बचा रहा यह उसकी आत्म-दृढ़ता की निशानी है। ज़माना इनक़लाब का है। जो कल तक सरकार का शिकार था, आज वह ख़ुद शिकारी-सरकार होगया है—बिस्मिल के कूचे से उचक कर क़ातिल के तबक़े में आ गया है।

आज कवि-पूजन के इस पुण्य-पर्व के पुरोहित का आसन राजेन्द्रबाबू ग्रहण करें, यही हम दीन पुजारियों का मनोरथ और नम्र निवेदन है। अपने पुरोहित को देखकर ही हम अपने निर्माल्य की नगण्यता भूल जायँगे और-कृतज्ञताके सिवा आचार्यत्वकी दक्षिणा भी हमारे पास और क्या होगी?

आज जिसे हम अपनी आँखों पर बिठाने चले हैं, वह कविता

कामिनी की आँखों के तारा हैं। अपने आराध्य कवि श्री 'हरिऔध' जी की महानता हम किन शब्दों में प्रकट करें? उनकी महानता स्वयं महान है। फिर आह्वान के इतने दिनों बाद पूजा का विधान करने वाले हम पुजारियों के अक्षम्य अपराधको क्षमा कर हमारी दृष्टि में वे और भी महान हैं। हमारे कवि ने लोक-कल्याण की कामना से निःस्वार्थ सेवा का अलौकिक पथ-प्रदर्शन किया है। दरिद्रनारायण की सेवा का व्रत लेकर आज आप कविसम्राट् ही नहीं, हृदयसम्राट् भी हैं। आपको अभिनन्दित कर हम ख़ुद अभिनन्दित होते हैं। भगवान् की पूजाकर भक्त अपना भाग्य सँवारता है—भगवान् का नहीं। भगवान् तो स्वयं भगवान् हैं।

कविवर! अपने पुनीत काव्यजीवन में मानव-प्रेम का जो पुण्य-व्रत आपने धारण किया है, उसके लिये अधीर मानवता शतशत साधुवाद देकर धन्य धन्य है। आप के चौपदों के चोंचले, कलाम के करिश्मे, भावों की ज़िन्दादिली, आप की कल्पना की रंगीनी, छन्दों की लहरी, शब्दों की मीनाकारी, हिन्दी-संसार में निराली ही नहीं, अनूठी भी है। आपके चुभते चौपदे अँगूठी के नगीने–रोज़मर्रे की ज़बान के नमूने हैं। जिस दिन हमें अपनी माँ की बोली में तुतलाना भी नहीं आता था, उस दिन 'बोलचाल' का ढंग देकर आपने जो हमारा गूँगापन दूर किया, उसका प्रतिदान हमारे पास क्या है? आपके 'चोखे चौपदे'का रस चखकर हमने रोना-हँसना सीखा, 'चुभते चौपदे' हमारे अन्तरतम में

चुभकर हमें जागरूक बना लाए और तब अपनी राष्ट्रभाषा की ओर हमारी आँखें आ लगीं। 'देवबाला' के रंगीन आँचलमें 'ठेठ हिन्दी का ठाट' बाँधकर हिन्दी के मस्तकपर आपने विजय की बिन्दी लगाई। राष्ट्र की अचेतना में—निद्रा में—जागरण की जिस चेतना का दान आपने दिया है, उसके लिये यह कृतज्ञ राष्ट्र आपको धन्यवाद देकर अपने को कृतकृत्य समझता है। कुरुक्षेत्र के भीषण रण-प्राङ्गण में त्याग-योगमय प्रेमगीता की जो सुधा-रागिणी छिड़ी थी, दम्भ-द्वेष के इस युग में कुछ वही चीज राधाकृष्ण के अनुराग-विराग के रूप में हिन्दी के लिये 'प्रिय-प्रवास' की देन बनकर आयी और हरिऔध जी के इस गुरु ऋण का व्याज भी चुकाना राष्ट्रभाषा की झोली की क्षमता के अतीत की बात है। करुणारस का जो अजस्र स्रोत 'प्रियप्रवास' में कवि ने अपनी वरदा वीणा को छूकर बहा दिया है वह स्रोत अनल को अनिल, सिल को दिल, हलाहल को हाला रिस को रस और कुलिश को किस-लय बना देने को 'छू-मन्तर' है। आपके 'प्रियप्रवास' के राधा और कृष्ण, बिहारी और देव के—गीतगोबिन्द के—राधा और कृष्ण से अलग ढांचे में ढले हैं। वे कुछ और हैं, ये कुछ और हैं। वे हमारे हृदय में भाव भरते हैं, ये हमारे हृदय में सद्भाव भरते हैं। वे हमारी मनोवृत्तियों को कोमल-मधुर बनाते हैं, ये हमारी मनोवृत्तियों को सबल-पवित्र बनाते हैं। आपकी राधा कुछ रासविलास की पुतली राधा नहीं है। आपकी राधा, सेवा-परायण आदर्श महिला हैं, जिसकी हृत्तंत्री पर विश्ववेदना का

स्वर उठता है। आपके 'प्रिय-प्रवास' का कृष्ण भी महज गोकुल का नटवर नहीं; प्रेम का आकर है। वह त्याग के संचय का धुनी है--लोक कल्याण का व्रती है। 'रस-कलस' में जो रस का उत्स उमड़ा है, उस रस का पान कर कितने क्षुधार्त्त प्राण तृप्त हो गये। यह रस-मन्दाकिनी जिस ओर बही, संन्यास सोहाग हो गया, विराग अनुराग हो गया, मरण जीवन वन गया! मुहर्रम को होली बना देना 'हरिऔधजी' जैसे कवि के ही बूते की बात है! अधिक मैं क्या कहूं? 'हरिऔध' जी की जो भी कृति जिस किसी भी रूप में है, नित-नूतन स्वागत की चीज़ है, दिल के गले की तावीज़ है।

कवि-सम्राट्! अपनी प्रतिभा के प्रदीप में हृदय का स्नेह देकर आपने जिस मंगल-ज्योति की रचना की उसकी किरण की चाँदनी आज हिन्दी-मन्दिर के कोने-कोने को रौशन कर रही है। सहृदय-संसार में यह मंगल-दीप अक्षय हो!

साहित्य के चमन में फ़ैली य-किसकी बू है?
हिन्दी गमक रही है जिस फूल से, वो तू है।
शब्दों का तू है शिल्पी, छन्दों का तू है माली;
'रस-कलस' का तू साक़ी तेरी जबाँ शुबू है।
भाषा की हर छटा में, कविता की हर कला में,
जिस ओर ढूंढ़ता हूँ, उस ओर तू ही तू है।

तथास्तु!

हरिऔध अभिनंदनोत्सव

'स्वागतभाषण'

भाषण और निबंध का पहला भेद है, एक का श्रव्य और दूसरे का पाठ्य होना। सुनने में साहित्य के सभी प्रकार अच्छे होते हैं, पर भाषण की विशेषता उसकी श्रुति-मोहकता ही है। यदि भाषण में जानकारी, सौम्य शैली, व्यंग्य, आत्मीय राग, स्थायी प्रभाव आदि निबंध के सभी गुण हों पर वह सुनने में कटु, कर्कश, व्यर्थविस्तृत और गूढ़ जान पड़े तो उसकी मोहिनी शक्ति बहुत कुछ चली जाती है। यद्यपि लिखित भाषण में वक्ता के तात्कालिक अभिनय के गुण नहीं रहते, पर उसकी एक ऋजु-मधुर रेखा अवश्य रहती है। प्रस्तुत भाषण पढ़ते समय हमें बार बार यह स्मरण हो जाता है कि कविसम्राट् और राष्ट्रपति सामने बैठे हैं, उत्सव के जलसे में अपार जन-समूह है और भाषण पर अधिकार रखने वाला एक श्रद्धालु वक्ता बोल रहा है।

भाषा भाषण के अनुरूप तो है ही, अभिनन्दन के भी अनुकूल है। जिस कवि का अभिनन्दन हो रहा है वह भी ऐसी मुहावरेदारी का साधक है। भाषण में नाटकीयत्व के अतिरिक्त मोहने का प्रयत्न रहता है, इसीसे उसमें केवल लोकप्रिय आलोचना हो सकती है, वही इसमें है। यह कवि की आलोचना है और उत्सव की वक्तृता है। इसमें आनन्द भी है, उत्सव भी है।

८

पद्मसिंह शर्मा

दिल्ली की सन्ध्या थी। भारत की राजधानी अपने गौरव-पूर्ण अतीत की स्मृतियों को खड़हरों के रूप में रखकर ही पुल-कित हो रही थी। कभी 'जन्तर-मन्तर' और कभी पुराने किले को वह सवर्ग आँखों से देख लेती थी। दिल्ली की संध्या क्षितिज पर उतर रही थी और मैं 'कुतुबमीनार' के निकट खड़ा था। मन न जाने क्यों उदास हो रहा था। 'कुतुबमीनार' संध्या के प्रकाश में उदासीन समाधिस्थ योगी की तरह चुपचाप खड़ी थी, और उसकी लम्बी छाया 'मान-दण्ड' की तरह धरित्री की छाती पर दूर तक फैली हुई थी। परमात्मा ही जानते हैं, इसने कितनी बार दिल्ली के सुहाग-सिन्दूर को धुलते देखा होगा, कितनी बार इसने इस द्रौपदी को अपने सौभाग्य-गर्व में इठलाते देखा होगा। इस 'मीनार' को घेर कर दिल्ली का अतीत आज भी मूर्छित पड़ा है। यह अतीत का साक्षी है।

संध्या की स्वर्ण-विभा ने मटमैला रूप धारण किया। नीड़ों

की ओर जाने वाले पक्षियों के कलरव से आकाश—महाशून्य आकाश—सजीव-सा हो गया। ताँगे वाला खड़ा खड़ा अधीर हो रहा था। उसने कहा—"बाबू जी और ठहरना होगा ?" मेरा ध्यान भंग हुआ। इसी समय एक दूसरा ताँगा आया। दो सज्जन उतरे। एक थे कोट पहने प्रौढ़, तथा दूसरे थे युवक। प्रौढ़ ने युवक से कहा—"बिलम्ब हो गया। स्वामी श्रद्धानन्द जी से बातें करता रह गया। समय का ज्ञान ही न रहा।" युवक ने कहा—"पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा हमारी प्रतीक्षा में बैठे-बैठे निश्चय ही ऊब रहे होंगे।"

मेरा माथा ठनका। यह ईश्वरीप्रसाद जी तो हमारे प्रान्त के गर्व और कलकतिया 'पंच' के ख्यातनामा सम्पादक हैं, और स्वामी जी तो दिल्ली के गौरव ही ठहरे। और ये सज्जन !

माघ की सुनहली संध्या ने गोधूलि का रूप धारण किया। इन खड़हरों की बस्ती में उदास संध्या विधवा की ललाट की तरह स्फूर्तिहीन जान पड़ती थी। आकाश की लालिमा धूमिलता में परिणत होने लगी। मैं फिर अपने विचारों के शतदल में बन्दी हो गया—ये कौन हैं ? प्रौढ़ सज्जन की प्रतिभासम्पन्न मुखश्री उपेक्षा के योग्य नहीं है। मनोवेधक सादगी और शान्त मनोवृत्ति के परिचायक अचंचल नेत्र ! न जाने क्यों हृदय उनकी ओर आकर्षित हो गया। मन में सोचा कि इनका परिचय प्राप्त करूँ, पर अजनबी आदमी से एकाएक कुछ प्रश्न कर बैठने में संकोच भी हुआ। बड़ी दुविधा में था।

आखिर मैंने संकोच को धता बताते हुए, प्रौढ़ सज्जन से पूछा—"क्या आप पहली बार दिल्ली आए हैं ?" प्रश्न तो अव्य- वस्थित सा था । मैंने स्वयं अनुभव किया कि मेरा यह प्रश्न सभ्यतानुमोदित नहीं है । मैं संकोचवश, अपने भीतर ही, सिकुड़-सा गया । प्रौढ़ सज्जन मुस्करा कर बोले--"जी नहीं, कई बार आ चुका हूँ । मुझे इन खड़हरों से विशेष प्रेम है । मैं इन्हें बार-बार देखकर भी नहीं थकता ।"

मैंने सोचा, ये या तो कवि हैं, या भावुक । हाँ, इतिहासज्ञ भी हो सकते हैं । हिन्दी के विख्यात इतिहासज्ञ पं० नन्दकुमार देव शर्मा भी कुछ इसी तरह के थे । मैंने उन्हें वृन्दावन के करील कुंजों में इधर-उधर घूमते देखा है । मस्त जीव थे । अपने आप में भूले रहते थे । अन्तर्मुखी दृष्टि इसी का नाम है । इस बार मेरा साहस बढ़ा । बड़े अदब से मैंने पूछा—"आपका निवास- स्थान ?" नवयुवक सज्जन बोल उठे—"आपका निवास-स्थान जानकर क्या कीजियेगा ? यदि आप हिन्दी-प्रेमी हैं तो नाम सुन लेना ही पर्याप्त होगा । आपका नाम है पं० पद्मसिंह शर्मा ।"

मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा । क्या 'बिहारी-सतसई' के महान् ज्ञाता, समालोचक-प्रवर, असंख्य हिन्दी-संस्कृत-फारसी पुस्तकों के पुस्तकालय पं० पद्मसिंह शर्मा के सम्मुख मैं खड़ा हूँ ! कितने महान हैं ये ! मैं क्षणभर तक किंकर्तव्यविमूढ़वत् खड़ा रहा । मुझे इस प्रकार निर्वाक् देखकर शर्मा जी को शायद दया आई । उन्होंने मुझसे पूछा—"आप कहाँ रहते हैं ?"

इस प्रश्न के उत्तर देने के पहले मैंने शर्मा जी के चरण छू लेना उचित समझा, और मुझे अपनी इस समझदारी पर नाज है। इस औचित्य का पालन किया। बच्चों की सी सरलता से मुसकराते हुए शर्मा जी ने अपने उस प्रश्न को दोहराया। मैंने हाथ जोड़कर उत्तर दिया--"मैं गया रहता हूं।" शर्मा जी क्षण-भरके लिये मानो चिन्ता में लीन होगये। आप फिर बोले--"गया! हाँ, गया में मोहनलाल जी महतो भी रहते हैं। क्या आप उन्हें जानते हैं? उनकी दो पुस्तकें मेरे पास हैं--"निर्माल्य" और "एकतारा"। वे व्यंग चित्रकार भी हैं।"

मैंने सोचा, समालोचकप्रवर के श्रीमुख से ही सुन लूं कि इस पुस्तक के सम्बन्ध में उनका क्या मत है। मैं बोला-"जी, नहीं, उनसे विशेष परिचय तो नहीं है। उनकी पुस्तकें कैसी हैं? क्या आपको पसन्द आईं?

शर्माजी ने उछ्वसित कंठ से उत्तर दिया—"वाह! क्यों नहीं, मैं तो प्रवास में सदा उन्हें पढ़ा करता हूँ। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि महतो जी सफल कवि हैं! अब मैं अपने आपको नहीं रोक सका—क्षण-भर भी अपने को छिपाना कठिन होगया। हाथ जोड़ कर बोला—"इसी सेवक का नाम मोहनलाल है।"

संध्या ने गोधूलि का रूप धारण किया। मीनार के निकट ही दो तांगे खड़े हैं। इस झुट पुट के वक्त की स्मृति आज भी हृदय को चुटकियों से मसल देती है। दिल्ली के खंडहरों की संध्या

उदास छाया डालकर गगनांगण में विलीन हो गई। जिस सड़क पर हमारे दोनों ताँगे शहर की ओर जा रहे हैं, उस सड़क पर न जाने कितनी बार मुगल-पठानों की विजयिनी सेना के घोड़ों की टापों से क्षुब्ध होकर धूलि उड़ी होगी। शाही सवारियों की कितनी ही स्मृतियाँ आज भी उस सड़क के अणु-परमाणु में लिपटी पड़ी होंगी। इसका इतिहास नेपथ्य के उस पार चला गया है

चैत का महीना था। पतझड़ के दिन थे। मुझे कलकत्ता जाना पड़ा। वसन्त से और कलकत्ते से क्या सम्बन्ध है, यह बतलाना वातुलता का लक्षण है। मैं ज़करिया स्ट्रीट में ठहराया गया। मेरे कमरे की खिड़की के बाहर एक छोटा सा पीपल, सीमेंट और चूने के हृदय को फाड़कर पैदा हो गया था। तीन-चार इंच के इस महीरुह में कठिनता से दो-तीन पत्ते होंगे। आश्चर्य तो यह है कि इस पर भी वसंत का राज्य था। इसके पुराने पत्ते झड़ गये थे, और लाल लाल दो तीन कोपलें हवा के हिलोरों से खेल रही थीं। मैंने आंखें भर कर इस दृश्य को देखा। कलकत्ते भर में मुझे इतना ही 'पद्य' जान पड़ा, नहीं तो जो कुछ देखा, वह केवल गद्य-ही-गद्य था।

संध्या समय पं० ईश्वरीप्रसाद जी पधारे। आते ही आप मुझ पर बरस पड़े—"बड़े अहमक हो, पंच-आफिस में क्या स्थान की कमी थी? रामलाल जी (स्वर्गीय बाबू रामलाल जी वर्मा) को तुम्हारे इस आचरण से बड़ा कष्ट हुआ। लड़कमत नहीं छूटी। चलो।"

एक साँस में इतना बोल कर उत्तर की प्रतीक्षा करना घोर अनावश्यक समझते हुए आप मेरे स्ट्रेचर पर बैठ गये। एक मिनट ठहर कर आपने मेरे नौकरों को आदेश प्रदान किया-- "हाँ जी, खड़े मुह क्या देखते हो ? बिस्तर वगैरह ठीक करो। बाहर मोटर खड़ी है।

अनेक तर्क-वितर्क के बाद यह समझौता हुआ कि "मैं भोजन तो पंच-आफिस' में कर लिया करूंगा, पर रहना यहीं होगा।"

बड़ी कठिनता से शर्माजी मान गये, पर आज्ञा हुई कि कि कपड़े पहन कर इसी क्षण मेरे साथ चलो। मैंने इस आज्ञा का पालन किया। अनेक अट्टालिकाओं की कतारों के बीच से सरसराती हुई मोटर 'पंच' के द्वार पर खड़ी हुई। शर्माजी के साथ मैंने भीतर प्रवेश किया। वर्माजी की सौम्य मूर्ति मेरे सामने आई। "अंकवार' का दृश्य अनोखा था। बैठक-खाने की ओर मुझे ले जाया गया। वहां का दृश्य देखकर मैं सहसा चौंक उठा। देखता हूँ कि साहित्याचार्य्य पं. पद्मसिंह शर्मा विराजमान हैं। पंडितजी के सम्मुख अर्धचन्द्राकार में कोई दो दर्जन सज्जन बैठे हैं। दरबार सा लगा हुआ है। "आइये" "आइये" की स्वागत-ध्वनि के बीच में प्रवेश करके मैंने शर्माजी के चरण स्पर्श किये। आपने उठ कर मुझे हृदय से लगा लिया। आवश्यक प्रश्नोत्तर के बाद शर्माजीने कहा कि--"वियोगी! मैंने कल सुना कि कल तुम आने वाले हो। बड़ी उत्सुकता से इन्तजार करता रहा। तुम नहीं आये। सोचा कि भाई, तुम

(व्यंगपूर्वक) बड़े आदमी हो। आये होगे तो किसी होटल में ही ठहरे होगे। गरीबोंकी झोपड़ियों की क़द्र करना आप लोगों के लिये लोहे के चने चबाना है।"

इस तरह कोई बीस-पचीस मिनटों तक मुझे मीठे-मीठे शब्दों की सहायता से बनाते रहे। फिर मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए बोले—"आज कल लिखना बन्द कर दिया ? क्या बूढ़े हो गये ? विलायत के लेखक तो मरते दम तक कलम नहीं रखते। अस्सी और नब्बे साल की उम्र तक लगातार लिखते रहते हैं, पर हमारे हिन्दी के नवयुवक तो 'मुफ़लिस के चिराग़ की तरह संध्या से ही टिमटिमाया करते हैं।"

इसी समय ईश्वरीप्रसाद जी ने प्रवेश किया। कोई बारह बजे रात तक आनन्द-स्रोत प्रवाहित होता रहा। घड़ी की सुइयाँ हिरन की तरह भाग रही थीं, पर मन तो "मधु की मक्खियाँ" हो रहा था, जिसकी "पखियाँ" बूड़ गई थीं। वे अपनी छाप मेरे हृदय पर अमिट कर गये !

× × × ×

गर्मी के दिन थे। शायद वैशाख का राज्य था। लू के मारे भूतमात्र व्यग्र थे। आकाश धूलिमण्डित हो रहा था। रात को भी लू चलती थी। इसी समय पटने से मुझे एक तार मिला। पं० पद्मसिंह शर्मा ने तार दिया था—"शीघ्र चले आओ।"

बात यह थी कि सम्मेलन का सालाना अधिवेशन उस वर्ष मुज़फ्फरपुर में होने जा रहा था, और शर्मा जी सभापति-पद

को गौरवान्वित करने जा रहे थे। पटना पहुँच कर आपने मुझे खोजा। बस, एक तार मेरे नाम धमक दिया गया। मुझ अकिंचन को वे भूल न सके। उनका महत्त्व इसी में छिपा हुआ है। आज मेरे सामने उनकी कई चिट्ठियाँ इस बात के प्रमाण-स्वरूप पड़ी हैं। वे पुराने काव्य साहित्य के प्रेमी थे, पर 'निर्माल्य' की सम्मति में उन्होंने जो कुछ लिख दिया था, उसे पढ़कर मैं एक बार काँप उठता हूँ। "एकतारा" की सम्मति क्या है, एक छोटी सी पुस्तिका है। प्रशंसा की सीमा को अनन्त बनाकर ही शर्मा जी ने दम लिया है।

वे महान् थे! इसमें सन्देह नहीं कि उनके रिक्त स्थान की पूर्ति करते समय विधाता को भी कुछ विशेष शक्ति का परिचय देना होगा।

पद्मसिंह शर्मा

'संस्मरण' भी एक प्रकार के निबंध ही हैं। इनमें सफल साहित्यिक निबंध के सभी गुण रहते हैं और सफल आलोचना की छाया भी। क्योंकि वही बातें स्मृतिशेष रहती हैं जिनमें आन्तरिक मन्थन के बाद भी टिक रहने की क्षमता होती है। अच्छे संस्मरण में एक विशेषता और भी होती है कि आलोचक और आलोच्य दोनों के ही दर्शन हो जाते हैं। प्रस्तुत संस्मरण में ये सभी बातें हैं। इसमें पद्मसिंह का सजीव चित्र तो है ही, लेखकप्रवर मोहनलाल महतो का स्वभाव भी स्पष्ट अंकित हो गया है। कुशल लेखक संस्मरण में उन्हीं घटनाओं को चुनता है जिनमें कुछ मर्म हो और जिनमें स्वयं उसके हृदय की अनुभूति छिपी हो। इस संस्मरण में ऐसी दो घटनाएँ चुनी गई हैं। वर्णनशैली ऐसी नाटकीय और निपुण है कि दृश्य सामने खिंच जाता है; भाषा की सौम्यता और प्रसंगगर्भिता सोने में सुहागे का काम करती है। 'मानदण्ड' 'मधु की मक्खियाँ' 'पँखिया' 'जन्तर मन्तर 'नेपथ्य के उस पार' आदि के समान शब्दों में साहित्यिकों के भावसागर भरे हुए हैं। विदग्ध उन्हें देखते ही सिहर उठता है।

पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

१.

पगली का पत्र

सुना है कि तुम मुझे पगली कहते हो। हाँ, मैं पगली हूँ। तुम्हारे सुन्दर मुखड़े की पगली हूँ, तुम्हारे घुँघराले अलकों की पगली हूँ; तुम्हारी साँवली सूरत की पगली हूँ; तुम्हारी जादूभरी आँखों की पगली हूँ, तुम्हारी सुधाभरी मुस्कान की पगली हूँ, तुम्हारी उस मुरलिया की पगली हूँ, जो संसार को पागल बना देती है; और पगली हूँ उस पत्थर की मूर्ति की जो वास्तव में अनिर्वचनीय है; आज दिन जो हमारा जीवन-सर्वस्व है, जो पत्थर होकर भी मुझ पर पसीजती है, जो अकरुण होकर भी मुझ पर उस करुण रस की वृष्टि करती है, जिसका स्वाद वही जान सकता है जिसने उस रस को चखा है।

तुम कहोगे कि छिः इतनी स्वार्थ-परायणता! पर प्यारे यह स्वार्थ-परायणता नहीं है, यह सच्चे हृदय का उद्गार है, फफोलों से भरे हृदय का आश्वासन है, व्यथित हृदय की शान्ति है, आकु

लता भरें प्राणों का आह्वान है, संसार-वञ्चिता की करुण-कथा है, मरुभूमि की मंदाकिनी है, और है सर्वस्वत्यक्ता की चिर-तृप्ति। 'मैं उन पागलों की बात नहीं कहना चाहती, जो बड़े बड़े विवाद करेंगे, तर्कों की झड़ी लगा देंगे, ग्रंथ पर ग्रंथ लिख जावेंगे; किन्तु तत्व की बात आने पर कहेंगे, तुम बतलाए ही नहीं जा सकते, तुम्हारे विषय में कुछ कहा ही नहीं जा सकता। मैं तो प्यारे! तुमको सब जगह पाती हूँ, तुमसे हँसती-बोलती हूँ; तुमसे अपना दुखड़ा कहती हूँ; तुम रीझते हो तो रिझाती हूँ, रूठते हो तो मनाती हूँ। आज तुम्हें पत्र लिखने बैठी हूँ। तुम कहोगे यह पागलपन ही है। तो क्या हुआ, पागलपन ही सही, पगली तो मैं हुई हूँ, अपना जी कैसे हलका करूँ, कोई बहाना चाहिए—

भरे हैं उसमें जितने भाव!
मलिन हैं या वे हैं अभिराम!
फूल-सम हैं या कुलिश-समान!
बताऊँ क्या मैं तुमको श्याम!
हृदय मेरा है तेरा धाम!!

एक दिन सखियों ने जाकर कहा—आज राणा महलों में आयेंगे, बहुत दिन बाद यह सुधा कानों में पड़ी, मैं उछल पड़ी, फूली न समाई। महल में पहुँची, फूलों से सेज सजाई, तरह-तरह के सामान किए। कहीं गुलाब छिड़का, कहीं फूलों के गुच्छे लटकाए, कहीं पाँवड़े डाले, कहीं पानदान रखा, कहीं इत्रदान। सखियों ने कहा—यह क्या करती हो, हम सब किस लिए हैं।

मैंने कहा--'तुम सब हमारे लिए हो, राणा के लिए नहीं। राणा के लिए मैं हूँ, ऐसा भाग्य कहाँ कि मैं उनकी कुछ टहल कर सकूँ। एक दिन राणा के पाँव में कङ्कड़ी गड़ गई, उस दिन जी में हुआ था कि मैंने अपना कलेजा वहाँ क्यों नहीं बिछा दिया, आज मैं ऐसा अवसर न आने दूँगी। धीरे धीरे समय बीतने लगा, बहुत देर हो गई, राणा न आए। मैं घबराई, उठ-उठ कर राह देखने लगी। जब बहुत उकताई, वीणा लेकर बजाने लगी; फिर गाया--

गए तुम मुझको कैसे भूल!
किसलिए लूँ न कलेजा थाम?
न बिछुड़ो तुम जीवन-सर्वस्व!
चाहिए मुझे नहीं धन-धाम!
तुम्हीं मेरे हो लोक-ललाम!!

गाना समाप्त होते ही राणा आए। मेरा राम आया, जो मेरे रोम रोम में समाया है, वह आया! उनको देख, मैं अपने को भूल गई। उस समय मैंने क्या किया क्या नहीं, कुछ याद नहीं। वे बोले-- मीरा' मैंने कहा--'नाथ!' उन्होंने कहा आजकल तुमको क्या हो गया है?' मैंने कहा--'क्या हो गया है?' उन्होंने कहा--तुम पगली हो गई हो, लोकलाज धो बहाई हो; कभी गाती हो, कभी नाचती हो, कभी साधुओं के सङ्ग फिरती हो, कभी ऐसा काम करती हो जो राजमर्यादा के अनुकूल नहीं। मीरा! सँभलो, हमारा मुँह देखो।' इस समय मैं उन्हीं का मुँह देख रही थी, सोच रही थी--यही तो मेरे गिरधर गोपाल हैं,

यही तो मेरे वंशीवाले हैं। उनके कंठ में मुरली सी माधुरी पाकर मुझको उन्माद हो रहा था, उनके स्वरूप में प्यारे मुरली-मनोहर का सौंदर्य देख कर मैं आनन्द-समुद्र में निमग्न हो रही थी, उनकी वात समाप्त होते ही मैंने कहा—'मैं आपका ही मुँह तो देख रही हूँ ! क्या आपका गुणानुवाद गाने का मेरा अधिकार नहीं ? आप का गुण गाते-गाते जब मेरा मन नाच उठता है, तब मैं नाचने लगती हूँ, इसमें मेरा अपराध ? लोकलाज किसे कहते हैं, मैं नहीं जानती। जो कार्य आपके प्रेम में बाधा डाले, उससे मैं नाता नहीं रखना चाहती। साधु-सन्त आपके ही रूप तो हैं, उनमें भी तो आप बसते हैं, उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, आपही को तो रिझाना है, फिर मैं आपको क्यों न रिझाऊँ ? मेरे राजा महाराजा आपही तो हैं—आप की मर्यादा करनी ही तो राज-मर्यादा है। मैं जो कुछ कर रही हूँ, आपकी मर्यादा का महत्व समझ कर ही कर रही हूँ, फिर वह अनुकूल क्यों नहीं ?' यह कहते-कहते मैं प्रियतम के मुख-चन्द्र की चकोरी बन गई, उनके ध्यान में मग्न हो गई। जब आँखें खुलीं तो उस समय महल में राणा नहीं थे। हृत्तन्त्री में यह ध्वनि हुई—

रँग सका मुझे एक ही रंग !
दूसरों से क्या मुझको काम ?
भली या बुरी मुझे लो मान !
भले ही लोग करें बदनाम !
रमा है रोम-रोम में राम !!

कुछ दिन बीत गये। एक दिन कुछ सखियाँ आईं। उनका मुख सूखा हुआ था, आँखों में जल था, बात मुँह से सीधे निकलती न थी, उनके कलेजे पर पत्थर रक्खा हुआ था। उनके हाथ में एक सोने का कटोरा था, उसमें कुछ था। मैंने पूछा क्या है? वे बोल न सकीं, उनकी घिग्घी बँध गई, शरीर काँपने लगा। मैंने कहा–'डर की बात क्या है, लाओ कटोरा मुझको दो। क्या इसे राणा ने भेजा है?' एक ने कहा–'हाँ!' मैंने कहा–इसमें सुधा है, मेरे लिए मेरे मनमोहन ने जो भेजा है वह दूसरी वस्तु हो नहीं सकती। यदि दूसरी वस्तु होगी, तो भी वह जीवन-धन के करकमलों का स्पर्श करके सञ्जीवनी बन गई होगी। मैंने उसको उनके हाथों से लेकर पान किया। उसमें अलौकिक स्वाद था। सुधा मैंने आज तक पी नहीं थी, उसकी माधुरी का वर्णन सुना था। उसे पीकर मुझे ज्ञान हुआ कि सुधा कैसी अलौकिक वस्तु है। मैं उसे जितना ही पीती थी, मेरा हृदय उतना ही उत्फुल्ल हो रहा था। मैं सब पी गई, फिर भी चाह बनी रह गई कि और होती तो पीती। इस सुधा-पान करने के बाद ज्ञान हुआ कि वह मद कौनसा है जिसको पान कर आत्मा कुछ और से और हो जाती है। जिस दिन मैंने उसे पान किया, उसी दिन से तुम मेरी आँखों में और अधिक समा गए, यह मिट्टी का संसार सोने का बन गया और मेरा जीवन सार्थक हो गया। उसी दिन से मैं वास्तव में पगली हुई, और प्रायः मेरे कंठ से यह गान होता रहता है:—

गरल होवेगा सुधा-समान !
सुशीतल प्रबल-अनल की दाह !
बनेगी सुमन-सजाई सेज !
विपुल–कण्टक–परिपूरित रात !
हृदय में उमड़े प्रेम–प्रवाह !

संसार बुरी जगह है, बहुत कुछ निर्लेप रहने पर भी उसके पचड़े कुछ सता ही देते हैं। एक दिन कुछ कारणों से मैं खिन्न हो गई, बड़ी आत्म-ग्लानि हुई, भाव-परिवर्तन के लिए गृहोद्यान में आई। सन्ध्या-समय था, हरे भरे वृक्ष लहरा रहे थे, फूल फूले हुए थे, चिड़ियाँ गा रही थीं, तितिलियाँ नाच रही थीं और भौंरे गूँज रहे थे। वायु मंद–मंद चलकर तरुदलों से खेल रहा था, कुसुमों को चूम रहा था, तितिलियों को प्यार कर रहा था और लताओं को गोद में लेकर खेल रहा था। वृक्षों का हरा–भरा और आनन्दित भाव देखकर मुझको बड़ा हर्ष हुआ। वे पृथिवी में गड़े हुए थे, फिर भी प्रसन्नवदन थे। जो दल चाहता उसे दल देते, जो फल चाहता उसे फल देते, जो उनकी छाया में जा बैठता, उसे आराम देते। नाना पक्षी उनकी गोद में बैठे हुए चहक रहे थे। वे उनको सहारा दे रहे थे, उनके खोतों की रक्षा कर रहे थे। कोई ढेला मार जाता, तो भी उससे कुछ न बोलते। सम्भव होता तो एकाध सुन्दर फल उसको भी दे देते। मैंने जी ही जी में कहा–धन्य है इनका जीवन ! क्या मनुष्य में इतनी सहिष्णुता और उदारता भी नहीं ? फूलों की ओर दृष्टि गई तो

देखा, वे काँटों में रहकर भी विकसित थे। जो रस की कामना करके उनके पास जाता, वे उसी को थोड़ा बहुत रस दे देते, फिर भी निष्काम रहते। हवा पास होकर निकलती तो उसको सुरभित कर देते। सब ओर इस प्रकार आनन्द का प्रवाह और औदार्य का विकास देखकर मैं कुछ और से और हो गई। साथ ही मन कुछ लज्जित भी हुई। इतने में चन्द्रदेव निकले, धीरे धीरे ऊपर आये। उनकी चांदनी से रात्रि का मुख उज्ज्वल हो गया, वसुधा धुल गई और उस पर बड़ी सुन्दर सफेद चादर बिछ गई। चन्द्रदेव हँस रहे थे और सब ओर सुधा की वर्षा कर रहे थे। उनके इस औदार्य की सीमा नहीं थी। सब ओर निराली ज्योति जग रही थी। सब उनके सुधावर्षण से तृप्त थे। चन्द्रदेव सबको एक आँख से देख रहे थे। उनके लिए फूल-काँटे, जल-स्थल, तृण-तरु, पशु-पक्षी, कीट-पतंग समान थे। वे तुम्हारे ही अंग तो हैं, तुम्हारी ही एक आँख तो हैं, दो आँख से किसी को कैसे देखते ? मैं देर तक इन दृश्यों को देखती रही। जितना ही उनको देखती, जितना ही उनके विषय में विचार करती, उतना ही विमुग्ध होती, उतना ही अपने को भूलती, उतनी ही पगली बनती। जिधर मैं आँखे उठाती हूँ, उधर ही नाना विभूतियों के रूप में तुमको देखकर मुख से यही निकलता है—"इन आँखिन प्यारे, तिहारे बिना जग दूसरो कोऊ दिखातो नहीं।" मैं पगली कही गई हूँ, तो पगली ही रहूँगी और यही कहती फिरूँगी।

बताता है खग-बृन्द-कलोल !
सरस-तरु-पुञ्ज प्रसून-मरन्द !
वायु-सञ्चार प्रफुल्ल-मयंक !
हमारा ब्रज-जीवन-नभ-चन्द !
सत्य है, चित् है, है आनन्द !!

तुम्हारी,
पगली मीरा ।

पगली का पत्र

हरिऔध जी का गद्य सदा मुहाविरेदार और काव्यरस से भरा हुआ रहा करता है। उनका यह गद्य तो पत्रशैली में लिखा हुआ गद्यकाव्य है। इसमें केवल भाषा का बाह्य सौन्दर्य ही नहीं भाव की आभ्यन्तर रमणीयता भी है। यों साहित्य के दोनों गुण हैं।

संस्कृत आलोचकों के शब्दों में यह चम्पूकाव्य का एक छोटा सा नमूना है। चम्पू की भाषा मिश्र होती है। उसमें गद्य और पद्य दोनों रहते हैं। उसमें वर्णन और भावोन्मेष का भी मिश्रण रहता है। साथ ही उसमें आधुनिक गद्यकाव्य के गुण भी रहते हैं।

गद्यकाव्य में एक, केवल एक भाव की अभिव्यक्ति रहती है। हरिऔधजी के इस पत्र में भी केवल अनन्य प्रेम के एक भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति है।

गद्यकाव्य के लिए शैली और रूप का कोई बन्धन नहीं रहता। वह संवाद, पत्र, उद्गार, आत्मकथा आदि की किसी शैली में बन पड़ता है। आकार प्रकार अवश्य उसका बड़ा होना चाहिए। सबसे बड़ी बात तो है गद्यकाव्य की कर्तृप्रधानता। गद्यकाव्य भी गीतकाव्य के समान आत्म-प्रधान होता है। उसमें विषय की योजना तो निमित्तमात्र रहती है।

गद्यकाव्य का एक गुण यह भी माना जाता है कि उसमें बनाव चुनाव सँवार सिंगार की कला भी झलकती हो। यह गुण भी प्रस्तुत नमूने में है।

स्वर्गीय पं० भीमसेन शर्मा

(स्वामी भास्करानंद सरस्वती)

आज से ३० वर्ष पहले की बात है। जब सन् १८९७ के सितम्बर में पंडित जी से मुझे प्रथम परिचय का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, सिकन्दराबाद (बुलन्द शहर) आर्यसमाज का महोत्सव था। मैं उन दिनों युक्तप्रांतीय आर्यप्रतिनिधि सभा का आनरेरी उपदेशक था, पंडित जी अध्ययन समाप्त करके काशी से लौटे ही थे, और दिल्ली आर्यसमाज की पाठशाला में अध्यापक थे, वह भी उस उत्सव में पधारे थे। जिन दिनों की यह बात है, सिकन्दराबाद में आर्यसमाज का उत्सव बड़े समारोह से मनाया जाता था, चारो ओर से हजारों आदमी उत्सव में सम्मिलित होते थे, बड़ी चहल पहल होती थी—जोश का समुद्र सा उमड़ पड़ता था। आज भी उत्सव होते हैं पर वह बात कहाँ! खैर, उत्सव समाप्त हुआ और अपनी अपनी बोलियाँ बोलकर सब पंछी उड़ गए। मले-

रिया का मौसम था, सिकन्दराबाद में और उसके आस पास वबा की तरह मलेरिया बुख़ार फैलरहा था। कुछ यात्री भी उसके लपेट में आगये, उनमें मैं और पंडित जी भी थे। उत्सव के आरम्भ में जो अभ्यागतों की आवभगत होती है, समाप्ति पर उसके बिलकुल उलटा होता है। कोई किसी को पूछता नहीं, अकसर उपदेशकों को सिर पर असवाब लाद कर स्टेशन पर पहुँचना पड़ता है। हमारी भी किसी ने ख़बर न ली। बस्ती से बाहर एक बड़ा सा मकान था, जिसमें हम और दूसरे यात्री ठहराये गए थे। एक-एक करके सब चले गए, सिर्फ हम दोनों बीमार परदेसी एक कोने में पड़े रह गए। मकान की रखवाली के लिए जो नौकर था, वह भी चलता बना। साथ ही हमारा असबाब भी कम करके भार हलका करता गया, कुछ कपड़े और दोनों लोटे भी लेता गया। उस निर्जन शून्य स्थान की नीरवता और स्तब्धता का भंग हमारे कराहने से कभी कभी हो जाता था, नहीं तो कयामत का सन्नाटा था। एक दिन और एक रात इसी हालत में किसी तरह कटी, बीच बीच में जब होश आ जाता था, तो एक दूसरे को पुकार कर पूछ लेते थे कि कहो क्या हालत है? ख़ुद ही बीमार और ख़ुद ही तीमारदार थे। बुख़ार की गर्मी, प्यास की शिद्दत, पानी देने वाला तो दूर, पानी का पात्र तक पास न था। दूसरे दिन जब ज्वर कुछ कम हुआ तो चलने की सोचने लगे। एक एक मिनट कल्प बराबर बीत रहा था, पर किधर जाँय, स्टेशन तक कैसे पहुँचे। पंडित जी को तो दिल्ली तक

ही जाना था, दो घंटे का रास्ता था, गाड़ी सीधी जाती थी। मेरा सफर लम्बा था, रास्ते में कई जंकशन पड़ते थे जहाँ पर गाड़ी बदलती थी। उन दिनों प्लेग भी थी। हर एक जंकशन पर यात्रियों की डाक्टरी परीक्षा होती थी। जरा किसी को बुख़ार देखा कि डाक्टर साहब ने कारन्टीन (quarantine) में पहुँचाया, और फिर वहाँ से कोई सौभाग्यशाली महाप्राण ही सही-सलामत बच कर घर तक पहुँचता था, नहीं तो महोच्छव की मौत दुर्लभ न थी—

"मरनो भलो विदेश को, जहाँ न अपनो कोय।
माटी खायँ जनावरा, महामहोच्छव होय॥"

घर पहुँचने के लिए तबियत बेचैन थी, पर बच कर निकलने का कोई रास्ता न था,—'बंद थीं चारो खूंट की राहें।' मुझे इस कान्दिशीक की दशा में देख कर पंडितजी ने कहा—'हमारे साथ दिल्ली चलो।' पंडित जी दिल्ली में स्वयं परदेशी थे, उनसे यह पहिली ही मुलाक़ात थी, और वह ख़ुद बीमार थे। इस दशा में उनका आमंत्रण और आतिथ्य स्वीकार करते मुझे संकोच हुआ। मैंने कहा कि नहीं, आप को कष्ट न दूँगा, पर पंडित जी मुझे छोड़ कर जाने को किसी प्रकार राजी न हुए,--'पावों को बहुत झटका पटका, जंजीर के आगे कुछ न चली।

गत्यन्तर न देखकर मुझे आत्म-समर्पण करना, स्नेह-शृंखला में बँधना ही पड़ा। एक राह चलते आदमी से दुपइया इक्का, मँगवा कर स्टेशन पहुँचे और टिकट कटाकर दिल्ली की राह ली। रास्ते

में गाजियाबाद स्टेशन पर प्लेग-डाक्टर का सामना हुआ। मुसाफिर ट्रेन से उतार कर खड़े कर दिए गए। डाक्टर डरावनी सूरत से घूर घूर कर एक-एक को देखता जाता था, जिस पर ज़रा संदेह हुआ कि पकड़ गया। मामूली बुख़ार को भी प्लेग का पूर्वरूप समझ कर प्लेग के झोंपड़ों में धकेल दिया जाता था। हम दोनों को उस समय भी ज्वर था, खड़ा होना कठिन था, पर इस आपत्ति का सामना करने को पहिले ही से दृढ़ संकल्प से तैयार थे। थोड़ी देर के लिए देहाध्यास को भुला कर तन कर खड़े हो गये, मानो बिलकुल भले चंगे हों। दिल धड़क रहा था, पर शरीर को सँभाले हुए थे, दृष्टि डालता हुआ डाक्टर निकल गया, तो जान आई—'जान बची लाखों पाये'।

'बला आई थी, लेकिन ख़ैर गुज़री' कह कर करुणावरुणालय दीनबंधु भगवान् को बार बार धन्यवाद दिया। जीवन में और भी कड़ी घड़ियाँ आई हैं, अनेक बार कड़ी परीक्षा देनी पड़ी है, पर इस संकट से पार पाने पर जो हर्ष हुआ था, वह अबतक याद है। अस्तु दिल्ली पहुँच कर दो चार दिन बाद पंडित जी तो चंगे हो गए, और मेरी तबीयत और ख़राब हो गई। ज्वर के साथ खाँसी भी शामिल हो गई। उसी हालत में मुझे १५-२० दिन पंडित जी के तत्वावधान में दिल्ली रहना पड़ा। पूर्ण स्वास्थ्यलाभ कर लेने पर ही पंडित जी के अस्पताल से, परिचर्य्या-गृह से डिसचार्ज हो सका। बीच बीच में कई बार वहां से चल देने की चेष्टा की, पर छुटकारा न हुआ। पंडित जी का वह अकृत्रिम

स्नेह और सौजन्यपूर्ण उदार व्यवहार याद करके आज भी हृदय गद्गद हो रहा है। उस समय की बहुत सी बातें रह-रह कर याद आ रही हैं। जी चाहता है कि एक बार फिर उसी हालत में पहुँच जाऊँ, भले ही बीमार होना पड़े, पर अफ़सोस! अब उन बूंदों भेंट कहाँ! बीमार हो जाना तो कुछ मुश्किल नहीं, पर पंडित जी अब कहाँ! मुमूर्षु-दशा में सार्वजनिक आश्रम से धक्का देकर निर्वासित करने वाले, ममताशून्य 'मित्रों' की आज भी कमी नहीं, जो अपनी यशोदुन्दुभि को हरवक्त कलम के कोण से पीट पीटकर दिशाओं को गुँजाते और दिग्गजों को चौंकाते रहते हैं, पर जिन्हें अपने किसी विपन्न मित्र पर ज़रा भी दया नहीं आती। मित्रता तो दूर, जिन्हें मनुष्यता भी अपील नहीं करती, परमात्मा इनसे बचावे और अन्त समय में किसी को ऐसों का मुँह न दिखावे। अस्तु, अतिप्रसंग हो गया, काली की सफेदी ने कोलतार की कालिमा का नक्शा आँखों के सामने खड़ा कर दिया। सुना था कि मैत्री स्थायिनी होती है। पढ़ा था कि 'अजर्यम् आर्यसंगतम्' (आर्य पुरुष की मित्रता कभी पुरानी नहीं होती, सदा एकरस रहती है)। इसकी सचाई पंडित जी की मित्रता में पाई। इस तीस वर्ष के लम्बे समय में परीक्षा की कसौटी पर सौहार्द के सोने को कई बार परखा और वह सदा खरा ही उतरा। एक साथ काम करते हुए बहुत से मतभेद के प्रसंग आये, कभी कभी कुछ वैमनस्य की नौबत भी पहुँची पर बंधुता का बंधन ढीला न पड़ा, उत्तरोत्तर दृढ़ ही होता गया।

पंडितजी अंत में स्वामीजी हो गए थे—संन्यास ले लिया था, पर मित्र-ममता में, मिलनसारी में वह पहले पंडितजी थे। काषाय-विरक्ति के दंभ-रंग की कोई छींट उनकी चरित्र-चंद्रिका की चादर पर न पड़ी थी। प्रायः अपरिपक्वकषाय नौजवान, कपड़े रँगकर बूढ़े ब्रह्मा को भी 'बच्चा' पुकारने लगते हैं, गुरुजनों से भी दण्ड-प्रणाम कराना चाहते हैं। उनके भी रिस्पेक्ट Respect की रिक्वेस्ट Request करते हैं। यह अहम्मन्यता अज्ञ साधुओं में ही नहीं, अंग्रेजी पढ़े लिखे 'जेण्टिलमैन' साधुओं में भी पाई जाती है। भगवे-बाने का प्रभाव उनके चरित्र पर बस इतना ही पड़ता है कि अपने को सबका स्वामी समझने लगते हैं—

"ब्रह्मनिष्ठा, तत्त्वचिन्ता ज्ञानगरिमा कुछ नहीं।
रख लिया बढ़िया सा सुन्दर नाम त्यागी बन गये॥"

पंडितजी इस साधु-संन्यासी-सम्प्रदाय के व्यापक नियम के अपवाद थे। संन्यासी होकर भी आप श्री ६ गुरुवर पं० काशीनाथजी महाराज के चरणों में उसी प्रकार नतमस्तक होकर शिष्योचित श्रद्धा से प्रणाम करते थे, यद्यपि आश्रमोचित मर्यादा की दृष्टि से गुरुजी को उनके इस व्यवहार से संकोच होता था। कई बार मना भी किया पर वे मानते न थे। स्वामी बनकर भी शिष्य-भाव न भुलाया था। हम लोगों के साथ भी उसी बेतकल्लुफी से मिलते थे।

दिल्ली के वाद

दिल्ली में पंडितजी कोई डेढ़ वर्ष टिके, वहाँ से अजमेर वैदिक यंत्रालय में गये। 'वेदों की मूल संहिता' वैदिक प्रेसमें छप रही थी, उसी के संशोधन के लिए आप वहाँ बुलाए गये थे। आप के संपादकत्व में संहिता छपी, कुछ दिनों तक प्रेस के मैनेजर भी रहे। अजमेर से आप सिकन्दराबाद गुरुकुल में, जो सबसे पहला गुरुकुल है, आये, और कई वर्ष तक वहाँ पढ़ाया। जब आप सिकन्दराबाद गुरुकुल में थे, तब सन् १९०० में मैं आहार (बुलन्दशहर) की वैदिक संस्कृत-पाठशाला में मुख्याध्यापक था। बीच बीच में मुलाकात होती रहती थी—कभी मैं सिकन्दराबाद पहुँचता था, कभी वह आहार आते थे। परस्पर पत्र-व्यवहार बराबर जारी था। यह पत्र-व्यवहार मनोरंजन की प्रधान सामग्री थी, पत्र विस्तृत होते थे और विशुद्ध परिमार्जित भाषा में। हृदयहारी गद्य-काव्य का आनन्द आता था। कभी कभी पंडितजी पद्य में भी पत्र लिखते थे, उनमें भी कवित्व- का अच्छा चमत्कार होता था। मैं पंडितजी के पत्रों के लिए समुत्सुक रहता था, बार बार पढ़ता था और जी न भरता था। पत्र-व्यवहार का मुझे एक व्यसन सा रहा है। पत्र लिखते लिखते ही मैंने लिखना सीखा है। पंडितजी मुझे दाद दे-देकर पत्र लिखने के लिए उत्साहित करते रहते थे। उस समय के उस संस्कृतमय पत्र-व्यवहार का अधिकांश अब भी मेरे पास सुरक्षित है। उस सिलसिले के जो पत्र नष्ट हो गए हैं, उनका अफ़सोस,

साहित्य की बहुत सी पोथियाँ जमा कर लेने पर भी अब तक बाक़ी है। अब भी जब कभी उन पत्रों को पढ़ता हूं, तो वही आनन्द पाता हूँ। किसी सुलेखक और सहृदय विद्वान् के साथ इस प्रकार का पत्र-व्यवहार भी एक शिक्षा का साधन है।

पांडित्य का परिचय

जिन विद्वानों का पंडितजी से परिचय था, वह तो उनके पाण्डित्य से व्यक्तिगत रूप में अच्छी तरह परिचित हो गये थे, पर सर्वसाधारण को उनके पाण्डित्य का वास्तविक ज्ञान एक विशेष अवसर पर हुआ। शायद सन् १९०० का श्रावण मास था, दिल्ली में अखिल-भारतीय-सनातनधर्म-महामण्डल के बहुत बड़े धूमधामी महोत्सव के मुकाबिले में आर्यसमाज भी अपनी सारी शक्तियों समेत शास्त्रार्थ और प्रचार के लिये आकर डट गया था। महामण्डल की ओर महामहोपाध्याय पं० शिवकुमार शास्त्री, महामहोपाध्याय पं० राममिश्र जी आदि दर्जनों धुरन्धर विद्वान्, पूज्य मालवीयजी तथा व्याख्यान-वाचस्पतिजी आदि बीसियों सुवक्ता महोपदेशक, श्री अयोध्या-नरेश और मिथिला-नरेश प्रभृति कई राजा महाराजा पधारे थे। आर्यसमाज की तरफ से भी प्रायः सभी साधु संन्यासी, अध्यापक तथा उपदेशक, नेता और लीडर, सम्पादक और सुलेखक, वकील और बैरिस्टर—'गुप्त प्रगट जहँ जो जेहि खानिक'—सब कोने कोने से बटोर बटोर कर जमा कर लिये गये थे। इतना बड़ा विद्वज्जन-समूह

किसी दूसरे अवसर पर देखने में नहीं आया। ऐसे अव-सर पर शास्त्रार्थ की चर्चा चलना अनिवार्य था। शास्त्रार्थ-समर के लिये दोनों ही दल सन्नद्ध थे। पहले ज़बानी पैग़ाम जारी हुए, फिर पत्र-व्यवहार के रूप में 'अल्टीमेटम' देना निश्चय हुआ। आर्यसमाज की ओर से कई विद्वानों ने अपनी तबीयत के जौहर दिखलाए, गद्य-पद्य में कई प्रकार के पत्र लिखे, पर वह मुझ जैसे 'अरोचकी' साहित्य-सेवियों को कुछ जँचे नहीं। पत्र लिखनेवालों में प्रत्येक लेखक अपने पत्र को ब्रह्मा की लिपि समझ कर दावा कर रहा था कि बस ठीक तो है, इससे अच्छा ओर क्या लिखा जा सकता है, सब कुछ तो इसमें आ गया, यही भेज दिया जाय। पंडितजी चुप थे, लेखक-मंडली के सामने मैंने प्रस्ताव रखा कि पत्र पं० भीमसेनजी से लिखाया जाय। एक सज्जन तमककर बोल उठे कि जाओ उनसे ही लिखा लाओ, देखें तो कैसा लिखते हैं। मैं पंडितजी के पास गया और सब किस्सा कह सुनाकर अनुरोध किया कि आप पत्र लिख दीजिए, जिससे प्रतिपक्षी विद्वानों के सामने आर्यसमाज की लाज रह जाय। पंडित जी को संकोच हुआ, कहने लगे—"उधर कई विद्वान् जान-पहिचान के हैं, कुछ सहाध्यायी हैं, दो एक गुरुजन हैं, ताड़ जायँगे और उपालम्भ देंगे।" मैंने जब अधिक आग्रह किया और कहा कि यह तो 'धर्मयुद्ध' है, महाभारत में भी ऐसा ही हुआ था, भाई ने भाई का और शिष्य ने गुरु का सामना किया था। फिर पत्र तो आर्यसमाज की ओर से जा

रहा है, आप के नाम से तो न जायगा ! तब कहीं इस शर्त पर लिखने को राज़ी हुए कि अच्छा लिखे मैं देता हूँ, नक़ल तुम कर देना। मैंने कहा--"यही सही, नक़ल मैं ही कर दूँगा, आप लिखिए तो।" पंडित जी ने क़लम उठाई और पत्र लिखकर मेरे हवाले किया। मैंने उसकी नक़ल की और 'जिनको दावा था सखुन का' उन्हें जाकर सुनाया कि देखिए लिखने वाले इस तरह लिखा करते हैं। सुनने और लिखनेवालों में दो एक 'ज़ाहिदे-ख़ुश्क' भी थे, उनमें कोई तो भौं चढ़ाकर आँखें फिरा गए और कोई सिर हिलाकर चुप ही रहे, पर सहृदय, विवेकी विद्वान् फड़क गये। संपादकाचार्य पं० रुद्रदत्तजी और पं० गणपतिजी शर्मा आदि ने लेखन-शैली की दिल खोलकर दाद दी और ऐसा सुन्दर पत्र लिखाने के लिए मुझे भी शाबाशी दी। समझदारों पर पण्डित जी के पांडित्य का सिक्का बैठ गया। इस प्रकार पहली बार पंडितजी अपने असली रूप में प्रकट हुए। लोगों को जानकर साश्चर्य हर्ष हुआ कि इस छोटे से चोले में इतनी करामात छिपी है। उत्सव के अन्त तक आर्यसमाज की ओर से संस्कृत में सारी लिखा-पढ़ी पंडितजी की ही लेखनी से होती रही।

दिग्गज विद्वानों के साथ-पत्र व्यवहार में आर्यसमाज के पक्ष को पंडित जी ने गिरने न दिया। सचमुच उस समय पंडितजी ने आर्यसमाज की लाज रख ली थी। वह समय, इस समय उसी रूप में, आँखों में फिर रहा है—आँखें पंडितजी को ढूँढ़ रही हैं और दिल उनकी याद में रो रहा है।

कई वर्ष सिकन्दराबाद गुरुकुल में पढ़ाने के पश्चात् मु० चिम्मनलालजी की प्रार्थना पर पंडितजी तिलहर (शाहजहाँपुर) चले गए। गुरुकुल से जाने का कारण गुरुकुल के उस समय के मुख्याधिष्ठाता स्वामी शान्त्यानंद के साथ प्रवंध-संबंधी मतभेद था। मुख्याधिष्ठाता स्वामीजी नाम के तो शान्त्यानंद थे, पर वैसे—'तेज कृशानु रोष महिषेशा' की मूर्ति थे। गुरुकुल में उन्होंने 'जेल सिस्टम' जारी कर रक्खा था, इसलिए लोग उन्हें 'जेलर साहब, कहने लगे थे। स्वामीजी साधारण से अपराध पर कभी-कभी आतङ्क के लिए निरपराध ब्रह्मचारियों को भी कठोरतम दण्ड दे डालते थे। पंडितजी रोकते थे और स्वामीजी अपनी आदत से लाचार थे। आख़िर तंग आकर पंडितजी ने गुरुकुल छोड़ दिया और तिलहर चले गए।

कांगड़ी गुरुकुल में

तिलहर से पंडितजी को कांगड़ी के गुरुकुल में गुरुकुल के प्रतिष्ठापक श्रीमान् महात्मा मुंशीरामजी ने और आचार्य पं० गंगादत्तजी ने बुला लिया। पंडितजी के पहुँचने के कुछ दिनों बाद मेरी भी तलबी हुई। सन् १९०४ के अंत में मैं भी गुरुकुल में पहुँचा। गुरुकुल के लिए पंडितजी ने 'आर्य-सूक्ति-सुधा', 'संस्कृतांकुर' और 'काव्यलतिका' ये तीन संस्कृत पाठ्य पुस्तकें लिखी थीं। इन पुस्तकों के संकलन और संशोधन में पंडितजी ने मुझे भी कृपाकर शरीक कर लिया था। बड़े आनन्द के दिन

थे। रात-दिन साहित्य-शास्त्र की चर्चा रहती थी। पढ़ने लिखने में ख़ूब प्रोत्साहन मिलता था। सौभाग्य से श्री ६ गुरुजी (पंडित काशीनाथ जी महाराज) भी काशी से आ गए थे। श्रीगुरुजी का पधारना भी गंगावतरण की तरह बड़े भगीरथ-परिश्रम से हुआ था। विश्वनाथ का दरबार छोड़कर श्रीगुरुजी किसी तरह भी गुरुकुल में रहने को राज़ी न होते थे। आचार्यजी (पं० गंगादत्त जी महाराज) और पं० भीमसेनजी के भगीरथ-परिश्रम से—अत्यंत अनुरोध और आग्रह से—विवश होकर किसी प्रकार गुरुजी ने रहना स्वीकार किया था। गुरुकुल पर और आर्यसमाज पर इन दोनों महानुभावों का यह अनल्प अनुग्रह था और बहुत भारी उपकार था। उस समय गुरुकुल एक बिलकुल नई चीज़ थी, नया परीक्षण था। गुरुकुल-प्रणाली पर, उसके कार्यक्रम, उपयोगिता और भविष्य पर मनोरंजक संवाद, विस्तृत विवेचना और बहस-मुबाहसे होते थे। पंडितजी को गुरुकुल-पद्धति पर पूरी आस्था थी। वह उसकी एक एक बात का मार्मिकता से समर्थन करते थे। पंडितजी का नाम मैंने मज़ाक में 'गवर्नमेन्ट प्लीडर' रख छोड़ा था। ओः वह भी क्या दिन थे। याद आती है और दिल पर बिजली गिरा जाती है—'ख़्वाब था जो कुछ कि देखा जो सुना अफ़साना था।' 'हा हन्त हन्त क गतानि दिनानि तानि'

गुरुकुल आज भी है और उन्नति की मध्याह्न दशा में है, पर गुरुकुल का वह प्रभात समय बड़ा ही रम्य और मनोरम था। उस वक्त का गुरुकुल अपनी अनेक विशेषताओं

के कारण चित्त पर जो स्थायी प्रभाव छोड़ गया है, उसकी स्मृति किसी और ही दशा में पहुँचा देती है। उसका वर्णन नहीं हो सकता । उस समय की एक चिरस्मरणीय घटना है, जो चित्त से कभी नहीं उतरती । जिसके स्मरण से आज भी हृदय पिघल जाता है, अन्तःकरण अनिर्वचनीय भावों के प्रवाह से भर जाता है और आँखों की संकीर्ण प्रणाली से फूट फूट कर बहने लगता है, फिर भी दिल भरा ही रहता है, ख़ाली नहीं होता। उन्हीं दिनों पंडितजी के छोटे भाई राम-सहायजी का नौजवानी में ही आगरे में देहान्त हो गया था। स्निग्धस्वभाव और भ्रातृवत्सल पंडितजी भ्रातृ-वियोग में बहुत अधीर रहते थे। भाई का विवाह हो गया था। बालविधवा (भ्रातृ-जाया) की दयनीय दशा का ध्यान पंडितजी के कोमल हृदय को बराबर कुरेदता रहता था । ज़रा से कारुणिक प्रसंग पर फूट पड़ते थे, एकान्त में बैठकर अक्सर आँसू बहाते थे। मैं सान्त्वना देने की चेष्टा करता, पर मेरी स्वयं वही दशा हो जाती थी। एक दिन बेचारी बाल-विधवाओं के दारुण दुःख की चर्चा चल रही थी, उसी प्रसंग में मैंने मौलाना 'हाली' की 'मुनाजाते बेवा' के कुछ बन्द सुनाये । अजीब हालत थी, उस क़ैफ़ियत का बयान नहीं हो सकता। अनेक बार करुण-काव्य सुने सुनाये हैं— आँसुओं के परनाले बहाये हैं, पर वैसी दशा कभी नहीं हुई। रोते-रोते आँसू सूख गये, आँखें सूज गईं, सन्नाटा छा गया, बड़ी मुश्किल से तबीयत सम्हली। पंडितजी को तो 'मुनाजाते बेवा'

इतनी पसंद आई कि मुग्ध हो गये, बार बार पढ़ते थे और सिर धुनते थे। दुखे हुए दिल को ज़रासी ठेस भी बहुत होती है, 'मुनाजाते बेवा' में तो गज़ब का दर्द भरा है। उसे पढ़ सुनकर तो बड़े-बड़े 'ज़ाहिदाने-खुश्क' को फूट-फूट कर रोते देखा है, फिर पंडितजी की तो उस दशा में जो दशा भी होती, उचित ही थी। एक दिन मैंने पंडित जी से कहा कि इसका संस्कृत पद्यानुवाद कर दीजिए—संस्कृत में एक चीज़ हो जायगी। पंडितजी ने कहा कि बात तो ठीक है, देखिए कोशिश करूँगा। मैंने कहा कि शुरू कर दीजिए, इस समय हो जायगा और बहुत अच्छा हो जायगा। चोट खाये हुए दिल से जो निकलेगा, वह दिल में जगह करने वाला होगा। इत्तफ़ाक से इन्हीं दिनों गुरुकुल में छुट्टी हो गई। पंडितजी ने 'मुनाजाते बेवा' का 'विधवाभिविनय' के नाम से संस्कृत पद्यानुवाद करना प्रारम्भ कर दिया, जो शनैः शनैः पूरा होकर समाप्त हो गया। अनुवाद इतना सुन्दर, सरल और सरस हुआ कि देखकर तबीयत खुश हो गई। पंडितजी जब उसे अपने कोमल कंठ, मधुर स्वर-लहरी और दर्द भरी आवाज़ से सुनाते थे, तो भावावेश की सी अवस्था हो जाती थी। मूल कविता के साथ वह अनुवाद मैंने श्रीमान् पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के पास भेजकर जिज्ञासा की कि अनुवाद कैसा हुआ है? द्विवेदीजी ने उसे मनोयोग-पूर्वक पढ़कर लिखा था—"अनुवाद बहुत ही सुंदर हुआ है। हमें तो मूल से भी अनुवाद ही अधिक पसंद आया।" अनुवाद का कुछ अंश मूल के साथ

'परोपकारी' पत्र में मैंने प्रकाशित भी किया था। 'हाली' साहब को भी 'परोपकारी' के वह अंक भेजे थे, जिसपर उन्हों ने बहुत प्रसन्नता और परितोष प्रकट करके मेरा और पंडितजी का बहुत बहुत शुक्रिया किया था। अफ़सोस है कि वह अनुवाद पुस्तकाकार अब तक प्रकाशित न हो सका।

गुरुकुल की एक घटना और है, जो अक्सर याद आ जाती है। बात मामूली है, पर पंडितजी के स्नेहशील स्वभाव पर प्रकाश डालनेवाली है। शुरू-शुरू में गुरुकुल में मलेरिया बहुत फैलता था। मुझे जाड़ा देकर बुख़ार आने लगा। एक दिन इतने ज़ोर का जाड़ा चढ़ा कि धरकर हिला दिया। मैं चारपाई पर पड़ा-पड़ा जाड़े के ज़ोर से कूदने लगा। पंडितजी कम्बल पर कम्बल मेरे ऊपर डालने लगे, पर जाड़े का वेग कम न हुआ। पंडितजी ने कहीं वैद्यक में पढ़ा था कि शीतज्वर आग तापने से उतर जाता है। एक बड़ी अंगोठी में ख़ूब कोयले दहका कर चारपाई के नीचे रख दिये और आप पेशाब करने चले गये। मैं मुँह ढके पड़ा था, नीचे से आँच लगी, तो मुँह उघाड़ कर देखा, चारपाई के बान जलाकर गद्दे तक आग पहुँच चुकी थी। मैंने पंडितजी को आवाज़ दी। दौड़े हुए आये, अँगीठी हटाकर और कपड़ों की आग बुझाकर मुझे दूसरी चारपाई पर लिटाया। जाड़ा इतने पर भी कम न हुआ, मैं बराबर काँप रहा था। अब दूसरा उपचार होने लगा, आप मुझे ज़ोरों से दबाये बहुत देर तक पड़े रहे। मैंने बहुत कहा कि रहने दीजिए, कहीं यह रोग संक्रामक

बन कर आपको भी न लिपट जाय। वही हुआ, मुझे छोड़कर जाड़े ने फ़ौरन ही उन्हें जकड़ लिया। 'यक न शुद दो शुद'। मैंने कहा—"देखिए न, मैं कहता था, आपने न माना, आखिर वही हुआ।" जाड़े की अंगड़ाई लेते हुए हँसकर बोले—"कुछ हर्ज नहीं। अच्छा ही तो हुआ, मैंने तुम्हारा दुःख बाँट लिया, यही तो इष्ट था।"

सन् १९०४ के अंत में महात्मा मुन्शीरामजी ने सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्तजी के संपादकत्व में हरद्वार से 'सत्यवादी' साप्ताहिक पत्र प्रकाशित कराया। उसमें सहयोग देने के लिए और 'आर्यसूक्ति-सुधा' आदि पुस्तकों के सम्पादन और संशोधन के लिए मैं प्रेस में हरद्वार चला आया। दो-तीन महीने बाद कारण-विशेष से 'सत्यवादी' बंद करना पड़ा। प्रेस फिर जालन्धर चला गया। मुझे भी अष्टाध्यायी की 'संस्कृत-वृत्ति' (आचार्य गंगादत्तजी-प्रणीत) छपाने के लिए जालन्धर जाना पड़ा। इससे गुरुकुल का साथ छूट गया। जालन्धर से मैं घर चला गया, पंडितजी गुरुकुल में ही रहे। इसी बीच में पंडितजी ने 'योगदर्शन की भोजवृत्ति, का हिंदी अनुवाद किया था, जो छपा भी था। सन् १९०८ के प्रारम्भ में अध्ययन-प्रणाली और प्रबंध-विषयक मतभेद के कारण आचार्य श्रीगंगादत्तजी और पंडितजी गुरुकुल छोड़कर चले आये। महात्मा मुन्शीरामजी ने इन्हें बहुत रोकना चाहा, पर इन मानी द्विजों ने एक न मानी। यह कह कर चल ही तो दिये—

"क्रुद्धोलूकनखप्रपातविगलत्पक्षा अपि स्वाश्रयं
ये नोज्झन्ति पुरीषपुष्टवपुषस्ते केचिदन्ये द्विजाः।
ये तु स्वर्गतरङ्गिणीबिसलतालेशेन संवर्धिता
गाङ्गं नीरमपि त्यजन्ति कलुषं ते राजहंसा वयम् ॥"

गुरुकुल छोड़कर 'राजहंसों' की यह टोली निर्मल नीर की खोज में उत्तर की ओर बढ़ी। आचार्यजी तो हृषीकेश में मौनी की रेती पर मौन होकर बैठ गए और पं० भीमसेनजी ने बाबू प्रतापसिंहजी के साथ भोगपुर में डेरा डाल दिया। बाबू प्रतापसिंहजी भी पहले गुरुकुल ही में थे। गुरुकुल में उनका पुत्र पढ़ता था। इन लोगोंके साथ वहभी अपने लड़के को लेकर वहाँ से चले आये थे। कुछ दिनों तक पंडितजी भोगपुर ही रहे। इनकी एकान्तवास की तपस्या फलोन्मुखी हुई। गुरुकुल-प्रणाली का रंग तबीयत पर जम चुका था—अब दूसरी जगह साधारण पाठशाला में काम करना कठिन था। एक नया गुरुकुल खोलने की स्कीम बनाने लगे। इस काम के लिए दो एक जगह देखी भाली, पर कोई निगाह पर न चढ़ी। इधर ज्वालापुर में नहर के किनारे स्वामी दर्शनानंदजी ने गुरुकुल महाविद्यालय खोल रक्खा था। स्वामी दर्शनानंदजी को गुरुकुल खोलने की एक धुन थी। आर्यसमाज में वर्तमान गुरुकुल-पद्धति के प्रथम प्रवर्तक वही थे। उन्होंने ही सबसे पहले सिकन्दराबाद (बुलन्दशहर) में गुरुकुल खोला था। स्वामी दर्शनानंदजी पूरे 'भोगवादी' थे। कार्यक्षेत्र में वह किसी कार्यक्रम, नियम या प्रबंध के पाबंद न थे। "आगे दौड़ पीछे

चौड़", उनकी नीति थी। जहाँ पहुँचते थे, एक प्रेस और कोई पाठशाला खोल बैठते थे और उसे ईश्वराधीन छोड़कर किसी दूसरी जगह चल देते थे। महाविद्यालय (ज्वालापुर) भी उनके इस व्यापक नियम का अपवाद कैसे होता ! यहाँ तो एक बात ऐसी भी आ पड़ी थी कि गुरुकुल कांगड़ी में और ज्वालापुर महाविद्यालय में प्रबल प्रतिद्वन्द्विता उपस्थित हो गई थी। महाविद्यालय का काम अभी जमा न था, न कोई फण्ड था न कमेटी, सर्वशून्या दरिद्रता का राज्य और अव्यवस्था का दौर-दौरा था। स्वामीजी महाविद्यालय को इसी दशा में छोड़ कर दूसरी जगह चल दिये। महाविद्यालय के कुछ विद्यार्थी और अध्यापक भी चलते बने। महाविद्यालय टूटने लगा। यह सन् १९०८ ई० की बात है। मैं 'परोपकारी' का संपादन करने अजमेर जा रहा था। पंडितजी से मिले बहुत दिन हो गए थे। पंडितजी को जब मालूम हुआ कि मैं अजमेर जा रहा हूँ, तो मुझे लिखा कि वहाँ जाने से पहिले मिल जाओ। मैं भोगपुर पहुँचा, वहाँ से उनका जी उचाट हो चला था। सोचते थे कि कहाँ जायँ। नये गुरुकुल का प्रस्ताव उठाकर मुझसे भी सम्मति माँगी। मैंने कहा—"मुश्किल है, यदि किसी गुरुकुल-संस्था में ही रहने का विचार है, तो फिर महाविद्यालय ज्वालापुर में ही चलकर न बैठिये। एक बना-बनाया विद्यालय काम करनेवालों के अभाव में नष्ट हो रहा है, उसे बचाइए। नये मंदिर के निर्माण की अपेक्षा पुराने का जीर्णोद्धार कहीं श्रेयस्कर है।" कहने लगे—"भई बात तो ठीक है, पर कांगड़ी-गुरुकुल के

साथ संघर्ष होगा। महात्मा मुन्शीरामजी को हमारा वहाँ बैठना असह्य होगा, व्यर्थ में वैमनस्य बढ़ेगा।" मैंने कहा—"हाँ, यह तो होगा, फिर छोड़िए इस विचार को, क्या जरूरत है कि नया गुरुकुल खोला ही जाय?" मैं तो मिलकर अजमेर चला गया। कुछ दिन बाद मालूम हुआ कि स्वा० दर्शनानंदजी ने पंडितजी को बुलाकर महाविद्यालय उनके सुपुर्द कर दिया है। उस समय महाविद्यालय में आकर बैठना बड़े साहस का काम था। दूसरे साथियों की हिम्मत न पड़ती थी। शुरू से पंडितजी के साथ आने को कोई साथी सहमत न हुआ, वह अकेले ही आकर डट गये। शनैः शनैः फिर और लोग भी आगए, महाविद्यालय को सम्हाल लिया, काम चल निकला—महाविद्यालय-तरु उखड़ते उखड़ते फिर जम गया। इसका श्रेय अधिकांश में पंडितजी को ही है। महाविद्यालय की उन प्रारम्भिक कठिनाइयों का वर्णन एक पृथक् लेखमाला का विषय है। यहाँ पर इतना ही निवेदन पर्याप्त है कि महाविद्यालय को महाविद्यालय बनाने का श्रेय बहुत कुछ पंडितजी को ही है।

संक्षिप्त जीवनी।

पंडितजी का जन्म सं० १९३४ वि० में जयपुर राज्य के 'गगवाना' ग्राम में हुआ था। वहां से आप के पिता आगरे में आकर रहे थे। पंडितजी के पूज्य पिता का स्वर्गवास पंडितजी की ८ वर्ष की अवस्था में ही हो गया था। जब १६ वर्ष की उम्र हुई,

तो आप विद्याध्ययन के लिए काशी पहुँचे। काशी में पंडित कृपा-रामजी (स्वा० दर्शनानंदजी का पूर्वनाम) ने एक पाठशाला खोल रक्खी थी, जिसमें श्री ६ गुरुवर पं० काशीनाथजी महाराज पढ़ाते थे। श्री आचार्य गंगादत्तजी भी उसी पाठशाला में अध्ययनाध्यापन करते थे। पंडितजीने 'अष्टाध्यायी' और 'सिद्धान्त कौमुदी' का कुछ भाग वहां गुरुजी से और श्री पं० गंगादत्तजी से पढ़ा, फिर काशी-संस्कृत-कालेज में महामहोपाध्याय श्रीभाग-वताचार्यजी महाराज से पढ़ने लगे। वहीं से मध्यमा परीक्षा दी और प्रथम नंबर में उत्तीर्ण होकर छात्रवृत्ति प्राप्त की। काशी में सात वर्ष रहे और व्याकरण, दर्शन तथा साहित्य में पाण्डित्य प्राप्त करके लौटे। काशी में रहते समय हिंदी के ओजस्वी लेखक सुदर्शन-संपादक श्रीयुत पं० माधवप्रसाद मिश्र से आपका विशेष परिचय हो गया था। उनके संबंध की बहुत सी बातें सुनाया करते थे। 'सुदर्शन' का फ़ाइल आपने रख छोड़ा था, सुदर्शन आपका प्रिय पत्र था। काशी जाते हुए कुछ दिन आप कानपुर में भी रहे थे। वहाँ सुप्रसिद्ध पं० प्रतापनारायण मिश्र से आप का परिचय हो गया था। मिश्रजी के बहुत से व्याख्यान आपने सुने थे। उनके 'ब्राह्मण' पत्र के आप भक्त थे, उसका फ़ाइल भी बड़े प्रयत्न से रख छोड़ा था। हिंदी-लेखकों में मिश्रजी पर आप की विशेष श्रद्धा थी। उनकी याद बड़े आदर से करते थे। आपका हिंदी-अनुराग पं० माधवप्रसाद और पंडित प्रताप-नारायण मिश्र की सत्संगति का ही फल था। पंडितजी

हिंदी अच्छी लिखते थे। 'परोपकारी' और 'भारतोदय' में आप के कई लेख 'कश्चिद् ब्राह्मणः' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। कई संस्कृत कविता भी निकली हैं। हिंदी में आपने कई पुस्तकें भी लिखी थीं, जिनमें योगदर्शन पर भोजवृत्ति का अनुवाद, संस्कारविधि का भाष्य तथा शंकरमिश्र के 'भेदरत्न' का हिंदी भाषान्तर 'द्वैतप्रकाश' छप चुके हैं। 'सर्वदर्शनसंग्रह' का हिंदी अनुवाद आपने बड़े ही परिश्रम से किया था। 'सर्वदर्शनसंग्रह' दर्शन का एक दुरूह ग्रंथ है, कहीं-कहीं अलग्न है, प्रायः अशुद्ध भी छपा है। आपने उसकी ग्रन्थ-ग्रन्थियों को बड़ी मर्मिकता से खोला था। मूल पाठ का संशोधन वड़े परिश्रम से किया था। श्री ६ गुरुवर पं० काशीनाथजी महाराज ने सुनकर उसकी वहुत प्रशंसा की थी। खेद है कि वह ग्रथरत्न विलुप्त हो गया, छपने जा रहा था कि रास्ते में ही गुम हो गया। इस दुर्घटना के लिए पंडितजी अंत तक पछताते रहे।

शरीर और स्वभाव

पंडितजी का शरीर पतला-दुबला और क़द दर्म्याना था। बड़ी बड़ी आँखें, गौर वर्ण, हँसमुख चेहरा, सुन्दर आकृति, सरल प्रकृति, अभिमानशून्य स्वभाव, यह सब पांडित्य के सोने पर सुहागा था। स्पष्ट वक्ता और तेजस्वी ब्राह्मण थे। स्वभाव में निरभिमानिता थी, पर दीनता न थी, दबते न थे-किसी का अनुचित व्यवहार सहन न करते थे। शालीनता थी, पर दब्बू-

पन और चाटुकारिता से नफ़रत थी। स्वर मधुर और पद्य पढ़ने का ढंग बड़ा मनोहर था। उच्चारण बहुत विस्पष्ट और विशुद्ध था। शास्त्रार्थ की शैली में दक्ष थे, स्मृति और प्रतिभा प्रबल थी, पढ़ाने का प्रकार प्रशंसनीय था। लेख और भाषण की अशुद्धि पर दृष्टि बहुत जल्द पहुँचती थी। बड़े अच्छे संशोधक थे। गुणग्राही और कृतज्ञ थे। परिहास-प्रिय थे। 'ज़ाहिदे-ख़ुश्क' न थे। सहृदयता की मूर्ति थे। करुण कविता पढ़ते और सुनते समय गद्गद हो जाते थे। जगद्धरभट्ट की 'स्तुतिकुसुमांजलि' और अमरचंद्रसूरि-कृत 'बालभारत' उनके बहुत पिय ग्रन्थ थे। इन्हें प्रायः पढ़ते पढ़ते तन्मय हो जाते थे। कवि के हृदय से हृदय मिला देते थे। आवाज़ में सोज़ था, जो सुनने वाले दिल को पिघला देता था। जब मिलते थे, मैं आग्रह करके भी कुछ न कुछ सुनता था, जिससे अनिर्वचनीय आनन्द मिलता था। आज वह बातें याद आती हैं और दिल को मसोस जाती हैं।

संस्कृत बोलने का अभ्यास अपूर्व था, ख़ूब धाराप्रवाह बोलते थे। जब कोई विशुद्ध और धारावाहिक रूप में संस्कृत बोलने वाला मिल जाता था तो यत्परोनास्ति प्रसन्न होते थे। उसकी बारबार प्रशंसा करते थे। इस सम्बन्ध की एक घटना की चर्चा अक्सर किया करते थे।

पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा का ज़िक्रे ख़ैर—जब पंडितजी अजमेर के वैदिक प्रेस में ग्रंथों का संशोधन करते थे, उन दिनों वहाँ सुप्रसिद्ध वृद्ध देशभक्त पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा दैवयोग से आये हुए थे। पंडित वर्मा आर्यसमाज के संस्थापक

श्रीस्वामी दयानंदजी के प्रधान शिष्य थे। स्वामीजी से अष्टाध्यायी और महाभाष्य पढ़ कर ही वह आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में संस्कृत-प्रोफेसर बन कर गए थे। जिन दिनों की यह बात है, उन दिनों वह विलायत ही में रहते थे। भारतवर्ष में भी कभी कभी अपना कारबार देखने आ जाते थे। तब तक उनका भारतवर्ष में प्रवेश निषिद्ध न था, उसी प्रसंग में वह अजमेर आये हुए थे। परोपकारिणी सभा और वैदिक प्रेस के वह ट्रस्टियों में थे, इसलिए प्रेस देखने भी आये। पंडितजी ने श्रीश्यामजी कृष्ण वर्मा की सुन्दर संस्कृतभाषण के लिए विशेषरूप से प्रसिद्धि सुन रखी थी। वर्मा जी जब प्रेस देखते-भालते पंडितजी के पास पहुँचे और पंडित जी से परिचय कराया गया, तो पंडित जी ने बातचीत संस्कृत में ही प्रारम्भ कर दी, यह देखने के लिए कि देखें कैसा बोलते हैं। पंडितजी को अपने साधिकार संस्कृतभाषण पर गर्व था और उचित गर्व था। पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा को संस्कृत छोड़े हुए मुद्दत हो गई थी। विलायत में रहते थे, संस्कृत से संपर्क न रहा था, पर वह तो छिपे रुस्तम निकले। पंडितजी कहा करते थे कि इस द्रुतगति से विशुद्ध और धाराप्रवाह संस्कृत बोले कि इससे पहिले किसी को इस प्रकार संस्कृत बोलते न सुना था। पंडितजी उनकी यह असाधारण संस्कृत-भाषण-पटुता देखकर मुग्ध हो गए। श्यामजी समझ गये कि संस्कृत बोलने के बहाने यह पंडिताऊ ढंग की परीक्षा लेना चाहते हैं। पंडितजी से कहा कि आप मेरी अष्टाध्यायी में परीक्षा लीजिए मुझे आज इतने दिन संस्कृत छोड़े हो गए फिर भी भूला नहीं हूँ। यह कहकर आपने अपनी वही अष्टाध्यायी मँगवाई, जिसपर स्वामी दयानंद जी से अध्ययन के समय में पढ़ा था। पुस्तक पंडितजी के हाथ में देकर बोले—"जहां से इच्छा हो पूछिए।" पंडितजी ने बहुत से प्रश्न किए, तत्काल सबके यथार्थ उत्तर पाए। जो सूत्र जहां से पूछा, उसका विस्तृत और संतोषप्रद उत्तर मिला, यहां तक कि अध्याय, पाद और उसका नंबर तक बतला दिया। उनकी इस अद्भुत स्मरणशक्ति को देखकर पंडित जी दंग रह गए। पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा की इस मुलाकात का हाल पंडित जी अक्सर सुनाते और श्यामजी के पांडित्य की प्रशंसा किया करते थे।

सन् १९०८ से १९२५ तक पंडितजी का अविच्छिन्न सम्बन्ध महाविद्यालय के साथ मुख्याध्यापक के रूप में रहा। यद्यपि बीच-बीच मे और लोग भी मुख्याध्यापक रहे, पर मुख्याध्यागक-पद से आपका ही बोध होता था। 'मुख्याध्यापक जी आपका दूसरा नाम हो गया था। कुछ समय तक आप महाविद्यालय-सभा के मंत्री भी रहे। महाविद्यालय के लिए धन-संग्रह भी सबसे अधिक आप ही ने किया। बीचमे थोड़े दिनों के लिए देवलाली (नासिक) गुरुकुल के आचार्य भी रहे, पर महाविद्यालय का ध्यान सदा बना रहा। कुछ कार्यकर्ताओं में वैमनस्य बढ़ जाने के कारण सन् १९२५ ई० में आपने महाविद्यालय को छोड़कर संन्यास लिया था। आपका संन्यासाश्रम का शुभ नाम 'भास्करानंदजी सरस्वती' था। महाविद्यालय से संबंध-विच्छेद हो जाने पर भी महाविद्यालय की सहायता करते रहते थे। महाविद्यालय की अंतरंग सभा के आप सदस्य थे और बराबर आते जाते रहते थे।

संतान और शिष्य

पंडितजी की सारी उम्र संस्कृत-भाषा के प्रचार में ही बीती, पढ़ा या पढ़ाया। बहुत कम ऐसे विद्वान् निकलेंगे, जिन्होंने इतना विद्या का प्रचार किया होगा। आपके पढ़ाए हुए और पास कराए हुए सैकड़ों शिष्य होंगे, जिनमें उत्तम, मध्यम, तीर्थ, शास्त्री आचार्य-सब प्रकार के हैं। आर्यसमाज में तो आपके छात्रों

का जाल-सा फैला हुआ है, गुरुकुलों में और दूसरे संस्कृत-विद्यालयों में आप के अनेक शिष्य आचार्य और अध्यापक हैं। बहुत से उपदेशक और प्रचारक हैं, कुछ कवि और लेखक भी हैं। यह सब अपने विद्यादाता गुरु के जीते जागते स्मारक हैं, चलती-फिरती कीर्ति और फैला हुआ यश हैं। शिष्य और संतान की दृष्टि से हमारे प्रातःस्मरणीय चरितनायक परमस्पृहणीय सौभाग्यशाली थे। आपकी संतान तीन पुत्र और एक पुत्री है। आपके ज्येष्ठ पुत्र चि० पं० हरिदत्त शास्त्री वेदतीर्थ सुयोग्य पिता के योग्यतम पुत्र हैं—

"न कारणात्स्वाद्बिभिदे कुमारः
प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्।"

का उत्तम उदाहरण हैं। पिता के सब गुण पुत्र में बहुगुण होकर संक्रान्त हो गए हैं। अवस्था अभी इतनी अधिक नहीं है, पर कलकत्ते की साहित्य, व्याकरण, न्याय वैशेषिक और वेद की तीर्थ परीक्षाएँ पास कर चुके हैं। पंजाब की शास्त्रि-परीक्षा भी यूनिवर्सिटी में प्रथम नंबर पर पास की है। काशी की वेदान्ताचार्य की तैय्यारी में हैं—उसके दो खंड दे रहे हैं। साथ ही अंग्रेज़ी का अभ्यास भी जारी है। संस्कृत के बहुत अच्छे आशुकवि हैं। गद्य और पद्य दोनों ही समानरूप से सुन्दर लिखते हैं। व्याकरण, दर्शन और साहित्य में इनका ज्ञान परीक्षा की पाठ्य पुस्तकों तक ही परिमित नहीं है। प्रायः सब आकर-ग्रन्थ पढ़े हैं। पंडितोचित उच्चकोटि का असाधारण ज्ञान है। बहुत ही प्रतिभाशाली और हो-

नहार नवयुवक हैं। पिछले वर्ष कुम्भ के समय पूज्यपाद मालवीय जी महाविद्यालय में पधारे थे, उस समय हरिदत्तजी ने महाविद्यालय की ओर से आपको संस्कृत में अभिनंदन-पत्र दिया था। उसे सुनकर मालवीयजी हरिदत्तजी की विद्वत्ता और कवित्व-शक्ति पर मुग्ध हो गए थे, मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी, डेरे पर बुलाकर मिले थे, और इस प्रकार विशेष रूप से गुणज्ञता का परिचय दिया था। शिष्यों में भी 'मुनिचरितामृत' इत्यादि अनेक काव्यों के रचयिता पं० दिलीपदत्त शर्मा उपाध्याय का नाम उल्लेख-योग्य है। आप संस्कृत के उच्चकोटि के कवि हैं।

रोग और निरवधि वियोग

पंडितजी सदा से दुबले-पतले और निर्वल थे। बहुमूत्र रोग से पीड़ित रहते थे। इस भयानक रोग ने उनके शरीर को चर लिया था, कभी पनपने न दिया। शुरू-शुरू में चिकित्सा भी बहुत की, पर रोग कम न हुआ—बढ़ता ही गया। प्रायः आध-आध घंटे में पेशाब जाना पड़ता था। जब तक यज्ञोपवीत गले में रहा (संन्यास ग्रहण करने तक) कान पर ही टँगा रहा। यह मुस्तकिल हुलिया बन गया था। निर्वलता के कारण साधारण रोग का भी शरीर पर अधिक प्रभाव पड़ता था, मिज़ाज में एक वेपरवाही और हिम्मत थी, आलसी अकर्मण्य न थे। कभी अपने काम के लिए और कभी संस्था के लिए इधर-उधर बराबर घूमते रहते थे। भ्रमण में अधिक रहने के कारण खान पान में संयम न

निभ सकता था, परहेज़ से रहने की कुछ आदत भी न थी! कोई दो वर्ष से बराबर रुग्ण ही रहते थे, दस-बोस दिन अच्छे रहे, फिर झटका लग गया। गत ज्येष्ठ के दशहरा पर रोग की दशा में कनखल के सुप्रसिद्ध वैद्यराज पं० रामचन्द्रजी शर्मा से चिकित्सा कराने के विचार से ज्वालापुर महाविद्यालय में आये थे। वैद्यजी की पीयूषपाणिता पर उनकी आस्था थी। महाविद्यालय का जलवायु स्वास्थ्य के लिए स्वयं चिकित्सा-स्वरूप है। आचार्यजी (स्वामी शुद्धबोध तीर्थजी महाराज़) का विपन्न-दयालु स्वभाव और सहानुभूति भी परिचित और आत्मीय रोगियों को यहाँ खींच लाती है, फिर पं० भीमसेनजी (स्वा० भास्करानंदजी) का तो महाविद्यालय के साथ घनिष्ठ और अटूट संबंध था। अस्वास्थ्य का समाचार सुनकर मैंने भी उनसे प्रार्थना की थी कि महाविद्यालय में आकर चिकित्सा कराइए। इन्हीं सब कारणों से वह यहाँ आये थे। जब मुझे उनके यहां आने का समाचार काँगड़ी गुरुकुल में मिला, तो मैं मिलने के लिए ४ जून को महाविद्यालय पहुँचा। वहां जाकर मालूम हुआ कि मुख्याध्यापकजी (स्वा० भास्करानंदजी) तो चले गए। सुनकर आश्चर्य, चिंता और खेद हुआ कि सहसा इस प्रकार बीमारी की हालत में इस भयानक गर्मी के मौसम में इस स्थान को छोड़कर क्यों चले गये। वह तो यहां इलाज कराने के इरादे से आये थे। 'हेतुरत्र भविष्यति' जो हेतु उनके जाने का उस समय बताया गया, उससे संतोष न हुआ, बात जी में बैठी नहीं, खटकती रही। मुझे उसी

दिन काँगड़ी लौटना था, कारण जानने का समय न मिला, पर किसी अनिष्ट की चिंता से चित्त व्याकुल हो गया। चित्त में बराबर यही विचार उठने लगा कि आख़िर यह ऐसा हुआ क्यों ?

"मैं और तेरे दरसे यों तिश्नाकाम लौटूँ !
गर मैंने तोबा की थी, साक़ी को क्या हुआ था !"

आचार्यजी की मौजूदगी में यह अनर्थ कैसे हो गया ! वह तो साधारण से रोग में भी किसी को यहाँ से जाने नहीं देते। किसी आत्मीय की ज़रा सी बीमारी का हाल सुना कि उसे स्वास्थ्य-सम्पादनार्थ महाविद्यालय में आकर रहने का निमंत्रण दिया, फिर पं० भीमसेनजी से तो उनका ४० वर्ष का घनिष्ठ संबंध था, और स्वयं 'मुख्याध्यापकजी' भी तो इस स्थान की स्वास्थ्यप्रद महिमा से अनभिज्ञ न थे। वह तो इसी विचार से यहाँ आये थे। एक बार मुझे भी मरणासन्न दशा में मुरादाबाद से खींचकर लाये थे, और स्वास्थ्य-लाभ कर लेने पर ही यहां से हिलने दिया था, यह सब जानते हुए भी वह क्यों चले गए। गंगातट छोड़कर दूसरी जगह मरने को क्यों गये ? बाद को जो कारण माल्ूम हुआ, वह बड़ा ही मर्म भेदी और शोचनीय है। मेरा दुर्भाग्य है कि मैं उसे प्रकट करने के लिए जी रहा हूँ।

हृदयहीनता-पूर्ण बर्ताव।

जीवन में अनेक ऐसे अप्रिय प्रसंग आये हैं, जब आत्मीय जनों की कटु समालोचना करनी पड़ी है। किसी सिद्धान्त पर

विवश होकर अपनों से भी लड़ना झगड़ना पड़ा है, पर ऐसा अनिष्ट प्रसंग इससे पहले कभी न आया था। तबीयत को बहुत सम्हाला, पर 'अन्दरवाला' नहीं मानता। वह लोक लाज छोड़कर सबके सामने खुलकर रोने को मजबूर कर रहा है—

हैरा हूँ दिल को रोऊं कि पीटूँ जिगर को मैं।
मक़दूर हो तो साथ रक्खूँ नौहागर को मैं॥

लाचारी है कि कोई 'नौहागर' नहीं मिलता। दोनों का मातम अकेले मुझे ही करना पड़ेगा। एक मित्र के शरीर-वियोग की दुःसह वेदना है तो दूसरे की 'इख़लाक़ी मौत' का रोना है। सम्भव है कि मेरे लेख से परलोकवासी एक मित्र की आत्मा को कुछ संतोष हो, पर दूसरे की 'धृतः शरीरेण' आत्मा को दुःख पहुँचेगा। इसका दुःख मुझे भी होगा, पर इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं। दूसरे लोग इससे कुछ इबरत (शिक्षा) हासिल करें तो उसे दिल के इस दुःख की दवा समझ कर मुझे तसल्ली होगी।

अंतिम समय महाविद्यालय में--उस महाविद्यालय में जिसमें उन्होंने अपनी सारी शक्तियाँ लगा दी थीं, अनेक बार अनेक आपत्तियों से बचाकर, जी जान लगाकर और पाल पोस कर जिसे इस दशा में पहुँचाया था--रुग्ण होकर आराम पाने की इच्छा से जब यहाँ आये, तब श्रीमान् वेदतीर्थ पं० नरदेवजी शास्त्री मुख्याधिष्ठाता के पदपर विराजमान थे, और दुर्भाग्य से यहीं थे। पं० भीमसेन शर्माजी से इनका व्यवहार पहले ही से कुछ अच्छा न था, उनसे खटकते और खिंचे रहते थे। पं० भीमसेनजी ने

इनका उपेक्षापूर्ण दुर्व्यवहार देखकर जाने का इरादा ज़ाहिर किया, तो आचार्य जी ने उन्हें रोका और परिचर्या के प्रबंध का ज़िम्मा अपने ऊपर लिया। पं० भीमसेनजी को मुख्याधिष्ठाताजी का सहृदयता-शून्य व्यवहार सह्य न हुआ। एक दिन शाम के वक्त जब आचार्यजी बाहर घूमने गए थे, रेलवे स्टेशन पर जाने के लिए ताँगा माँगा। मुख्याधिष्ठाता जी के दरबार में दरख़्वास्त मंज़ूर होते देर न लगी। फौरन तांगा भिजवा दिया गया। स्वामी जी उस पर किसी तरह लदकर अकेले स्टेशन को चल दिये। मुख्याधिष्ठाता जी ने इतना भी न किया कि जाते वक्त उनसे ज़रा मिल तो लेते, आचार्यजी के लौटते तक ही उन्हें न जाने देते! रस्म अदा करने के तौर पर ही सही, एक आध बार मना करते, और नहीं तो किसी आदमी ही को साथ कर देते। भयानक गरमी का मौसम, लंबा सफ़र, वृद्ध और रोगी शरीर, जिसमें बिना दूसरे के सहारे उठने बैठने की भी शक्ति नहीं, कहाँ कैसे पहुँचेगा, इतना ही सोचा होता! निष्ठुर से निष्ठुर मनुष्य ऐसे अवसर पर पिघल जाता है, पर हमारे 'महामहिमशाली' मुख्याधिष्ठाताजी से इतना भी न हुआ, जितना मामूली से मामूली आदमी ऐसी हालत में कर गुज़रता है। इस लोकोत्तर लीला का, इस अद्भुत महिमा का वर्णन करने के लिए उपयुक्त शब्द नहीं मिलते। किसी सहृदय-शिरोमणि कारुणिक कवि की एक सुन्दर सूक्ति बार बार याद आ रही है, वह इस जगह चिपक कर रह जाने को उतावली हो रही है। ज़बाने-हाल से

कह रही है कि मैं इसी मौके के लिए कही गई हूँ—क्रान्तदर्शी कवि की क़लम से यहीं के लिए निकली हूँ। बस, मुझे उठाकर यहां बिठा दो, फिर कुछ और कहने की—उपयुक्त शब्द ढूँढ़ने की जरूरत ही न रहेगी। जिगर थाम कर सुनिए, सूक्ति कहती है—

"धिग्व्योम्नो महिमानमेतु दलशः प्रोच्चैस्तदीयं पदं
निन्द्यां दैवगतिं प्रयात्वभवनिस्तस्यास्तु शून्यस्य वा।
येनोत्क्षिप्तकरस्य नष्टमहसः श्रान्तस्य सन्तापिनो
मित्रस्यापि निराश्रयस्य न कृतं धृत्यै करालम्बनम् *॥"

मुख्याध्यापकजी महाविद्यालय से गये और सदा के लिए—अपुनरावृत्ति के लिए—गये। अब वह किसी से कुछ कहने सुनने या किसी को कष्ट देने न आयँगे, पर उनकी यह अंतिम यात्रा 'हृदयहीनता' के इतिहास में एक चिरस्मरणीय घटना रहेगी। सम्भव है, वह न जाते—यहीं रहते तो भी न बचते, पर 'अकाल मृत्यु' मानने वाले वैद्यों का और दूसरे दुनियादार लोगों का ख्याल है कि यह यात्रा—उनके रोग की वृद्धि का और अंत में महा यात्रा—

---

* वैभवशाली आकाश की महिमा को धिक्कार है, उसका वह ऊँचा पद टुकड़े टुकड़े होकर गिर पड़े, उसे निंदनीय दैवगति प्राप्त हो। अधिक क्या, उस शून्य का-हृदयशून्य का न होना ही अच्छा, जिसने अपने उस 'मित्र' (सूर्य) का भी विपत्ति के समय साथ न दिया, जो थका माँदा, तेजोहीन, संतप्त और निराश्रय होकर सहायता के लिए हाथ पसारे था—उसे न सम्हाला, करालम्बन करके—हाथ थामकर सहारा न दिया, विपत्सागर में डूबने के लिए छोड़ दिया!

मृत्युका कारण हुई। उनके चित्त पर इस दुर्घटना से असह्य आघात पहुँचा। उस समय निर्बलता के कारण उनसे उठा बैठा तक न जाता था। तांगे–बैलगाड़ी–पर लादकर जो आदमी उन्हें स्टेशन पर छोड़ने गया था, उसने गठड़ो की तरह उन्हें उठाकर रेल में रक्खा था।

श्री आचार्यजी लौट कर जब महाविद्यालय में पहुँचे और उन्हें मुख्याध्यापकजी के जाने का हाल मालूम हुआ, तो उन्होंने फौरन स्टेशन पर आदमी दौड़ाया, पर इतने में गाड़ी छूट चुकी थी, अफ़सोस करके रह गये। सिकन्दराबाद तक दो जगह गाड़ी बदलनी पड़ती है, देखने वालों को आश्चर्य था कि यहाँ तक इस हालत में कैसे पहुँच सके।

सिकन्दराबाद पहुँचने पर परिचर्या और सेवा-शुश्रूषा में वहाँवालों ने अपनी शक्ति भर कोई बात उठा न रखी। मुख्याध्यापकजी के प्रधान शिष्य श्रीयुत पं॰ दिलीपदत्त उपाध्याय ने जिस सच्ची लगन और श्रद्धा-भक्ति से अपने आदरणीय गुरु की सेवा की, वह सहस्रमुख से प्रशंसनीय है। मेरठ के वैद्यराज पं॰ हरिशंकर शर्मा और सुप्रसिद्ध पं॰ रामसहायजी वैद्यराज बराबर चिकित्सा करते रहे, पर कुछ लाभ न हुआ। स्वामीजी ने उस मृत्यु-रोग में वैद्यराज पं॰ रामचन्द्रजी को कई बार याद किया, पर वैद्यराजजी अपने बहुत से रोगियों को छोड़ कर इतनी दूर सिकन्दराबाद जा न सके। रोगी की यह अंतिम इच्छा पूरी न हो सकी।

एक महीना बीमार रहकर सुद्ध श्रावण वदि ६ सोमवार

सं० १९८५ (ता० ९-७-१९२८) को स्वामीजी चोला छोड़कर परमपद को प्राप्त हो गये।

मुख्याध्यापकजी की मृत्यु का समाचार दसों दिशाओं में तार द्वारा पहुँचा कर कर्तव्य-परायणता का जो परिचय दिया गया, वह भी अद्‌भुत है। तार की इबारत से यही मालूम होता था कि महाविद्यालय की पवित्र भूमि में—तार देने वाले मुख्याधिष्ठाता की देख रेख में, मित्र-मंडली की शीतल छाया में—यह दुर्घटना घटी है। मुख्याध्यापकजी के संवन्ध में यही कर्तव्य शेप था, सो श्रीमान् ने उसकी भी तत्काल समस्या-पूर्ति कर दी। ऐसे ही मौक़े पर किसी मरने वाले की आत्मा ने यह कहा होगा—

"आये तुरवत पै बहुत रोये किया याद मुझे,
ख़ाक उड़ाने लगे जब कर चुके बरबाद मुझे॥"

मुझे अपने दुर्भाग्य पर भी क्रोध आ रहा है, अपनी इस बदनसीवी का अफ़सोस भी कुछ कम नहीं है कि अन्त समय में सेवा तो क्या दर्शन भी न कर सका! पहले तो समझता रहा कि मामूली बीमारी है। बाद को जब वैद्य पं० हरिशंकरजी के पत्र से मालूम हुआ कि रोग चिन्ताजनक है, तो मैंने सिकन्दराबाद जाने का इरादा किया, पर दुर्भाग्य से, सन्मित्र के अंतिम दर्शन से वंचित रखने के कारण मैं तो इसे सदा दुर्भाग्य ही समझूँगा, उसी समय सम्मेलन के सभापतित्व का पाश मेरी गर्दन में आ पड़ा, उसने जकड़ लिया। सम्मेलन का समय समीप आ गया

था। उसके झमेले में फँसगया। सोचा कि अच्छा, सम्मेलन से लौटता हुआ दर्शन करूँगा, पर सम्मेलन के बाद भी मुझे सम्मेलन के कार्य के लिए १०–१५ दिन उधर ही रहना पड़ गया। वापसी में लखनऊ पहुँच कर सिकन्दराबाद जाने का संकल्प कर ही रहा था कि उसी दिन समाचार पत्रों में पं० नरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ का तार पढ़ा—"महाविद्यालय के मुख्याध्यापकजी का देहान्त हो गया।" इस तड़ित्समाचार ने दिल पर बिजली गिरा दी! सारे मनसूबे ख़ाक में मिला दिये। मन की मनही में रह गई! बार बार अपने को धिक्कारता था कि कमबख़्त! सब काम छोड़कर समय रहते वहां क्यों न पहुँचा। पीछे यह मालूम करके और भी अधिक परिताप और पश्चात्ताप हुआ कि उन्होंने महायात्रा से पहिले मुझे कई बार याद किया था कि "वह कहाँ हैं, बुलाओ एक बार आकर मिल तो जाँय।" उपाध्यायजी को पता न था कि मैं कहाँ हूँ। उन्होने कांगड़ी गुरुकुल के पते पर पत्र लिखा, जो मृत्यु के कई दिन बाद गुरुकुल में आने पर मुझे मिला।

कुछ समझ में नहीं आता कि अपने इस अक्षम्य अपराध के लिए उस स्वर्गीय आत्मा से क्या कहकर क्षमा माँगू। निस्सन्देह मेरा अभागा शरीर वहाँ न पहुँच सका, पर दिल बराबर वहीं चक्कर काटता रहा। उनके ख़्याल से गाफ़िल नहीं रहा—

'गो मैं रहा रहीने-सितम-हाय', रोजगार
लेकिन तेरे ख़याल से गाफ़िल नहीं रहा।"

रोग, शोक परिताप, बन्धन और व्यसनों से परिपूर्ण इस जीवन-जंजाल में कई इष्ट मित्रों के बिछड़ने का दारुण दुःख झेलना–वियोग–विष घूँटना पड़ा है, पर पंडित गणपति जी की मृत्यु के पश्चात् यह दूसरा मित्र-वियोग तो असह्य प्रतीत हो रहा है। अंदर से बार बार यही आवाज़ आ रही है—

"क्या उन्हीं दोनों के हिस्से में क़ज़ा थी मैं न था !"

———

स्वर्गीय पं० भीमसेन शर्मा

अनुभूति की अभिव्यक्ति ही साहित्य है। इसी से अभिव्यक्त करने वाली शब्दशक्ति को आलोचक इतना बड़ा मान देते हैं। पद्मसिंह शर्मा शब्दशक्ति के शासक थे। छोटी सी अनुभूति को भी वे अपने शब्दों द्वारा मोहक और मनोरम बना देते हैं। इस संस्मरण में 'मित्र वियोग' की छोटी सी अनुभूति है, पर वर्णन की अनूठी शैली और प्राञ्जल भाषा ने उसे सभी सहृदयों के लिए संवेदनीय बना दिया है, साहित्य बना दिया है।

इस संस्मरण में बहुत सी 'तुच्छ' कही जाने वाली बातें भी आगई हैं, पर लेख की भाषा कहती है कि वे 'निष्काम प्रेम' के कारण आगई हैं। किसी स्वार्थ, प्रयोजन अथवा प्रचार के लिए नहीं। भाषा ऐसी मार्मिक है कि वह पाठक से मुँह-मुँह बोलने लगती है, पाठक अर्थ और विचार को भूल जाता है, केवल सहृदय मित्र के भाव को देखता है और कभी कभी शब्दकार की अद्भुत कला को।

यह लेख न तो शुद्ध निबंध है, और न शुद्ध संस्मरण है। है क्या? एक हृदयग्राही जीवनचरित। शुद्ध संस्मरण में अपनी ही ऐसी बातें चुनी जाती

हैं, ऐसे मार्मिक कथानक सुनाए जाते हैं जिनसे दूसरे के जीवन की भी एक झलक मिले, पर स्वतंत्ररूप से किसी का पूरा जीवन नहीं लिखा जाता। सच्चे संस्मरण एक प्रकार से आत्मकथा के अंश होते हैं, उनमें आत्म-प्रधानता रहती है, आत्मीय राग ही सब कुछ रहता है, पर जीवनचरित में विषय की प्रधानता रहती है, आत्माभिव्यञ्जन और आत्मीय राग की विशेषता रहने पर भी वर्णनीय का वर्णन ही सबसे आगे रहता है, उसमें ऐसी स्वतंत्र बातें भी आती हैं जिनसे वर्णनकर्त्ता का फिर कोई संबंध न हो, जो किसी प्रकार भी उसके जीवन की घटना नहीं कही जा सकती। प्रस्तुत लेख ऐसा ही वर्णनप्रधान जीवनचरित है। इसमें संस्मरण का पुट है पर मुख्य विषय है नायक का पूरा चरित ही। संस्मरण में जन्म मरण, संतान-शिष्य, शरीर स्वभाव, आदि का वर्णन छिपे ढंग से आता है पर यहां सब विस्तार से अंकित है।

इस प्रकार इस लेख में शुद्ध अनुभूति की महत्ता नहीं है, आपबीती घटना की पूरी अभिव्यक्ति भी नहीं हैं; यह तो साफ जीवनचरित है तथापि उसमें एक आकर्षण है जिसका प्रभाव पड़ता है और पढ़नेवाला कहता है कि 'उसमें कुछ है'। वह 'कुछ' है भाषा का प्रभुत्व। लेखक पद्मसिंह शर्मा भाषा के आचार्य थे। जितने तत्त्व और गुण अच्छी हिन्दी में होने चाहिएँ वे सब उनकी भाषा में हैं। फारसी और संस्कृत का पुट उर्दू और हिन्दी की तद्भव पदावली में कहां खिलता है इसका नमूना है उनकी भाषा। उनकी भाषाको टकसाली हिन्दुस्तानी कहा जाय तो भाषाविज्ञान और साहित्यालोचन दोनों ही हामी भरेंगे। कई फ़ारसी और उर्दू के उस्ताद जब संस्कृत और हिन्दी के शब्दों को अपनाते हैं तो उनमें बनावट की गंध आती है, पर पद्मसिंह शर्मा में यह बात नहीं है।

9

स्वर्गीय मोतीलाल नेहरू

गत ६ फ़रवरी को, दिन के ११ बजे, लखनऊ के कालाकांकर हाउस से एक शव निकला। शव को कंधे पर उठाये हुए एक ओर संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरुष गांधी था, दूसरी ओर भारत का राष्ट्रपति-जवाहर लाल नेहरू—और पीछे की ओर दो प्रसिद्ध डाक्टर। बाहर हजारों स्त्री-पुरुष-बच्चे, हिंदू-मुसलमान, ईसाई, सिख, जैन, पारसी सभी चुपचाप आँख में आँसू भरे टकटकी लगाये खड़े देख रहे थे। ऐसा सन्नाटा छाया था कि सुई गिरने की भी आवाज़ सुनाई देती थी। जब लाश बाहर निकली, तो लोगों के धैर्य का बाँध टूट गया। करुण-क्रन्दन का एक ऐसा हाहाकार उठा, जो काश्मीर से कन्या-कुमारी तक गूँज उठा! भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक शोक का समुद्र उमड़ पड़ा।

यह लाश स्वतंत्रता के महान् सेनानी की थी, यह मुल्क की आज़ादी के दीवाने का जनाज़ा था, यह राष्ट्र के उस भीष्म का शरीर था, जिसने अपने जीवन की अंतिम श्वास तक देश और जाति की लड़ाई लड़ने में खर्च की थी, यह उस पुरुष-सिंह की पार्थिव देह थी, जिसे उसके जीवन में कोई भी शक्ति वश में नहीं कर सकी थी। स्वतंत्रता के पुजारी और स्वराज्य-संग्राम के सेनापति के कफ़न लिए देश के झंडे से बढ़कर क्या हो सकता है? इसीलिए पंडित मोतीलाल नेहरू का शव स्वतंत्र भारतवर्ष के एक बड़े तिरंगे झंडे में लपटा हुआ था।

लाश मोटर पर रख कर प्रयाग ले जाई गई। लखनऊ से लेकर प्रयाग तक सड़क के दोनों ओर भारत की मूक जनता अपने महान् नेता को श्रद्धा की अंतिम पुष्पांजलि देने के लिए खड़ी थी।

अब से पंद्रह वर्ष पहले प्रयाग का 'आनन्दभवन, आनन्द का निकेतन, विलासिता का केन्द्र, और वैभव का क्रीड़ा क्षेत्र था; परन्तु आजकल वही आनन्दभवन, राजनैतिक ऋषियों की तपोभूमि है, देश के स्वतंत्रता-संग्राम के सेनापति का शिविर है और सार्वजनिक शक्ति का केंद्र है।

६ फरवरी को 'आनन्दभवन' में मृत्यु की भयानक गंभीरता छाई हुई थी। सहस्रों स्त्री-पुरुष 'आनन्दभवन' के स्वर्गीय स्वामी के दर्शन के लिए एकत्रित थे। तीसरे पहर एक मोटर आई, जिससे तीन धूलि-धूसरित रोती हुई मूर्तियाँ निकलीं।

ये थीं कुमारी इन्दु, कुमारी कृष्णा नेहरू और श्रीमती विजय-लक्ष्मी पंडित। थोड़ी देर बाद फूलों से ढका हुआ पंडितजी का शव भी आ पहुँचा। शाम को छ बजे भारतीय कांग्रेस के हेड कार्टर से पंडितजी का पार्थिव शरीर महाप्रस्थान के लिए निकाला गया।

इस समय स्वतंत्रता का संग्राम उग्र रूप से चल रहा है। हम ऐसे स्थान पर पहुँच चुके हैं जहा से हमें विजय अपने सामने दीख पड़ रही है। देश का भाग्य तराजू के पलड़े में रखा हुआ, राजनैतिक स्थिति बड़ी नाजुक और संकटपूर्ण हो रही है। देश को इस वक्त आवश्यकता है महान् बुद्धिमत्तापूर्ण नेताओं की जो उसे ठीक रास्ते पर चला सकें। देश में इस प्रकार का मेधावी नेता अगर कोई था, तो वे पं० मोतीलाल थे। देश को उनकी इस समय जितनी ज़रूरत है उतनी कभी नहीं थी। ऐसी ज़रूरत के वक्त 'आनन्दभवन' से उनका शव निकलते देखकर बरबस यही कहना पड़ता है—

'जनाज़ा हिन्द का दर से तेरे निकलता है,
सुहाग कौम का तेरी चिता में जलता है!'

× × ×

पंडित मोतीलाल नेहरू का जीवन एक प्रतिभापूर्ण जीवन है। उसमें जितनी बातें मिलती हैं, वे चरम सीमा की। एक ओर चरमसीमा का ऐश्वर्य-वैभव और भोग-विलास है, तो दूसरी ओर चरम सीमा का त्याग और तप। इस समय देश में

पंडित जी के समान शक्तिशाली व्यक्तित्ववाला कोई भी पुरुष नहीं है। उनमें लोगों के पेशवा बनने की अद्भुत शक्ति थी। उनका व्यवहार ऐसा शिष्ट और अच्छा था, जिससे वे किसी भी समाज में बड़ी आसानी से लोकप्रिय हो जाते थे। नौकरशाही के घोर विरोधी होते हुए भी सरकारी अफसरों की प्राइवेट दावतों तथा अन्य सामाजिक अवसरों पर वे उनसे ऐसी अच्छी तरह मिल-जुल सकते थे, जिससे उन लोगों को किसी प्रकार की असुविधा बोध नहीं होती थी। उनमें ऐसी अदम्य शक्ति थी, जिसे देखकर सैकड़ों युवकों को लज्जित हो जाना पड़ता था। वे ऐसे व्यक्ति थे, जिनके शत्रु भी उनके शत्रु होने में अपना सम्मान समझते थे।

एक जर्मन लेखक सी. ज़ेड्. क्लोज़ेल ने 'बेर्लिनेर तागेव्लात' नामक पत्र में लिखा था—

"जब पंडित मोतीलाल नेहरू अपना सोने का चश्मा उतार कर अपने सिर से खद्दर की गांधी टोपी उतारते हैं तब वे प्राचीन काल के रोमनों से बहुत अधिक मिलते जुलते मालूम पड़ते हैं। वे हाथ के बुने भारतीय खद्दर का लम्बा कपड़ा इस ढंग से पहनते हैं मानों वह चोंगा हो। मोतीलाल नेहरू जब अपना सुडौल गढ़ा हुआ दाहना हाथ सलाम के लिए ऊपर को उठाते हैं तब ऐसा मालूम पड़ता है मानों वे मुसोलिनी को इस बात का सबक़ सिखा सकते हैं कि ठीक ढंग से रोमन-सलाम कैसे करना चाहिए। इसके पूर्व कि आप यह जान सकें कि मोतीलाल नेहरू

किस ढंग के आदमी हैं, वे अपनी उपस्थिति और व्यवहार से आपका हृदय हर लेते हैं।" मोतीलाल जी ऐसे ही शान-बान के आदमी थे।

पंडितजी काश्मीर के एक सारस्वत ब्राह्मण-कुल के रत्न थे। उनका जन्म सन् १८६१ ई० में हुआ था। उनके पिता दिल्ली के कोतवाल थे; मगर पंडितजी के जन्म के तीन मास पूर्व ही उनका देहान्त हो गया था। अतः उनके लालन पालन का भार उनके बड़े भाई पंडित नंदलाल नेहरू पर था।

बालक मोतीलाल की आरम्भिक शिक्षा तत्कालीन प्रचलित प्रथा के अनुसार मुसलमानी मक़तब में हुई थी। १२ वर्ष की अवस्था में उन्हें अरबी-फारसी का अच्छा ज्ञान हो गया था। बाद में वे कानपुर-गवर्नमेंट हाई स्कूल में भर्ती हुए, और वहाँ से उन्होंने प्रथम श्रेणी में एन्ट्रेंस की परीक्षा पास की। कालेज की शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे प्रयाग के म्योर सेन्ट्रल कालेज में दाखिल हुए। वहां स्व० डा० सर सुन्दरलाल और महामना पं० मदनमोहन मालवीय उनके सहपाठी छात्रों में थे। मोतीलालजी बी. ए. की परीक्षा में सम्मिलित न हो सके। उन्होंने उसी समय अपनी भावी जीविका के लिए वकालत का पेशा निर्धारित किया, और केवल तीन मास के अल्प समय में कानून का अध्ययन करके उन्होंने उसमें इतनी दक्षता प्राप्त कर ली कि हाईकोर्ट की वकालत की परीक्षा में वे सर्वप्रथम हुए।

सन् १८८३ में युवक मोतीलाल ने कानपुर में वकालत करना

आरम्भ किया। केवल तीन वर्ष में ही उन्होंने अपनी प्रतिभा से वहां के वकीलों में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया। उस समय वहां के वकीलों के अग्रणी स्वर्गीय पं० पृथ्वीनाथ थे। वे नवयुवक मोतीलाल की प्रतिभा और उच्च आकांक्षाओं से बहुत प्रसन्न हुए, और उन्होंने इनको यह सलाह दी कि वे प्रयाग जाकर हाईकोर्ट में वकालत करें। कानपुर में छोटी अदालत होने के कारण वहां का कार्यक्षेत्र बहुत परिमित था और उसमें मोतीलालजी की पूरी प्रतिभा का विकास होना संभव न था। मोतीलालजी को यह बात पसंद आई और उन्होंने प्रयाग जाकर ९ नं० एलगिन रोड में अपना डेरा जमाकर हाईकोर्ट में वकालत प्रारम्भ की। पाँच-छ वर्ष में ही उन्होंने हाईकोर्ट के वकीलों में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त करलिया। उस समय से लेकर असहयोग के ज़माने में वकालत छोड़ने तक मोतीलालजी उत्तर भारत के सबसे अच्छे वकीलों में गिने जाते थे।

उस समय देश में 'साहबीपन' की धूम थी। लोग साहब बनने में बड़ा फ़ख़्र समझते थे। कोई कोई तो अपनी गर्भिणी पत्नियों को केवल इसीलिए विलायत भेजा करते थे, कि जिससे उनके बच्चे विलायत में उत्पन्न हों। पं० मोतीलाल भी ज़माने के इसी रंग में रँग गए। वे अपनी प्रतिभा के बल पर लाखों रुपये उपार्जित करते और ठाट-बाट, ऐश्वर्य-विभव और विलासितापूर्ण जीवन में बड़ी दरियादिली से खर्च करते थे। उनका मकान 'आनन्दभवन' सब प्रकार के सांसारिक भोग-विलास के साज-

सामानों से भरा-पूरा सचमुच में आनन्द-भवन था। वे संयुक्त प्रान्त की फैशनेबुल सोसाइटी के नेता थे। उनके बच्चों को खिलाने के लिए यूरोपियन नर्सें नौकर थीं। उनकी कमीज़ें धुलने के लिए पेरिस जाया करती थीं, परन्तु उस चरम विलासिता के वातावरण में भी मोतीलालजी की 'स्पिरिट' सदा स्वतंत्र रही, उसमें कभी दासता की कालिमा नहीं आने पाई। उन्होंने सरकारी ओहदों अथवा उपाधियों की कभी तिलमात्र भी परवाह नहीं की। उस समय यदि वे चाहते, तो हाईकोर्ट का जज हो जाना और 'सर' का ख़िताब पा जाना, उनके लिए बड़ी आसान बात थी; मगर उनकी स्वतंत्र आत्मा ने ऐसी बातों को कभी गवारा नहीं किया।

पंडितजी बहुत दिनों से राजनैतिक कार्यों से दिलचस्पी रखते थे, परंतु अन्य वकील राजनीतिज्ञों की अपेक्षा उन्हें राजनैतिक क्षेत्र का पेशवा होने में कुछ देर लगी। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि मोतीलालजी कभी किसी विषय पर जल्द राय क़ायम नहीं करते थे। किसी भी बात का निर्णय करने में उन्हें समय लगा करता था, क्योंकि वे उस बात के प्रत्येक सम्भव और असम्भव पहलू पर अच्छी तरह विचार कर उसकी तह तक पहुँचकर ही अपना विचार निर्धारित करते थे; परंतु जब वे एक बार किसी बात को अच्छी तरह सोच-समझकर उस पर अपनी राय क़ायम कर लेते थे, तब उन्हें उससे डिगाना असम्भव था। रोज़मर्रा का यह साधारण स्वभाव उनके राजनैतिक जीवन पर लागू

१ पं० जवाहरलाल जी ने अपनी आत्मकथा में इसका खण्डन किया है। सं०

होता है। उनमें राष्ट्रीयता की उग्र भावना देर में उत्पन्न हुई; मगर जब एक बार वह भावना उत्पन्न हो गई, तब उन्होंने उस पर अपना सर्वस्व निछावर कर दिया। उनके हृदय में जो राष्ट्रीयता उदय हुई वह ऐसी दृढ़, ऐसी शक्तिशाली थी, जिसे संसार की कोई भी शक्ति विचलित नहीं कर सकती थी और जिसके लिए उन्होंने अपने जीवन की अन्तिम साँस तक, एक बहादुर सिपाही की भाँति, युद्ध किया।

सन् १९०७ की सूरत-कांग्रेस के अवसर पर जब स्वागताध्यक्ष ने स्वर्गीय रासबिहारी घोष को सभापति बनाने का प्रस्ताव उपस्थित किया, तब नेहरूजी ने उस प्रस्ताव का समर्थन किया था। कांग्रेस का इतिहास जाननेवाले सभी लोग जानते हैं कि सूरत-कांग्रेस का झगड़ा ही एक प्रकार से भारत की सच्ची राष्ट्रीयता का जनक कहा जा सकता है। उसी कांग्रेस में उग्र राष्ट्रीय विचार वाले—जैसे, लोकमान्य तिलक का दल और श्री अरविन्द घोष के साथी-संगी—कांग्रेस से अलग हो गए थे, परंतु उस समय मोतीलालजी उस उग्रदल के विरोधी दल में थे। सन् १९०७ में वे संयुक्तप्रांत की प्रथम राजनैतिक कानफरेन्स के सभापति चुने गए थे। उसके दो वर्ष बाद उन्होंने संयुक्तप्रांत की व्यवस्थापिका-सभा में प्रवेश किया। इलाहाबाद की न्यूज़पेपर्स लिमिटेड, कम्पनी के पहले सभापति भी पंडित मोतीलालजी ही थे। इसी कंपनी से प्रयाग के सुप्रसिद्ध पत्र 'लीडर' का प्रकाशन होता है।

सन् १९१५–१६ के होमरूल-आन्दोलन में भी उन्होंने गहरा

भाग लिया। इसी आंदोलन में उनकी संगठन-शक्ति का पूर्वाभास मिला, जिसका परिचय बाद में उन्होंने स्वराज्य-पार्टी के संगठन में दिया। इस अवसर पर पं० जवाहरलाल नेहरू ने, होमरूल आंदोलन में भाग लेकर अपने सार्वजनिक जीवन में क़दम रखा।'

मांटेगू-चेम्सफोर्ड-रिफार्म के बाद जब कांग्रेस ने उसे असंतोष-जनक बताया, तो कांग्रेस के बहुत से पुराने नेताओं ने, जो आज कल लिबरल या माडरेट कहलाते हैं, कांग्रेस से अपना संबंध-विच्छेद कर लिया। बस, इसी समय से मोतीलाल जी का अपने पुराने साथियों से साथ छूट गया। अब वे कांग्रेस-अनुयायी और पक्के राष्ट्रवादी बन गये; मगर उनकी राष्ट्रीयता में इस बात की विशेषता थी कि वे प्रत्येक बात को व्यावहारिक दृष्टि से देखते थे।

सन् १९१९ की घटनाओं ने भारत में ऐसी क्रांति कर दी, जिसका नरम-दलवालों और भारत की मित्रता का दम भरनेवाले विलायतियों को अनुमान ही नहीं था। कांग्रेस का उद्देश्य, उसका आदर्श और उसकी कार्य-प्रणाली आदि सभी बातों का काया-पलट हो गया। रौलेट एक्ट का आविर्भाव, कांग्रेस में महात्माजी का उदय, जलियानवाला बाग आदि घटनाएँ समाचार पत्रों के पाठकों को भली भाँति विदित हैं। इन सब बातों ने भारतीय राष्ट्रीयता का दृष्टि-कोण ही बदल दिया। इस समय पं० मोतीलाल जी ने पंजाब के 'मज़लूमों' को सहायता पहुँचाने में बड़ा भारी भाग लिया। उस समय उन्होंने जो मुस्तैदी, उदारता और त्याग दिखलाया था, उसे आज भी पंजाबवाले कृतज्ञता से स्मरण

करते हैं। अमृतसर की कांग्रेस के सभापति के आसन को भी उन्होंने सुशोभित किया था। इसी अवसर पर पं० मोतीलाल नेहरू और महात्मा गान्धी में वह घनिष्ठ संबंध स्थापित हुआ, जिसका सुफल भारत की राष्ट्रीयता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जायगा।

सन् १९२० में असहयोग आंदोलन शुरू हुआ। पं० मोतीलाल जी उसमें निःसंकोच भाव से सपरिवार कूद पड़े। हजार रुपये प्रतिदिन कमानेवाले वकील ने राष्ट्रीयता के आगे वकालत को ठुकरा दिया। आनन्द-भवन धीरे-धीरे त्याग-भवन में परिणत होने लगा। बहुमूल्य विलायती, रेशमी और सूती वस्त्र तथा अन्य साज-सामान अग्नि की पतित-पावनी लपटों की भेंट होगए। पेरिस के धुले बहुमूल्य कपड़े पहिननेवाले का शरीर हाथ के बुने खद्दर से विभूषित होकर एक अलौकिक छटा दिखाने लगा। विलासिता की गोद में पले हुए वृद्ध मोतीलालजी तपस्वी का कठोर जीवन बितानेवाले त्यागवीर मोतीलाल नेहरू हो गये। संसार असहयोग आंदोलन को चाहे भारतीयों की दृष्टि से देखे या अंग्रेजों की दृष्टि से, उसे अच्छा कहे या बुरा, उसे उच्च राजनीतिज्ञता करार दे या मूर्खता-पूर्ण पागलपन; मगर किसी भी दृष्टि से देखने से मोतीलाल नेहरू के महान त्याग का महत्त्व नहीं घट सकता। नेहरू और देशबन्धु दास सरीखे व्यक्तियों के त्याग ने भारत की राष्ट्रीयता को जो नैतिक शक्ति प्रदान की है, उसका प्रभाव कम नहीं कहा जा सकता।

असहयोग-आंदोलन के संबंध में मोतीलालजी को युक्त-प्रदेश के अन्यान्य नेताओं के साथ सज़ा हो गई। आनन्द-भवन के विलासी स्वामी ने देश के लिए भारतीय जेल की रोटियाँ खुशी से खाईं। चौराचौरी कांड के बाद महात्मा गांधी ने असहयोग के लिए सहसा 'हाल्ट' की आज्ञा दे दी। देश-भर में आंदोलन रुक गया। महात्माजी पकड़े गए और उन्हें लंबी सज़ा दी गई।

गया-कांग्रेस के पहले देश की तत्कालीन परिस्थिति पर विचार करने के लिए एक कमेटी बनाई गई थी। कमेटी ने जाँच करके जो रिपोर्ट दी, वह सर्वसम्मत नहीं थी। परिणाम-स्वरूप गया-कांग्रेस में कांग्रेसवालों में आपस में गहरा मतभेद हो गया। देशवंधु चित्तरंजनदास ने इस बात पर ज़ोर दिया कि कौन्सिलों, अदालतों और स्कूलों का बायकाट उठा लिया जाय। गया-कांग्रेस ने दास महोदय के विरुद्ध राय दी। फल यह हुआ कि श्रीयुत दास और पंडित मोतीलाल नेहरू ने मिलकर एक नवीन संगठन को जन्म दिया जो स्वराज्य-पार्टी के नाम से प्रसिद्ध है। उस समय के बाद से गत सात वर्षों का भारतवर्ष का इतिहास वस्तुतः स्वराज्य-पार्टी का ही इतिहास है। स्वराज्य-पार्टी ने देश में और संसार में जो प्रभाव डाला है, उसकी महत्ता कम नहीं कही जा सकती। एक प्रकार से स्वराज्य-पार्टी की कारवाईयों का ही यह फल था कि गत लाहौर कांग्रेस ने पूर्ण-स्वाधीनता की माँग उपस्थित की। देशवंधु दास की मृत्यु के पश्चात् पंडित मोतीलाल नेहरू ही स्वराज्य-दल के प्रमुख नेता हुए।

नेहरू जी नें दल को सुसंगठित बनाने में जिस योग्यता और संग-ठन-शक्ति का परिचय दिया, उसे देखकर उनके विरोधियों को भी उनका लोहा मानना पड़ा। कौंसिलों और विशेष कर एसेम्बली में स्वराज्य-दल वालों के आतंक के मारे सरकारी पक्ष के सदस्यों को नींद-भूख हराम थी। जिस दिन से पं० मोतीलाल ने एसे-म्बली में राष्ट्रीय माँग का प्रस्ताव पेश किया था, उस दिन से लेकर एसेम्बली छोड़ने के दिन तक एसेम्बली में उन्हीं की तूती बोलती रही। गोलमेज कॉन्फ़रेन्स का विचार भी पं० मोतीलाल नेहरू ही के मस्तिष्क की उपज है। काशकि ब्रिटिश सरकार ने उस समय पं० नेहरू की बात मान ली होती, तो आज यह दुर्दिन देखने नसीब न होते।

मोतीलाल जी का एसेम्बली में जाने का उद्देश्य केवल छोटी मोटी सुविधाएँ प्राप्त करना ही नहीं था, बल्कि उनका लक्ष्य स्व-राज्य प्राप्त करना था। सन् १९२५ में उन्होंने सुप्रसिद्ध 'राष्ट्रीय माँगें' एसेम्बली के सामने उपस्थित कीं और उन्हें दो बार सन् १९२५ और १९२९ में पास करवाया। नौकरशाही के पिट्ठू कहा करते थे कि जबतक हिन्दू-मुसलमानों का समझौता न होगा, तब तक स्वराज्य नहीं हो सकता। इसके उत्तर में नेहरू जी ने सर्वदल सम्मेलन का संगठन करके संपूर्ण भारतवर्ष के लिए राष्ट्रीय विधान की योजना की जो 'नेहरू रिपोर्ट' के नाम से सुप्रसिद्ध है।

सन् १९२८ के अंत में कलकत्ता-कांग्रेस के अध्यक्ष का आसन मोतीलालजी ने ही सुशोभित किया था। इसी कांग्रेस में भारत

ने ब्रिटेन को इस बात का चैलेंज दिया था कि यदि ब्रिटेन एकवर्ष के अंदर भारतवर्ष को पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य न दे देगा, तो कांग्रेस पूर्ण-स्वतंत्रता की घोषणा करके उसके लिए संग्राम छेड़ देगी। यह प्रायः सभी जानते हैं कि सरकार ने औपनिवेशिक स्वराज्य देने की बात नहीं मानी, और फलतः लाहोर-कांग्रेस ने पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा करके सत्याग्रह-संग्राम छेड़ दिया।

गत वर्ष ११ अप्रैल को पंडित मोतीलाल नेहरू ने अपना आनन्दभवन देश को समर्पित कर दिया। आनन्दभवन का नया नाम 'स्वराज्य-भवन' हो गया। आजकल वही भारत की राष्ट्रीय महासभा काँग्रेस का हेड-क्वार्टर है। १४ अप्रैल सन् १९३० को राष्ट्रपति पं० जवाहरलाल नेहरू को ६ मास के कारावास का दंड मिला। १८ अप्रैल को भारतवर्ष के डिक्टेटर महात्मा गांधी ने मोतीलालजी को कांग्रेस का अस्थायी सभापति मनोनीत किया। ३० जून को सरकार ने कांग्रेस की वर्किंग कमेटी को गैरकानूनी करार देकर उसके सभापति पं० मोतीलाल नेहरू को गिरफ्तार करके ६ मास की सज़ा दी। जेल में मि० जयकर और सर सप्रू ने कांग्रेस-नेताओं और सरकार में समझौता कराने की चेष्टा की; मगर कुछ फल न निकला। पं० मोतीलालजी का स्वास्थ्य पहले ही से ख़राब था। वे आबहवा बदलने के लिए यूरोप जाने का विचार कर रहे थे। इधर उनके ऊपर कांग्रेस के काम का भार रहा और उस पर से जेल की तकलीफें। वृद्ध शरीर एकदम जर्जरित हो गया। जब सरकार ने देखा कि पंडित जी को जेल

में रखने से उनकी जान जोखिम में है, तब मजबूर होकर उन्हें ८ सितम्बर को छोड़ दिया।

मगर चारों ओर दमन का दौर-दौरा चल रहा था। पंडित जी के पुत्र, पुत्रवधू और जामाता जेल में थे, अतः आंदोलन से अलग निश्चिन्त होकर रहना उनके लिए असंभव था। वे उस बीमारी की दशा में भी आंदोलन के सम्पर्क में बने रहे। बीमारी और भी गहरी होती गई, और अंतमें गत ६ फरवरी को भारतीय स्वतंत्रता का सच्चा नायक भारत को शोक में डुबाकर चल बसा!

× × × ×

पंडित जी ने राष्ट्र के लिए बहुत कुछ दिया है। उन्होंने अपने शारीरिक सुख चैन, अपना अमूल्य समय, अपनी अलौकिक मेधा की शक्तियाँ, अपना धन, अपना मकान और अपना परिवार तक देश को अर्पण कर दिया, मगर देश के लिए उनका सबसे महान् दान—जैसा आज तक संसार के शायद ही किसी महान् पुरुष ने किया हो—है पंडित जवाहरलाल नेहरू।

मोतीलाल नेहरू

पद्मसिंह शर्मा और ब्रजमोहन वर्मा संस्मरण लिखने में सिद्धहस्त थे। शब्द-चित्र खींचने और मुहाविरेदार भाषा लिखने में दोनों ही आचार्य थे। वर्माजी के एक संस्मरण का यह नमूना सामने है। इसमें निबंध के गुण तो हैं ही, संस्मरणवाली मिठास भी है।

10

शब्दों का अर्थ

एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना बहुत कठिन काम है, और सच पूछिए तो ज़रा भी गहरी बातों का ठीक-ठीक अनुवाद हो ही नहीं सकता। किसी भाषा का क्या काम है? वह हमको सोचने में मदद करती है। भाषा तो एक तरह से जमे हुए विचार हैं। उसके द्वारा हवाई ख़यालात एक मूर्ति बन जाते हैं। उसका दूसरा काम यह है कि उसके ज़रिये हम अपने विचारों का इज़हार कर सकें और उनको औरों तक पहुँचा सकें; दो या अधिक आदमियों में ख़यालात की आमदरफ़्त हो। भाषा और भी कई तरह से कामों में आती है लेकिन इसमें बिलफ़ेल हमें जाने की आवश्यकता नहीं है। एक शब्द या फ़िकरा हमारे दिमाग़ में किसी-न-किसी मूर्ति की शक्ल में आता है। मामूली सीधे-सादे शब्दों से, जैसे मेज़, कुर्सी, घोड़ा, हाथी आदि से, आसान और साफ़ मूर्तियाँ बनती हैं, और जब हम

उनको कहते हैं, तब सुनने वाले के दिमाग़ में भी अकसर करीब करीब वैसी ही मूर्तियाँ बन जाती हैं। इससे हम कह सकते हैं कि वे हमारे मानी समझ गये।

लेकिन जहाँ हम इन सीधे और आसान शब्दों से आगे बढ़े, वहाँ फ़ौरन पेचीदगी पैदा हो जाती है। एक मामूली फ़िकरा भी दिमाग़ में कई तसवीरें पैदा करता है, और यह सम्भव है कि सुनने वाले के दिमाग़ में कुछ और ही तसवीरें पैदा हों। बहुत कुछ दोनों की मानसिक शक्ति पर निर्भर है—उनकी पढ़ाई पर, उनके तजरुबे पर, उनके इल्म पर, उनकी प्रेरणाओं पर और उनके जज़बात पर। अब एक क़दम और आगे बढ़िये और ऐसे शब्द लीजिए जो Abstract (अमूर्त) और पेचीदा हैं, जैसे सत्य, सौन्दर्य, अहिंसा, धर्म, मज़हब इत्यादि। हम रोज़ सैकड़ों दफ़े इन शब्दों का प्रयोग करते हैं लेकिन अगर हमको उनके मानी पूरी तौर से समझाने पड़ें, तो हमें काफ़ी कठिनाई हो। हम यह देख सकते हैं कि ऐसे शब्द दो आदमियों के दिमाग़ में कभी एक सी मूर्तियाँ या तसवीरें पैदा नहीं करेंगे। इसके मानी यह हैं कि हम अपने मानी दूसरे को नहीं समझा सके, हालाँ कि हम दोनों बात एक ही कहते हैं; पर दोनों का अर्थ अलग-अलग है। यह दिक़्क़तें बढ़ती जायँगी, जितने अधिक पेचीदा और Abstract विचार हम पेश करेंगे, और यह भी हो सकता है (और हुआ है) कि हम इसी ग़लतफ़हमी की वजह से आपस में लड़ें और एक दूसरे का सिर फोड़ें।

यह सब कठिनाइयाँ दो ऐसे आदमियों में भी, जो एक ही भाषा के बोलने वाले हैं, सभ्य और पढ़े हुए हैं और एक ही संस्कृति के पले हुए हैं, पैदा हो सकती हैं। अगर एक पढ़ा और दूसरा अनपढ़ और जाहिल हुआ, तब उनके बीच में बड़ा भारी फ़ासला हो जाता है, और उनका एक दूसरे को पूरी तौर से समझना असम्भव हो जाता है—वे दो दुनियाओं में रहते हैं।

लेकिन यह सब कठिनाइयाँ छोटी मालूम होती हैं, जब हम इनका मुक़ाबला करते हैं ऐसे दो आदमियों से, जो अलग-अलग भाषायें बोलते हैं और एक दूसरे की संस्कृति को अच्छी तरह से नहीं जानते। उनके मानसिक विचारों में, दिमागी तसवीरों मे तो ज़मीन-आसमान का फ़रक है। वे एक दूसरे को बहुत कम समझते हैं। फिर आश्चर्य क्या, जब वे एक दूसरे पर भरोसा न करें, एक दूसरे से डरें या आपस में लड़ें?

एक भाषातत्त्वज्ञ (philologist) प्रोफ़ेसर जे० एस० मैकनज़ी ने, जिन्होंने भाषाओं पर और उनके सम्बन्ध पर बहुत ग़ौर किया है, लिखा है—

" An English man, a French man a German and an Italian can not by any means bring themselves to think quite alike, at least on subjects which involve any depth of sentiment; they have not the verbal means."

यह याद रखने की बात है कि एक अंगरेज, एक फरासीसी, एक जर्मन और एक इटालियन एक ही संस्कृति की औलाद हैं

और उनकी भाषाओं में बहुत क़रीब का सम्बन्ध है। फिर भी यह कहा जाता है कि वे किसी तरह से किसी गहरे विषय पर एक सा नहीं सोच सकते, क्योंकि उनकी भाषाओं में अन्तर है। अगर यह हाल उनका है, तो एक हिन्दुस्तानी और एक अंगरेज़ का या उनकी भाषाओं का क्या कहा जाय ? धोती-कुर्ता पहनने से एक अंगरेज़ हिन्दुस्तानी की तरह नहीं सोचने लगता और न कोट-पतलून पहनने और छुरी-काँटे से खाने से एक हिन्दुस्तानी यूरोप की सभ्यता को ही समझ जाता है।

जब एक दूसरे को समझने में यह कठिनाइयाँ है, तब बेचारा अनुवादक क्या करे ? कैसे इन मुसीबतों को हल करे ? पहली बात तो यह है कि वह इनको महसूस करे और यह जान ले कि अनुवाद करना सिर्फ़ कोष को देखकर लफ्ज़ी मानी देना नहीं है। उसको दोनों भाषाओं को अच्छी तरह समझना है, और उनके पीछे जो संस्कृति है, उसको भी जानना है। उसको कोशिश करनी चाहिए कि वह अपने को भूल जाय और मूल लेखक की विचार-धाराओं में गोते खाकर फिर उन विचारों को अपने शब्दों में दूसरी भाषा में लिखे।

मेरा ख़याल है कि हमारे अनुवादक लोग इस गहराई में जाने की कोशिश कम करते हैं, और ज्यादातर अख़बारी तौर पर अनुवाद करते हैं। अकसर ऐसे शब्द और फ़िक़रे मुझे हिन्दी में मिलते हैं, जिनको देख कर मुझे आश्चर्य होता है। 'ट्रेड यूनियन' (Trade union) का अनुवाद मैंने 'व्यापार-संघ' पढ़ा। यह शब्दों

के हिसाब से बिल्कुल सही है। लेकिन जो इस चीज़ को नहीं ज़ानता, वह कभी नहीं समझ सकता कि व्यापार-संघ व्यापारियों का नहीं, बल्कि मज़दूरों का है। ट्रेड यूनियन शब्द के पीछे सौ बरस से अधिक का इतिहास है। जो उसको कुछ जानता है, वह समझेगा कि कैसे यह नाम पड़ा। फ्रान्स में यह नाम नहीं हैं, न इसका अनुवाद है। वहाँ इसको Syndicate कहते हैं। अगर फ्रेंच से हिन्दी में अनुवाद हो तो क्या हम उसे 'सिंडिकेट' कहेंगे या कुछ और ? यह तो बिल्कुल सीधा सा उदाहरण है। असल कठिनाई तो ज्यादा पेचीदा बातों में आती है।

दूसरी बात यह है कि अनुवादक लोग जहाँ तक हो सके, छोटे और आसान शब्दों का प्रयोग करें, जिनके कई मानी न हों, जो कि धोखा दे सकें। फ़िक़रे लम्बे-चौड़े न हों। दुनियाँ की अनेक भाषाओं में जो प्रसिद्ध साहित्य की पुस्तकें हैं उनका अनुवाद प्रायः बहुत भाषाओं में हो गया है, और बहुत अच्छी तरह से हुआ है। कोई वजह नहीं मालूम होती कि हिन्दी में भी ऐसे ही अच्छे अनुवाद क्यों न हों। मुझे तो पूरी आशा है कि जब हमारे साहित्यकार इधर ध्यान देंगे, तो यह आवश्यक कार्य भी सफल होगा। बड़ी कठिनाई तो यह है कि हमारे विश्वविद्यालयों के बी० ए० और एम० ए० अंगरेज़ी बहुत कम जानते हैं, और अन्य विदेशी भाषाएँ तो जानते ही नहीं।

साहित्य की मामूली किताबें अनुवादित हो सकती हैं, लेकिन धर्म और दर्शन-शास्त्र की तथा ऐसे ही Abstract विषयों की

किताबों का ठीक अनुवाद करना तो असम्भव मालूम होता है। उनमें ऐसे शब्द आते हैं, जिनके बहुत से जुदा-जुदा मानी होते हैं—एक पोशाक दर्जनों आदमी पहनते हैं, उनको पहचाने कैसे? वे एक शब्द होने पर भी एक शब्द नहीं हैं और तरह-तरह की तसवीरें दिमाग में पैदा करते हैं—जैसे सौन्दर्य, सत्य, धर्म, मज़हब वगैरह। सौन्दर्य को ही लीजिए। औरत का, प्रकृति का, किसी विचार का, किसी कला का, सत्य का, फ़िक़रे का, चाल-चलन का, उपन्यास का—ऐसे ही अगणित प्रकार के सौन्दर्य कहे जा सकते हैं। इन सब बातों में एकता क्या है? अगर यह कहा जाय कि जो चीज़ लोगों को पसन्द हो और उनको प्रसन्न करे, उसी में सौन्दर्य है, तो यह तो एक बिल्कुल गोल बात हो गई, फिर लोगों की राय एक-सी नहीं होती।

हर भाषा में बहुत से शब्द ऐसे गोल हैं, जिनके कई मानी हो सकते हैं। कुछ ऐसे हैं, जो कि बिल्कुल ख़राब हो गये हैं, और जिनके ख़ास मानी रहे ही नहीं। कुछ भिखमंगे शब्द हैं जिनकी निस्बत मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा था—"Terms thrown out, so to speak, at a not fully grasped object of the speaker's consciousness." कुछ शब्द ख़ानाबदोश (Nomads) होते हैं, जो इधर-उधर फिरते हैं, जिनके कोई ख़ास मानी नहीं हैं।

ऐसे शब्द हर भाषा में होते हैं, और जिन लोगों के विचार साफ़ नहीं होते, वे ख़ास तौर से इनका प्रयोग करते हैं। वे अपने दिमाग़ की कमज़ोरी को लम्बे और गोल और किसी क़दर बेमानी

शब्दों में छिपाते हैं। जिस भाषा में ऐसे शब्दों का अधिक प्रयोग हो (मेरा मतलब इस समय सौन्दर्य, सत्य आदि से नहीं है), उसकी शक्ति कम हो जाती है। उसके साहित्य में तलवार की तेज़ी नहीं होती, और न वह तीर की तरह से कमान को छोड़कर अपना मतलब हल करता है।

हम कोशिश कर सकते हैं कि इन घिसे हुए, भिखमंगे और आवारा शब्दों को हम अपने बोलने और लिखने में, जहाँ तक हो सके, पनाह न दें। अपराध बेचारे शब्दों का क्या है, वे तो कम-सीखे हुए और अनुशासन-रहित दिमाग़ों के बच्चे हैं। बोलने और लिखनेवाले भाषा को बनाते हैं; लेकिन फिर उतना ही असर उस भाषा का उन नये आदमियों पर होता है, जो उसका प्रयोग करते हैं। पुरानी भाषाओंमें-संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदिमें-शब्दों की या विचारों की ढील बहुत कम मिलती है, उनमें एक चुस्ती और हथियार की सी तेज़ी पाई जाती है, और बेकार शब्द बहुत कम मिलते हैं। इससे उनमें एक शान और Dignity (बड़प्पन) आ जाती है, जो कि ख़ास असर पैदा करती है। आजकल की भाषाओं में शायद फ़्रेंच सबसे अधिक साफ़-सुथरी है, और फ़्रेंच लोग प्रसिद्ध हैं अपने मानसिक अनुशासन (Discipline) और अपने विचारों को बहुत शुद्धता से प्रकट करने के लिए।

जो किसी क़दर निकम्मे शब्द हैं, उनका सामना तो हम इस तरह से करें, लेकिन जो हमारे ऊँचे दर्जेके abstract शब्द हैं, उनका क्या किया जाय ? वे हमें प्रिय हैं, वे हमारे लिए ज़रूरी

हैं, और अकसर हमें उभारने में वे सहायता देते हैं। लेकिन फिर भी वे गोल हैं और कभी-कभी इतने मानी रखते हैं कि बेमानी हो जाते हैं। ईश्वर ही के ख़याल को लीजिए। हर मज़हब में और हर भाषा में उसकी तारीफ़ में हजारों शब्द कहे गये हैं। मालूम होता है कि इन्सान का दिमाग़ इस ख़याल को समझ नहीं सका और अपनी कमज़ोरी छिपाने को कोष खोलकर जितने बड़े और ज़ोरदार शब्द मिले, वे सब ईश्वर के मत्थे डाल दिए गये। उन सब शब्दों का अर्थ समझना मानसिक शक्ति के बाहर था; लेकिन बहुत-कुछ कह और लिख देने से एक तरह का संतोष हुआ कि हमने अपना फ़र्ज़ अदा कर दिया और कम से कम ईश्वर को अब हमसे कोई शिकायत नहीं करनी चाहिए। अल्लाह के हज़ार नाम हैं, गोया कि नाम बढ़ाने से असलियत ज्यादा साफ होजाती है। God को अंग्रेज़ी में absolute, omnipotent, omniscient, omnipresent perfect, unlimited, immutable, eternal इत्यादि कहते हैं। यह सब सुनकर किसी क़दर दिल सहम अवश्य जाता है; लेकिन अगर इन शब्दों पर कोई ग़ौर करने की धृष्टता करे, तो उसकी समझ में बहुत कुछ नहीं आता। मनोविज्ञान के प्रसिद्ध अमेरिकन पंडित विलियम जोंज़ ने लिखा है—

"The ensemble of the metaphysical attributes imagined by the theologian is but a shuffling and matching of pedantic dictionary adjectives. One feels that in the theologian's hands they are only a set of titles obtained

by a mechanical manipulation of synonyms; verbality has stepped into the place of vision, professionalism into that of life."

इसी तरह से इटालियन दार्शनिक क्रोस ने परेशान होकर sublime शब्द के मानी यह बतलाये हैं--"The sublime is every thing that is or will be so called by those who have employed or shall employ the name." इसके बाद कुछ ज्यादा कहने की गुंजाइश नहीं रह जाती, और हर एक को इतमिनान हो जाना चाहिए ।

हर सूरत से यह ऊँचे दर्जे की हवाई Sublime बातें मामूली आदमी की पहुँच के बाहर हैं। बड़े पंडित और आचार्य तय करें कि Abstract शब्दों का कब प्रयोग हो और उसका कैसे अनुवाद हो। लेकिन फिर भी हम मामूली आदमियों को यह नहीं भूलना चाहिए कि शब्द ख़तरनाक वस्तु है, और जितना ही वह Abstract है, उतना ही वह हमको धोखा दे सकता है। और शायद सब से अधिक ख़तरनाक शब्द धर्म या मज़हब है। हर एक आदमी अपने दिलमें अलग ही उनके मानी निकालता है। हर एक के मन में नई तसवीरें रहा करती हैं। किसी का ध्यान मन्दिर, मसजिद या गिरजे पर जावेगा, किसी का चन्द पुस्तकों पर या पूजा-पाठ पर, या मूर्ति पर, या दर्शनशास्त्र पर, या रिवाज पर, या आपस की लड़ाई पर, इस तरहसे एक शब्द लोगों के दिमाग़ों में सैकड़ों अलग-अलग तसवीरें पैदा करेगा और उनसे तरह-तरह के विचार

निकलेंगे। यह तो भाषा की कमज़ोरी मालूम होती है कि एक ही शब्द ऐसा असर पैदा करे। होना तो यह चाहिए कि एक शब्द का सम्बन्ध एक ही मानसिक तसवीर से हो। इसके मानी यह हैं कि धर्म या मज़हब के सौ टुकड़े हों और हरएक टुकड़े के लिए अलग शब्द हो। सुनने में आया है कि अमेरिका की पुरानी भाषा में प्रेम करने के लिए दो सौ से अधिक शब्द थे। उन सब शब्दों का हम अब कैसे ठीक अनुवाद कर सकते हैं।

शब्दों के प्रयोग के बारे में किसी तरह महात्मा गांधी भी गुनहगार हैं, यों तो जो कुछ वे कहते हैं या लिखते हैं, वह साफ़-सुथरा और बाअसर होता है। उसमें फ़िज़ूल शब्द नहीं होते और न कोई कोशिश होती है सजावट देने की। इसी सफाई में उसकी शक्ति है। लेकिन जब वे ईश्वर या सत्य या अहिंसा की चर्चा करते हैं—और वे अकसर करते हैं,—तब उस मानसिक सफाई में कमी हो जाती है। God is truth, truth is God, non-violence is truth, truth is non-violence,—ईश्वर सत्य है, सत्य ईश्वर है, अहिंसा सत्य है, सत्य अहिंसा है,—यह सब उन्होंने कहा है। इस सबके कुछ-न-कुछ मानी अवश्य होंगे; लेकिन वे साफ़ बिल्कुल नहीं हैं। मुझको तो इस तरह के शब्दों का प्रयोग करना उनके साथ कुछ अन्याय करना मालूम होता है।

शब्दों का अर्थ

यह विचारप्रधान निबंध है। इसकी गणना प्रयुक्त साहित्य में होती है। प्रयुक्त साहित्य की रोचकता और उपयोगिता का गुण रहने पर भी एक दोष खटकता है। वह है इस लेख की सामयिकता। इसमें स्थायी प्रभाव वाला तत्व नहीं है। तो भी इस लेख में आकर्षण है, ज्ञान है और है तथ्य प्रियता, भाषा की स्वाभाविकता, प्रतिपादन-शैली की सौम्यता और लेखक की सचाई हमें बरबस खींचती है। ऐसे सामयिक साहित्य का भी एक स्थान है। उसे पढ़ने से कुछ लोगों को अवश्य ही सुख और संतोष मिलता है।

— राजशेखर मिश्र
लेखक — रामकृष्ण गर्ग

॥

रूप

मेरे रायबहादुर मामा ३८ वर्ष की उम्र में दूसरी शादी करके लाए थे। अपनी नई मामी से कुछ दूर पर बैठा हुआ मैं एकटक दृष्टि से उन्हें देख रहा था। उनकी बड़ी बड़ी आँखों में तरल हँसी छलछला रही थी; गुलाब जैसे भरे हुए चेहरे से यौवन और सौन्दर्य महक महक कर फूट रहा था। खूब याद है, उन आँखों में कोई उनींदापन नहीं था, जिसे हम मादकता कहते हैं, और न चेहरे का कटाव ही किसी ऐसी कोमल रेखा-भंगी पर हुआ था, जो रूप में कला की मात्रा निर्धारित करती है। एक निखरा हुआ सौन्दर्य, एक प्रबल आकर्षण केवल वहाँ था, जो आँखो को कुछ समय के लिये मानों पकड़ कर बैठ जाता था।

यह उस समय की बात है, जब मैं चौदह वर्ष का था। यौवन अपनी उमंगों के लिये भूमि तैयार कर रहा था, पर हृदय ने

बचपन

शैशव के कुतूहल का दामन अभी नहीं छोड़ा था। मैं मामी को देख रहा था—विस्मय से, आनन्द से। कहीं कोई टीस भी चल रही हो, तो याद नहीं; पर इतना अब भी कह सकता हूँ कि उस समय कुछ ऐसा अनुभव हो रहा था, जैसे दो आदमियों ने मुझे कसकर पकड़ लिया हो और तीसरा गुदगुदी चला रहा हो।

विवाह ख़तम हो जाने के बाद अपने पिताजी के साथ मैं घर चला आया, और चन्द दिन बाद मामी भी अपने नैहर को बिदा हो गई होंगी। लेकिन इन थोड़े से दिनों में ही उनके अत्यन्त रूपवती होने की बात सारे शहर में फैल गई थी। जब तक वह ससुराल में रहीं, मुँह-दिखाई की रस्म के लिये आई हुई औरतों का वहाँ ताँता बँधा रहा। मामाजी का रसूक शहर में यों ही काफी बढ़ा-चढ़ा था, फिर कितनी ही औरतें तो केवल अपना कुतूहल शान्त करने के लिए ही वहाँ आतीं और मुँह भर भर कर तारीफ़ करती हुई लौटतीं।

(२)

इस प्रशंसा का कितना अंश सच्चे हृदय से निकला था और कितना स्त्रीजाति की सहज ईर्ष्या से सम्बन्ध रखता था, यह उस वक्त मैं नहीं जान सका। लेकिन बाद में वहीं देख लिया कि स्त्री स्त्री से उसी तरह मिलती है, जैसे दो नंगी तलवारें। दो साल बाद मामाजी के यहाँ फिर मेरा ऐसे ही किसी मौके पर जाना हुआ। उस वक्त भी औरतों का वहाँ ख़ासा जमघट था। मामीजी

उनकी आवभगत में अपने आप को भूली हुई थीं। किसी को वह खिला-पिला रही थीं, किसी का स्वागत कर रही थीं, किसी से विदा ले रही थीं और किसी के दुख-सुख की सुन रही थीं। लेकिन मैंने देखा, इन सबके बीच उनकी निन्दा का एक राग अविछिन्न रूप से उस छोटे से समाज में छिड़ा हुआ था—कहीं कानों-कानों में, कहीं स्पष्ट शब्दों में और कहीं केवल इशारों और भ्रू-नर्तन में। मामी के प्रत्येक शब्द से लेकर उनकी चाल ढाल और हरकत तक ईर्ष्या की निहाई पर आलोचना के कड़े हथौड़े से ठोक-ठोक कर परखे जा रहे थे। सम्भव है, उनमें से किसी एक विषय पर उनकी रायें कुछ दूर के लिए दो हो गई हों, पर उनके रूप के सम्बन्ध में सबकी यही एक धारणा थी कि चन्द रोज़ बाद वह पाउडर की सफ़ेदी की तरह फीका पड़ जायगा।

मामीजी को इस सबकी ख़बर थी या नहीं, कुछ नहीं मालूम, लेकिन अब देखता हूँ, वह जैसे इन सब आक्षेपों का जवाब अपनी किसी हल्की सी मुसकान में, किसी कोमल सम्बोधन में, या एक मधुर दृष्टिपात में ही चलते चलते दे जाती थीं और वह जवाब उनके प्रतिपक्षी के हृदय में गहरा पैठ कर उसे निःशब्द कर देता था।

अपने सौन्दर्य की शक्ति का उन्हें पूरा ज्ञान था—शायद सभी स्त्रियों को सहज रूप से थोड़ा बहुत होता है; पर औरों को केवल उसका ज्ञान होता है, मामीजी को उसपर पूरा-पूरा नियंत्रण भी था—उसके प्रत्येक उतार-चढ़ाव पर, उसकी हलकी सी हलकी

शेड पर। चित्रकार जैसे केवल एक रेखा खींच कर अपनी व्यंजना को हलकी या गहरी कर देता है, और कभी कभी चित्र के प्रभाव को वदल ही देता है, उसी प्रकार मामीजी भी एक सुरमई साड़ी पहन कर अपने रूप की टोन को कस कर एक दम ऊँचा कर सकती थीं, कभी छापे की एक सफेद धोती में ढककर उसे मधुर मुलायम कर देती थीं और कभी किसी ख़ास आभूषण की झलक से ही उसके प्रभाव में रंग भर सकती थीं।

यही एक रहस्य था, जिसके बल पर सौन्दर्य की उस दुनियाँ में वह प्रतिमा होकर पुजती थीं। मैं अब उनके यहाँ अक्सर जाता आता रहता था। बड़े हो जाने के कारण मेरे ऊपर से वह सब प्रतिवन्ध हट गये थे, जो पहले थे। आप सोचते होंगे, मैं मामी के लिए ही ननिहाल जाता था। हाँ, ऐसी ही बात थी। मैं उनके रूप का पुजारी नहीं था—विद्यार्थी था। उसकी प्रत्येक रेखा का मैं अध्ययन करता था। मेरा विश्वास था कि समय की कोई काली छाया सौन्दर्य की उन किरणों को धुँधला नहीं कर सकती। तीन चार साल बाद जब उनको लड़का हुआ, तो उनके घर में आनन्द और उत्सव की बाढ़ सी आ गई थी, पर मैं जब उस सब में शामिल होने के लिए घर से चला, तो दिल पर पत्थर सा रख गया था। डर रहा था, समय को जहाँ पहुचते बरसों लगते, गृहस्थ की एक साधारण सी घटना वहाँ छलाँग में ही तो नहीं पहुँच गई।

मामी जी मुझे पहचानती थीं, मेरी आँखों में अपने आपको वह जैसे पढ़ा करती थीं। उस दिन प्रसूति-गृह की देहली पर खड़े

होकर जब मैंने उनकी पानी पर तैरते हुए बुलबुलों जैसी आँखों से आँखें चार करके कहा—"मामीजी, बधाई है," तो वह थोड़ा सा मुस्कराईं और फिर झेप गईं। समझ गई, यह बधाइयाँ उन्हें केवल पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य में नहीं दी जा रहीं हैं। इनका मतलब और भी गहरा है।

रूप की दौड़ में उन्हें परास्त करने के लिए उस शहर के बड़े बड़े घरों की औरतों में उस समय तक एक ज़बर्दस्त गुट बन कर तैयार हो गया था। साड़ियों के नए-नए डिज़ाइन मँगवा कर, शरीर पर हीरा मोती के आभूषणों की चमक चढ़ा कर, पालिश से दमकती हुई घोड़ा गाड़ियों की खिड़कियों में से कभी बिजली की तरह झाँक कर और कभी विशाल मोटरकारों के आतंक से बाज़ार की भीड़ को चीर कर लोगों पर अपनी धाक जमाने के इन लोगों के प्रयत्न बराबर जारी रहते थे। मामी भी इन प्रदर्शनों में कभी कभी शामिल होती थीं, लेकिन इस तरह, जैसे उनका कोई प्रतिद्वन्दी ही न हो, मानो वह ख़ुद किसी लायक ही न हों। एक करोड़पति जिस प्रकार मामूली कपड़े पहन कर लोगों के इशारों के नीचे बाज़ार में पैदल निकल जाता है, ऐसी ही कुछ उनकी सादगी थी।

एक आँखों देखी घटना मुझे इस समय याद हो आई है। एक दिन शाम को बाहर से आकर मैंने देखा कि दरवाज़े पर लैण्डो खड़ी है। समझ गया, मामी नुमायश देखने जा रही हैं। ऊपर पहुँचा तो क्या देखा कि एक कोच पर दस-एक साड़ियाँ

बराबर-बराबर रखी हैं और उनके सामने खड़ी हुई मामी उनकी तरफ ध्यान से देख रही हैं। पहले सोचा, जो बात हमेशा अन-जाने ही तय हो जाया करती थी, आज उसी के लिए इतनी उधेड़-बुन क्यों? और फिर पूछ उठा—"आज ऐसी क्या ख़ास बात है, मामी?"

मामी—"कल मैं कुँवर साहब के यहाँ सगाई में गई थी, मालूम है न? वहीं यह तय हो गया कि आज नुमाइश देखने चला जाय और अपनी अच्छी से अच्छी साड़ी में।"

मैं—"अच्छी से मतलब क्या कीमती का है?"

मामी—कीमत, डिज़ाइन, रंग सभी कुछ आ गया। ये बातें कहने की नहीं हुआ करतीं। कल साड़ी का किसी ने नाम तक नहीं लिया था; लेकिन किसी-न-किसी प्रकार वहाँ के वायुमंडल में यह चैलेंज गूँज गया, और सबने इसे स्वीकार कर लिया।"

मैं—"सब के स्वीकार करने से क्या मतलब? चैलेंज तो एक को ही असल में दिया गया होगा"।

मामी मुस्कराकर साड़ियों को पलटने लगीं, और मैं नीचे चला आया।

३

नुमाइश पहुँच कर दूर एक कोने में खड़े होकर देखा, एक मनिहार की दूकान के सामने दिवाली-सी जगमगा रही है। संख्या में वे आठ-दस के करीब होंगी। सबकी आँखों में नुमाइश

का चाव था, चेहरों पर एक मधुर उद्दीप्ति। एक के बाद दूसरी दूकान को ठहर-ठहर कर पार करती हुई वे एक दूसरे से ऐसी सरलता से हँस-बोल रही थीं, जैसे सब एक ही क्यारी के तरह-तरह के फूल हों। आपस में मिलने के इस दुर्लभ संयोग पर सब प्रसन्न दिखाई देती थीं। घर-द्वार की चिन्ताएँ मानों पीछे छूट गई थीं, और संसार का कोई भी विकार उनके हृदय को छू तक नहीं गया था। कौन कहता है कि उन्हें भी कोई उलझन सता रही है, या उनकी वह हँसी ज़हर के झागों की तरह उमड़ उमड़ कर बाहर नहीं आ रही है। बचकर निकली हुई कोई नज़र, होठों की कोई वक्ररेखा, कभी कभी इस बात का पता भले ही दे देती हो, पर वह भी सिर्फ उन्हीं को। मेरा विश्वास है, घर से दर्पण को साक्षी करके उनमें से हर एक अपना अनिन्द्य रूप लेकर चली थी, जो यहाँ प्रकाश की तरह फैलकर फीका हो गया। हर एक को मानो एक दूसरे की नज़र चाट गई। उन सबको मालूम हो गया कि कहीं कोई त्रुटि रह गई है; जो इस जीवन में पूर्ण नहीं होगी। और जब नुमाइश ख़तम कर चलने का वक्त आया, तब तो उनकी साड़ियों की चमक भी कच्चे रंगों की तरह उड़ गई। इस सब में आदि से अन्त तक जो कुछ एक जैसा बना रहा, वह थी मामी की खद्दर की एक मामूली साड़ी और उसमें ढका हुआ उनका सौन्दर्य। मुझे नहीं मालूम, ऐसी सादगी से ऐसी पेचीदा लड़ाई अब तक किसी ने जीती हो।

४

मामी के बारे में अब तक मैंने जो कुछ कहा है, वह ज़रा भी बढ़ा कर नहीं कहा,—उसमें कुछ छूट भले ही गया हो। और जब इतना कहा है, तो उस लंका-कांड को भी क्यों न कह दूँ, जिसके बिना यह रामायण पूरी न होगी। दस बारह वर्ष और बाद की बात कह रहा हूँ यह। मामी उस वक्त तीस के आस पास थीं। उनके एक लड़का था, दो लड़कियाँ। दिन आए और वर्ष बनकर बीत गये। बीसों स्त्रियों पर उनके सामने यौवन आया और ढल गया, रूप आया और देखते देखते उतर गया। मामी भी बदल गईं, लेकिन प्रत्येक परिवर्तन अवस्था के अनुसार उनमें एक नई मोहिनी पैदा कर गया। इस बीच में कितने गुट उनके ख़िलाफ़ बन-बन कर टूटे, टूट-टूट कर बने; किस प्रकार ईर्ष्या और असूया की आग धधक धधक कर अपने मकानों को ही ख़ाक कर गई, इसकी कहानी लम्बी है। इन आँखों ने सब कुछ देखा है—यौवन की आग में तपकर कुन्दन की तरह तमतमाते हुए मामी को देखा है। रूप के जल में ठंढा होकर निखरते हुए उन्हें देखा है और देखा है कि तीस वर्ष की अवस्था में भी वह अपनी दुनिया की एकछत्र रानी बनी बैठी हैं। परंतु जिसने यह सब कुछ देखा है, उसे एक दिन यह भी देखना बदा था कि वह निर्जीव की तरह पलंग पर पड़ी हुई हैं और उनकी तरफ़ आँखें उठा कर भी नहीं देखा जाता।

उन्हें देखते डर लगता था। चेचक के बड़े बड़े फफोले

उनके रूप को पी-पीकर जोंक की तरह फूल रहे थे। उनकी आँखें बन्द थीं। गले से बोल नहीं निकलता था। देखते ही मेरे आँसू फूट निकले। मैंने कहा—"हे ईश्वर, या तो मुझे ही उठा लो या मामी को ही।"

मैं कैसे मरता? ऐसे तो आज तक कोई नहीं मरा। और मामी······जब तक सांस है, तब तक आस भले ही टूट जाय, पर मोह नहीं छूटता। सब कुछ भुलाकर दिन-रात उनकी सेवा में मैंने एक कर दिया। जो रूप कभी आँखों में समाता नहीं था, उसी की लाश को हाथों की इन अँगुलियों से मैंने झाड़ झाड़ कर फेंक दिया। कल-की-सी याद है जिस दिन मामी ने अपनी घायल पलक उठाकर मेरी ओर देखा था, उस समय बहुत कोशिश करने पर भी मैं अपने आँसुओं को न रोक सका। जी में आता था, मामी की चारपाई से सिर पटक कर प्राण देदूँ।

मामा रोते थे अपनी स्त्री के लिये, भुवन—उनका चौदह वर्ष का लड़का—रोता था अपनी माँ के लिए—माँ के प्यार के लिए। इन दोनों के लिए मामी जैसी भी उठ पड़तीं उसी से वे निहाल हो जाते। लेकिन मैं...? मैं अपने आप से पूछता तेरा आधार इतना भंगुर क्यों हैं? क्या तेरा सम्बन्ध ऐसा ही निर्लिप्त नहीं हो सकता? ठीक है। पर दो दिन पहले की मामी को मैं कैसे भुला देता! कैसे तोड़ देता मस्तिष्क के उन तन्तुओं को, जो उनकी स्मृति से टकरा कर एक दम चीख उठते थे।

दस पाँच स्त्रियाँ रोज उन्हें देखने आती थीं। दो चार घोड़ा-

गाड़ियाँ दरवाजे पर खड़ी ही दिखाई देती थीं। बड़े आदमियों का यह भी एक प्रोग्राम था, जो कि उसी तरह पूरा किया जाता था, जैसे शादी और ज्योनार का। बहुत अच्छी पोशाक में वे आती थीं, मानो उनके साधारण रहन-सहन का स्टैन्डर्ड ही इतना ऊँचा हो। उनकी समवेदना का अभिनय भी बहुत ही ठोस और कलापूर्ण होता था। पुरानी चाल की औरतों की तरह वे आँसू नहीं बहाती थीं और न फैशन की नई पुतलियों की तरह उपेक्षा के भावों को ही बाहर निकलने देती थीं। मामी के पलंग के पास कुर्सी खींच कर जब वे उनकी दयनीय दशा को निर्वाक और निस्पन्द होकर देखतीं, तो उनकी आखों में से संज्ञा को जैसे कोई छीन लेता था। असीम दुख, बर्फ की पर्त्त की तरह जमकर उनमें बैठ जाता था।

बड़े घरों को इन बातों में कमाल हासिल होता है, यह तो मैं उस वक्त भी जानता था; लेकिन अब समझ रहा हूँ कि शिष्टाचार के अभिनय की उस सफलता को प्राणदान कहाँ से मिलता था, आत्मसन्तोष का वह ठोस भाव मामी की असहाय दशा से ही पैदा होता था। बहुत दिनों के बाद उनके लिये आज मैदान खाली हुआ था। उनमें से बहुतेरी तो वर्षों से पले हुए ईर्ष्या और डाह को समवेदना की गहरी आहों के साथ ही हृदय में से बाहर निकाल कर वहीं की वहीं हलकी हो लेती थीं।

× × × ×

मामी अच्छी हो गईं। उनका कंकाल पलंग से उतर कर घर

में घूमने लगा। वह बदल गई थीं, इसलिये उन्होंने अपने चारों तरफ की दुनियाँ भी धीरे धीरे बदल डाली। उनके कमरे में घुसते ही सामने आलमारी में एक आदमक़द शीशा जड़ा हुआ था। अब वह नदारद था। उसकी जगह पर काठ का एक सादा किवाड़ लगा दिया गया था। इस आलमारी में उनकी शृंगार-सामग्री रखी रहती थी, अब वहाँ भुवन की किताबें तरतीब से लगी हुई थीं। कमरे की दीवारों पर एक भी तसवीर नहीं थी। एक बौद्ध क्षपणक की भाँति कमरा उस घर में मूक, निस्तब्ध खड़ा होकर तपस्या-सी कर रहा था। विरूप नहीं, विकार-हीन।

मामी से दो बातें कीं, तो मालूम हुआ कि वह अब कहीं नहीं आती जाती हैं। जो कुछ होगया उसका उन्हें अफसोस जरूर था; पर मलाल रत्तीभर नहीं। घर के काम-काज में वह अब अधिक व्यस्त रहती थीं। नौकर चाकर सब जहाँ के तहाँ बने थे, पर उनका भार अब बहुत हलका हो गया था। गृहस्थी की सारी ज़िम्मेवारियाँ मामी ने अपने ही सिर पर ले ली थीं।

लेकिन चैन तो तब मिले, जब दुनियाँ लेनेदे। थोड़े दिन बाद शहर के स्पेशल मैजिस्ट्रेट दयाल बाबू के लड़के का विवाह बड़ी धूम धाम के साथ आ पहुँचा। मामा जी के वह पुराने और अनन्य मित्र थे, इसलिए मामी के शामिल होने के लिये तक़ाज़ा भी बड़ा ज़बर्दस्त था। शुरुआत के कुछ दिन तो मामी ने स्वास्थ्य की दुहाई देकर निकाल दिये, पर ज्योनार के दिन उनकी एक न सुनी गई। उस दिन दयाल बाबू की स्त्री खुद आईं और उन्हें अपने साथ ले गईं।

मैं वहाँ पहले ही से मौजूद था। मामा जी ने अपनी मुस्तैदी का परिचय देने के लिए मुझे वहाँ पहले ही से हाथ बटाने के लिए भेज दिया था। इन्तज़ाम वहाँ क्या मैं ख़ाक करता, जहाँ सब कुछ पहले ही से ज़रूरत से ज़्यादा सुव्यवस्थित था। पर दयाल बाबू ने फिर भी मुझे जनाने महकमे का निरीक्षक बना दिया और बरायनाम उसकी सारी ज़िम्मेवारी मुझे सौंप दी।

मुझे स्वप्न में भी यह आशा न थी कि मामी यहाँ आयँगी। पहले पहल जब मैंने उन्हें देखा, तो मैं पसीना-पसीना हो गया। दूर एक कोने में वह बैठी थीं, शायद इस ग़रज से कि कम से कम औरतों को उनका पता लग सके, लेकिन उनके आने के थोड़ी देर बाद ही एक ख़ासी भीड़ उनके चारों तरफ़ जमा हो गई। बातें करने के लिए एक नया विषय उस समाज के हाथ लगा, और एक कोने से दूसरे कोने तक मामी के सम्बन्ध की तरह तरह की बातें आ-आकर मेरे कानों में टकराने लगीं।

झुँझला कर मैंने चारों तरफ देखा, जैसे अब तक कुछ देखा ही न था। रूप, आभूषण और नख़रों का बाज़ार वहाँ खुला पड़ा था। जिसके पास रूप था, वह आभूषणों की कमी द्वारा उसे प्रकाश में लाना चाहती थी; जिसके पास आभूषण थे, वह रूप के साथ उन्हें तोल-तोल कर दिखला रही थी, और जिनके पास इन दोनों में से कुछ भी न था, उनके नख़रे लाजवाब थे। मगर इनमें से दर्द प्रायः सबके सिर में हो रहा था। बहुतेरी इनमें बारहो महीने अस्वस्थ रहती थीं। उन्हें कोई ख़ास शिकायत नहीं

थी। एक असाधारण सुकुमारता से यह हमेशा परेशान रहती थीं।

मैं खड़ा-खड़ा देख रहा था, मामी कैसे विश्रब्ध रूप में बैठी हैं, किस प्रकार निःशंक भाव से बात चीत कर रही हैं, मानो उनके जीवन का वह युगान्तकारी परिवर्तन उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सका हो। लेकिन ऐसा करने में अपनी दुर्बल आत्मा को उन्हें कितना कसना पड़ा होगा; यह किसे मालूम। वही स्त्रियाँ थीं, वही जगह, वही परिचित दुनियाँ जिसे कभी वह मछली की तरह चीरती चली जाती थीं। आज उसी में पैर जमाना कितना कठिन हो गया था। उनकी आखों की उस आहार्य प्रसन्नता के पीछे से न जाने कितने आवेग फूट पड़ना चाहते थे, स्वर का उस समय का हलकापन हृदय पर के कितने जबर्दस्त बोझ के नीचे से निकलकर बाहर आ रहा था। मैंने कहा, मामी, इस तरह तुम कब तक रह सकोगी! क्यों तुम अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित इस विरोधी दल में इस तरह निहत्थी आकर खड़ी हो गई? ऐसा न हो मामी, आत्म-नियन्त्रण के किसी कड़े झटके से तुम्हारे शरीर के सब स्नायु-तन्तु तुम्हारी मुट्ठी में से निकल कर फैल जायँ।

वही हुआ।

पहले इधर उधर की बातें होती रहीं—शहर की, व्याह-शादी की, मेले तमाशों की; लेकिन धीरे धीरे सिलसिला वहाँ आकर उतर आया, जो मामी के लिये एक बहुत ही नाज़ुक प्वाइन्ट था। शिष्टता का थोड़ा बहुत ख़याल तो सबको था। सब जानती थीं,

इस मर्म को स्पर्श करना निर्दयता होगी ; लेकिन इतने जबर्दस्त प्रतिबन्ध के नीचे भी कुतूहल कब तक दबा पड़ा रह सकता था? स्त्रियाँ शिष्ट हो सकती हैं, क्षमा कर सकती हैं और दया भी दिखला सकती हैं—पर स्त्रीत्व को साथ लेकर ही। अनादि युग से जिन भावनाओं और संस्कारों ने उनकी रग-रग में रमकर इस तत्त्व की सृष्टि की है, उन्हें वे कहाँ रख आतीं ?

एक अधेड़ उम्र की स्त्री ने उस सारे समाज का ध्यान अपनी ओर केन्द्रित करते हुए कहा—"ऐसा मालूम होता है मानो बरसों में निकली हो। कितने दिन बीमार रहीं बहू ?"

मामी की निगाह एक बार सामने की ओर उठी और फिर पलकों में जा छिपी। धीमे-से स्वर में जवाब दिया—"लगभग डेढ़ महीने।"

कुछ स्त्रियों की छाती में से एक गहरी साँस उठी और धीरे से उतर कर वहाँ फैल गई। किसी ने पीछे से कहा—"कैसा गुलाब-सा रूप था, देखते आँखों की भूख भागती थी, ईश्वर ने न जाने कब का बदला निकालने के लिए रख छोड़ा था।"

मामी के मुख के गहरे गढ्ढों में पसीने की बूंदें झलकने लगीं। उन्हें इतनी हिम्मत नहीं हुई कि प्रतारणा के इन कड़े आघातों से बच कर एक बार रूमाल से उन्हें पोछ लें। सिर नीचा किये वह चुप चाप बैठी रहीं।

इसके बाद शुरू होगई उनके रूप की तारीफ़, जैसे मरने के बाद दुश्मन की होती है। याद नहीं किसने क्या कहा। मैं तो

वहाँ से जान बूझकर हट गया था। थोड़ी देर में जब उस स्थल पर फिर पहुँचा, तो पीछे की तरफ़ से एक बुढ़िया ज़ोर-ज़ोर से कह रही थी—"सच बात तो यह है कि स्त्रियों की है बड़ी फ़ज़ीहत। दुनियाँ उनका मोल करती है तोल देखकर। इसीलिये रूप और यौवन का नाज़ तो सब उठाते हैं; पर उनके बुरे दिनों का कोई भी साथी नहीं होता। वे लोग भी नहीं होते जिन्हें हम अपना समझती हैं।"

तीर को लक्ष्य तक पहुँचने में देर लगती है; लेकिन इस व्यंग को मामी के हृदय तक पहुँचने में ज़रा भी देर न लगी। वह सिहर उठीं जैसे किसी ने भरपूर चुटकी भर ली हो। वह उठना ही चाहती थीं कि उनसे सटकर बैठी हुई एक नवोढ़ा ने पूछा—"जीजी, पहले दिनों का कोई फ़ोटो भी तुम्हारे पास है?"

'फोटो!' दाँत पीसकर मैंने मन ही मन दुहराया। निर्जीव फोटो क्या झरने की बूदों की तरह उमड़ते हुए उस रूप के प्रति न्याय कर सकता था? ओफ! आज जाना, दुनिया का प्रवाह कितने निम्न तल पर बहा करता है।

ऐसा मालूम हुआ, जैसे मामी उठना चाहती हैं। अपनी चादर उन्होंने सम्भाली और सामने के जमघट पर, उत्सव की उस चहल पहल पर, एक शून्य दृष्टि डालकर तत्क्षण उसे समेट लिया। मालूम होता था, उन आँखों में एक यान्त्रिक चेतना के सिवा और कुछ नहीं था। विषाद, ग्लानि, क्षोभ जैसे विकार उसमें एक बार उतर कर ऊपर उठ नहीं सकते थे, ऐसी गहराई थी उस शून्यता में।

वह उठ दीं, घोर अपमान और लांछना की गठरी-सी बाँध कर। जिसके रूप के प्रकाश में स्त्रियों का वह क्षुद्र समाज दीपक की भाँति लाल होकर टिमटिमाने लगता था, वही मामी आज परास्त होकर जारही थीं। वह अपने सब पैंतरे भूल गई थीं। वार करना तो दूर, वार बचाना तक भूल गई थीं।

दस पाँच सेकंड तक वह जहाँ की तहाँ खड़ी रहीं, मानो इस प्रतीक्षा में कि अगर ज़मीन फट जाय, तो उसमें धँस जायँ; लेकिन ऐसा नहीं हुआ। पीठ मोड़कर जाने के लिए वह घूम लेना ही चाहती थीं कि किसी ने बगल में से उनका हाथ पकड़ कर पुकारा—"अम्मा, चलो, गाड़ी आ गई है।"

मामी ने ज़रा तिरछे होकर देखा, तो वहाँ भुवन खड़ा था। उसे देखते ही उनका सारा विषाद, सारी संचित आत्म-ग्लानि न जाने किधर उड़ गई। ख़तम होकर बुझती हुई दिए की बत्ती जिस प्रकार पास की एक दूसरी बत्ती को पाकर एकाएक जल उठती है, इसी प्रकार उनका मुह खिल उठा और उसमें से निकल पड़ा—"अरे भुवन, तुम यहाँ कब आगये ?

भुवन को मैंने सौ-पचास दफ़ा भी नहीं देखा है क्या, लेकिन उन आखों से नहीं जो इस समय अचानक खुल गई थीं। मामी से बिल्कुल सट कर खड़ा हुआ वह उनके कन्धे तक लगता था। गोरा, भरा हुआ बदन था, जिसके रोम-रोम से मामी की झाँई मार रही थी। माथे पर के सुनहले बाल माँग को लाँघ कर सामने गुच्छा बनकर लहरा रहे थे। जल जैसे निर्मल कपोलों

में, संकोच और लज्जा वश, कभी एक भँवर-सी पड़ जाती थी; कभी संध्या के बादलों की-सी लाल आभा परछाहीं की तरह दौड़ती हुई निकल जाती थी। आज से बीस इक्कीस वर्ष पहले मामी को भी इसी तरह पहले-पहल देखा था। यही बड़ी-बड़ी तरल गम्भीर आँखें थीं; यही सरलता, ऐसा ही प्रबल आकर्षण, जो देखने वालों की आँखों को मानो पकड़ कर बैठ जाता था।

बड़ी देर तक मामी अपलक नेत्रों से भुवन की तरफ़ देखती रहीं, जैसे कभी दर्पण के सामने खड़े होकर अपने को देखा करती थीं, और फिर बोलीं--"तुमने किसी से नमस्ते नहीं किया, भुवन! वह देखो, तुम्हारी बुआ बैठी हैं, वह रहीं चाची।"

भुवन ने दोनों हाथ जोड़कर अपने शर्मीले पलक उठाए और फिर गिरा लिए। सारी स्त्रियाँ मन्त्र-मुग्ध की तरह उसे देख रही थीं, जैसे उनकी कोई भयानक भूल मूर्त्तिमान् होकर उनके सामने आकर खड़ी हो गई हो।

किसी ने पूछा--"कितने वर्ष का है यह?"

मामी ने कहा--"चौदह का।"

"पढ़ता है न"

"हाँ, आठवीं में पढ़ता है।"

फिर सन्नाटा छा गया। उसे तोड़ते हुए मामी ने कहा--"आप सब आशीर्वाद दीजिए, यह पढ़ लिख कर सुपात्र बने।"

किसी बुढ़िया ने इसके उत्तर में धीमें से कहा--"ईश्वर करे, इसकी हजार वर्ष की आयु हो।"

रूप

सुघर अङ्गों के सुषम संस्थान को सौन्दर्य कहते हैं, और उसीके आँखों से पी जाने लायक 'पानिप' को रूप। रूप का परम विकास इसीमें है कि उसके आरम्भक उपादान अपनी अपनी विभक्त रुचिरता रखते हुए भी समष्टि-सौष्ठव की दीप्ति में इस प्रकार छिप जायँ कि पृथक् पृथक् दृष्टि को न अटका सकें। प्रवाह है बिन्दुओं का समुदाय ही पर प्रवाह की मोहक एकात्मता अपने किसी बिन्दु पर दृष्टि को नहीं जमने देती।

'रूप' के लेखक को इस तत्त्व का यथार्थ ज्ञान है। पहले ही प्रघट्टक में उसने इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या की है।

एक तो मानव स्वभावतः मानवीय रूप की ओर आकृष्ट होता है, दूसरे मामी-भानजे का नाता पवित्र होकर भी सरस होता है। अतः 'मैं' के उमङ्ग और कौतूहल ने विस्मय और आनन्द के साथ मामी के रूप और उसके प्रभाव का जो तन्मयता से अध्ययन और वर्णन किया है वह कलाकार की 'संविधानक'-सृष्टि का उत्कृष्ट नमूना है।

संपत्ति गर्व और ईर्ष्या का विषय होती है। रूप की संपत्ति एक बड़ी संपत्ति है। फिर भी ऐसे रूप की संपत्ति का क्या कहना, जिसके विषय में पारखी कवियों की—

> क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।
> किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

A thing of beauty is a joy forever

—ये उक्तियाँ सवा सोलह आने चरितार्थ हो रही हों। इस कहानी में लेखक ने मानो स्थान स्थान पर इन उक्तियों के नगीने जड़ दिये हैं। ऐसे रूप पर गर्व या ईर्ष्या न होना अस्वाभाविक है।

लेखक ने अपनी कहानी के लिए रूप को अध्ययन का विषय माना है, उपभोग का नहीं। उपभोग में वासना की तृप्ति का प्राधान्य होता है, उपभोग्य वस्तु का प्राधान्य नहीं। पर अध्ययन अध्येतव्य विषय के रोम रोम का परिज्ञान चाहता है। ऐसा परिज्ञान विषय की रमणीयता के साथ साथ अध्येता के संयम और अनासक्ति पर बहुत कुछ अवलम्बित रहता है। इस प्रकार रूप के अध्ययन में रूप की कोई लटक, कोई छाया, न छूटनी चाहिए। 'रूप' के विदग्ध कर्त्ता ने मेरे जान कुछ नहीं छोड़ा है। उसकी स्त्रीस्वभाव की अभिज्ञता और प्रासङ्गिक शब्दों से उसकी व्यञ्जना दोनों ही बारीक हैं।

कहानी का अन्त अद्भुत है। पूर्व संभावना से बिलकुल विलक्षण और पुनीत परिणति के कारण बिलकुल उदात्त। रमणी का संचित रूप अस्थिर और परिणाम-विरस हो सकता है पर जननी का अर्पित रूप स्थिर है, शाश्वत है। इसीलिए सदा आनन्ददायक है।

उपचारलाञ्छित शृङ्गार का ऐसे सरल ढंग से वात्सल्य बन जाना असाधारण घटना है। लेखक की इस कला का हम मान करते हैं।

भाषा भाव के इशारे पर चली है। उसमें 'आहार्य' भी है, और Point Shade भी चित्रकला के कुछ अपने शब्दों की लक्षणा बड़ी ही मार्मिक हुई है। रूप की ऐसी मधुर कहानी कभी नहीं सुनी गई।

श्री सुनीति कुमार चाटुर्ज्या

/३. १३

हिन्दी की उत्पत्ति

हिन्दी भारतवर्ष की राष्ट्र भाषा है, यह तो एक स्वतः सिद्ध बात है। हर काम में, अपने प्रति दिन के जीवन में हम ऐसा ही देखते हैं। हिमालय के तुषारमंडित गिरिराजस्थित सरल, पील्ू और चीर-वृक्ष की अरण्यावली से दक्षिण-समुद्र के पास कन्या-कुमारी और सेतुबंध-रामेश्वर के नारिकेल-कुञ्जों तक, आसाम और वर्मा के अतिवृष्टिसिक्त 'सेगुन' वन और हरिद्वर्ण धान्य क्षेत्रों से अफगानिस्तान और बलूचिस्तान के दुर्गम वारिहीन मरु पर्वत तक, उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम आसमुद्र हिमा-चल समग्र भारतवर्ष की तमाम देशी भाषाओं में एक हिंदी ही भारतीय जाति की विभिन्न शाखाओं के मनुष्यों में एक दृढ़ और उपयोगी मिलन श्रृंखला बनी है। यदि इसका कारण पूछा जाय,

तो एक ही बात में हम इसका उत्तर दे सकते हैं। भारतीय सभ्यता का उत्पत्तिस्थान तथा केन्द्र गंगा और यमुना का तीरवर्ती देश आर्यावर्त्त ही है। आर्यावर्त के श्रेष्ठ अंश मध्यदेश की भाषा हिंदी है। हिंदी के प्रसार का पहला मुख्य कारण यही है कि हिंदी भारत के हृदय देश की भाषा है। दूसरा कारण है हिंदी भाषियों की उद्यमशीलता। हिंदी जितने लोगों की स्वाभाविक मातृभाषा या घरेलू भाषा है, उससे दूने चौगुने लोगों की शिक्षा, साहित्य और सामाजिक जीवन की भाषा बनी है। सहज जन्मगत अधिकार से पूर्व पंजाब, मध्यभारत और पछाँह के जो लोग हिंदी बोलते हैं—चाहे यह हिंदी अपने विशुद्ध भारतीय रूप में हो, चाहे अपने मिश्रित मुसलमानी रूप उर्दू में, और पंजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश और विहार प्रान्त के जो लोग साहित्यिक और सामाजिक भाषा के रूप में हिंदी को स्वीकार कर उसे सब कामों में व्यवहार करते हैं, इन दोनों प्रकार के मनुष्य अपनी अपनी जीविका की फिक्र में समग्र भारतवर्ष में फैले हुए हैं, और दूसरे प्रान्तों के सामाजिक तथा आध्यात्मिक जीवन को आर्यावर्त के प्रभाव से इतना प्रभावान्वित कर रहे हैं कि साथ साथ आर्यावर्त की भाषा बिना प्रयत्न किये हुए भी सुप्रतिष्ठित हो गई है। हिंदी को यह उच्च स्थान स्वाभाविक कारणों से प्राप्त हुआ है, इसलिए जब तक आर्यावर्त भारत की संस्कृति का मूल स्थान रहेगा, तब तक हिंदी का यह आसन नहीं मिटने का।

ऐतिहासिक और भाषातत्त्व की भी दृष्टि से अगर देख जाय,

तो हिंदी की व्यापकता और भारत की राष्ट्रभाषा होने के लिए एक हिंदी ही की योग्यता सब लोगों को माननी पड़ेगी।

अन्ध-तिमिराच्छादित प्राग् ऐतिहासिक युग के अवसान के साथ जिस समय वैदिक युग के अरुणिमा-मंडित ज्योतिर्मय उषः-काल में भारतीय संस्कृति के सूर्य का उदय हुआ, उस समय हमारी हिंदी, बंगला आदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की आदि जननी वैदिक भाषा भारत में श्रेष्ठ भाषा थी। भारतीय अनार्य लोगों की अपनी अपनी पृथक् बोलियाँ थीं, पर वैदिक भाषा के सामने इनमें से किसी को कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं मिली। वैदि-कोत्तर अर्थात् संहितोत्तर काल में ब्राह्मण ग्रंथों का युग आया। पंजाब और मध्यदेश के दक्षिण और पूर्व में आर्यभाषा का फैलाव हुआ। स्वाभाविक परिवर्तन-धर्म के अनुसार, तथा हजारों और लाखों अनार्य भाषियों के आर्य-भाषा को ग्रहण करने के कारण वैदिक तथा ब्राह्मण युग की आर्य भाषा भी विशुद्ध नहीं रही, प्राकृतों का उद्भव होने लगा भगवान् बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व ही आदिम या प्राचीन आर्यभाषा प्राकृत या मध्यकालीन अवस्था में पहुँच गई। इसी समय आर्यों के गुरुकुलों में लौकिक साहित्य-भाषा संस्कृत की प्रारंभिक प्रतिष्ठा हुई। पाणिनि आदि बड़े बड़े व्याकरणकार ऋषियों ने इसका व्याकरण लिखकर इसे चिरकाल के लिए परिमार्जित किया। प्राकृतों के उद्भव होने के समय से ही, लौकिक संस्कृत प्राचीन भारत के जनगण की—विशेषतः ब्राह्मण शासित समाज की—भाषा हुई। मुहाविरे में विभिन्न-

प्रान्तों की आदि आर्य भाषाओं की प्रगति पृथक् पृथक् रीति से होने लगी। इसी से पृथक् पृथक् प्रान्तीय प्राकृतों की उत्पत्ति हुई। जिस संस्कृत भाषा को सारे हिन्दू संसार ने अपनी धार्मिक और संस्कृति संबंधी भाषा मान लिया उसका आधार उदीच्य अर्थात् पंजाब और मध्यदेश की लौकिक बोली ही थी। भगवान् बुद्धदेव के पहले, ब्राह्मण ग्रन्थों के युग में, ब्राह्मण सभ्यता का केन्द्र मध्यदेश अर्थात् कुरुपंचाल देश और उदीच्य अर्थात् मद्र, केकय, गंधार आदि देश थे। उन प्रान्तों में तथा अंतर्वेद की ब्राह्मणादि शिष्ट जातियों में व्यवहृत भाषा यह संस्कृत थी। अस्तु, संस्कृत आर्य्य सभ्यता का वाहन या माध्यम स्वरूप होकर इस सभ्यता के साथ तमाम भारतवर्ष में फैली, और भारतवर्ष के बाहर बृहत्तर भारत में—बर्मा, श्याम, कम्बोज, चंपा, मलय द्वीप, यवद्वीप, बलिद्वीप आदि में भी—इसका प्रसार पहुँचा। भारतवर्ष के इतिहास के प्रारम्भ में आर्यावर्त—मध्यप्रदेश अर्थात् हिन्दुस्तान के पछाँह की बोली संस्कृत के रूप में सारे भारतवर्ष में गृहीत हो गई। जहाँ तक पता चलता है, संस्कृत का मौखिक रूप सिर्फ पंजाब और अंतर्वेद में ही प्रचलित था।

कुछ दिनों बाद अन्यान्य प्रान्तों में जब आर्य भाषा फैली, तब इसकी अवस्था बदल गई थी। संस्कृत प्राकृत हो गई थी।

सारे उत्तर भारत में जिस समय प्राकृत या प्रादेशिक बोलियाँ प्रचलित हुईं, तब प्रान्तीय प्राकृतों में अन्तर्वेद विशेषतया ब्रह्मर्षि देश या कुरुपंचाल की प्राकृत शौरसेनी सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी।

संस्कृत नाटकों में श्रेष्ठ सद्वंशज पात्र बात करने में इस शौरसेनी ही का प्रयोग करते थे। इससे यह साबित होता है कि प्राकृत युग में शौरसेनी का स्थान क्या था। गाने में महाराष्ट्रीय प्राकृत का प्रयोग था, यह ठीक है; इसका कारण इतना ही मालूम होता है कि महाराष्ट्रीय प्राकृत में स्वर बहुत होने से वह शौरसेनी से श्रुति-मधुर मानी जाती थी; और गाने में इसीलिए शायद लोग इसे ज्यादा पसंद करते थे।

महाराज अशोक के लेख में मुख्यत: तीन प्रकार की प्राकृत मिली है—उदीच्य, लाट-देशीय और प्राच्य। परंतु मध्य देशीय प्राकृत नहीं मिली—मध्य देश में टोपरा और मेरठ के दो खंभों पर जो लेख हैं, उनमें पूरब की बोली ही व्यवहार की गई है। महाराज अशोक पूरब के रहने वाले थे, शायद इसी से उनकी प्रान्तिक बोली मध्यदेश में भी प्रयुक्त हुई। भारत के इतिहास में सिर्फ एक ही बार पूरब की बोली ने पछाँह पर चढ़ाई की।

परंतु महाराज अशोक के समय में एक नई साहित्यिक भाषा भारत से सिंहल में फैली—यह पालि भाषा है। पहले पंडित लोग सोचते थे कि पालि की जड़ पूरब में—मगध में—थी, क्योंकि इसका एक और नाम है 'मागधी'। अब पालि के संबंध में पंडितों की राय बदल रही है। अब विचार है कि पालि पूरब की नहीं, बल्कि पछाँह की—मध्यदेश की ही बोली थी—शौरसेनी प्राकृत का एक प्राचीन रूप भेद थी। बुद्धदेव के उपदेश पूरब की बोली प्राच्य प्राकृत में, जो कोसल, काशी और मगध में प्रचलित

थी, उसी में प्रकट हुए। फिर इस प्राच्य प्राकृत से और दूसरी प्राकृतों में अनुवादित किये गए। मथुरा और उज्जैन की भाषा में जो अनुवाद हुआ, उसका नाम दिया गया 'पालि'। सिंहल में जब इस अनुवाद का प्रचार हुआ, तब वहाँ के लोग भूल से इसे 'मागधी' के नाम से पुकारने लगे, क्योंकि पालि बुद्ध वचन थी, और भगवान् बुद्ध ने मगध में अपने जीवन का बहुत अंश बिताया था, इससे बुद्ध वचन या पालि से मगध का संबंध सोचकर 'मागधी' नाम रखा गया। सिंहल से ब्रह्मदेश, श्याम और कम्बोज में यह पालि भाषा फैली। इस प्रकार दो हजार वर्ष के पहले मध्यदेश की भाषा—जिसे हम हिंदी का एक प्राचीन रूप कह सकते हैं--बहिर्भारत के बौद्धों की धार्मिक भाषा बनी। यह बात इस युग के पहले की है। ईसवी सदी के प्रारम्भ से संस्कृत के बाद उत्तर में शौरसेनी भद्र समाज में बोली जाती थी। इसका प्रभाव दूसरी प्राकृत बोलियों पर भी पड़ा। भाषा तत्व के विचार से ग्रियर्सन आदि पंडितों ने राजस्थान, गुजरात, पंजाब और अवध की प्राकृत बोलियों पर शौरसेनी का विशेष प्रभाव स्वीकार किया है। राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी और अवधी के विकास में शौरसेनी ने बहुत काम किया। सिर्फ प्रान्तिक प्राकृतों से इन बोलियों की उत्पत्ति नहीं हुई, ऐसा विचार होता है।

ईस्वी प्रथम सहस्र वर्षों के बीच में प्राचीन भारतवर्ष में एक नवीन राष्ट्रभाषा या साहित्यिक भाषा का उद्भव हुआ। यह अपभ्रंश भाषा थी, जो शौरसेनी प्राकृत का एक रूप थी।

अपभ्रंश भाषा—यह शौरसेनी अपभ्रंश—पंजाब से बंगाल तक और नेपाल से महाराष्ट्र तक साधारण शिष्ट भाषा और साहित्यिक भाषा बनी। लगभग ईस्वी सन् ८०० से १३ या १४ सौ तक शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचार काल था। गुजरात और राजपुताने के जैनों के द्वारा इसमें एक बड़ा साहित्य बना। बंगाल के प्राचीन बौद्ध सिद्धाचार्य गण इसमें पद रचते थे, जो अंत में भोट भाषा (तिब्बती) में उलथा किये गये। इसके अलावा भारत में इस अपभ्रंश में एक विराट् लोक-साहित्य बना, जिसके टूटे फूटे पद और गीत आदि हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण और प्राकृत पिंगल नामक छन्द-ग्रंथ में पाए जाते हैं। शौरसेनी अपभ्रंश की प्रतिष्ठा के कई कारण थे। ईस्वी प्रथम सहस्रक की अंतिम सदियों के राजपूत राजाओं की सभा में यह भाषा बोली जाती थी, क्योंकि यह भाषा उसी समय मध्यदेश और उससे संलग्न प्रान्तों में—आधुनिक पछाँह में—साधारणतः घरेलू भाषा के रूप में इस्तेमाल होती थी। द्वितीय कारण यह है कि इस समय गोरखपंथी आदि अनेक हिन्दू संप्रदाय के गुरु लोग जो पंजाब और हिन्दुस्तान से नवजाग्रत हिंदूधर्म की वाणी लेकर भारत के अन्य प्रदेश में गए, वे भी इसी भाषा को बोलते थे, इसमें पद आदि बनाते थे और इसी में उपदेश देते थे। उसी समय उत्तर-भारत के कनौजिया आदि ब्राह्मण बंगाल आदि प्रदेश में ब्राह्मण आचार और संस्कृति ले उपनिविष्ट हुए। इन सब कारणों से, आज से लगभग एक हजार साल आगे, जिसे हम हिंदी का पूर्व रूप कह सकते हैं,

वही शौरसेनी अपभ्रंश, ठीक उसी प्रकार जैसे आजकल हिंदी राष्ट्रभाषा बनी है, एक राष्ट्रीय, साहित्यिक तथा धार्मिक भाषा हुई थी।

संस्कृत, प्राकृत और भाषा—भारत की आर्य भाषा के क्रम-विकास में ये तीन पीढ़ियाँ हैं। संस्कृत आदि युग की धर्म, राष्ट्र तथा साहित्य की भाषा थी। यह संस्कृत भाषा पंजाब और मध्य-देश की प्राचीन बोली के आधार पर बनी। संस्कृत से प्राकृत का उद्भव हुआ, प्राकृतों में पालि भी है। पालि भाषा मगध से संबंध नहीं रखती, परंतु शूरसेन या मथुरा और उज्जैन से। यह मूलतः मध्यदेश ही की भाषा है, ऐसे सिद्धान्त पर आजकल पंडित लोग पहुँचे हैं। पालि के बाद मध्यदेश की शौरसेनी भाषा थी। प्राकृत का अंतिम रूप था अपभ्रंश। अपभ्रंश बदलती हुई हिंदी आदि भाषाओं में परिणत हो गई। जिस समय शौरसेनी अपभ्रंश परिवर्तित होकर ब्रज भाषा (हिंदी) बन रही थी, उसी समय हिन्दुस्तान में तुर्क और ईरानी मुसलमान आये। पहले पंजाब में इनका अधिकार हुआ, और पंजाब ही में करीब सौ वर्ष उन लोगों ने राज किया। पंजाब के कुछ लोग मुसलमान बने। फिर पंजाब से खास हिन्दुस्तान पर मुसलमानों की चढ़ाई हुई और उनकी फतेह हुई। मुसलमान देहली में आए, और उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया। अफगानिस्तान के तुर्की और फारसी बोलने वाले विदेशी मुसलमान तो थे ही, पर पंजाबी बोलने वाले देशी मुसलमान भी इधर ज्यादा करके आने लगे। पंजाब की बोलियाँ

का मूल शौरसेनी से कुछ अलग प्राकृत थी, परन्तु शौरसेनी का प्रभाव इनपर बहुत पड़ा। पंजाब में राज करनेवाले विदेशी मुसलमान थोड़ी वहुत पंजाबी जानते थे। देहली के आसपास कई पड़ी बोलियाँ प्रचलित थीं, और उनका पंजाबी से कुछ संयोग था हिन्दुस्तान में आकर पंजाबी पर जाटू (बांगरू) मेवाडी, व्रज भाषा प्रभृति बोलियों का असर कुछ तो अवश्य पड़ा। प्राचीन पंजाबी का आदिम रूप देहली में कुछ बदल गया। भाषा के व्याकरण में बहुत सा पंजाबीपन रह गया, परन्तु स्थानीय बोली के व्याकरण के अनुसार भी रूप आ गए। भाषा को हिंदी या हिन्दुस्तानी नाम मिला। शब्द विशेष करके व्रज आदि प्रान्तिक भाषाओं से लिये जाने लगे। इस प्रकार उदीच्य और मध्यप्रदेश अर्थात् पंजाब और हिन्दुस्तान के पश्चिमी प्रांत की भाषाएँ मिलकर एक नवीन रूप में प्रकट हुई। साधारणतः हिन्दुस्तानी मुगलों के बदौलत सारे भारत वर्ष में फैल गई। व्रज भाषा आदि प्राचीन और साहित्यिक बोलियों के साथ-साथ यह भाषा हिन्दू-साहित्य में भी व्यवहृत होने लगी। अंत में इस कलकत्ते शहर में अंगरेज पंडितों की चेष्टा से गद्य साहित्य की भाषा खड़ी बोली हिंदी ही हो गई। इस समय हिंदी की प्रतिष्ठा बढ़ती जाती है—उत्तर भारत की संस्कृतिमूलक प्रगति का एक प्रधान वाहन या साधन या माध्यम बनकर इस भाषा की जय सर्वत्र हो रही है।

ऐतिहासिक आलोचना से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उदीच्य और मध्यदेश—पंजाब और पछाँह-विशेष करके मध्यदेश में—

भारतीय आर्य-सभ्यता ने अपनी विशेषताएँ प्राप्त कीं, और इन प्रांतों की भाषा युग युग में सर्वजनगृहीत और सर्वजन-समादृत हुई। संस्कृत, पाली, शौरसेनी प्राकृत, शौरसेनी अपभ्रंश, व्रजभाषा; फिर शौरसेनी प्रभावयुक्त पंजाब की बोली, हिन्दुस्तान में आकर शौरसेनी की दुहिता स्थानीय व्रज आदि बोलियों से मिल-जुलकर हिन्दुस्तानी या हिंदी बनी। इस प्रकार हिंदी को वर्तमान मर्यादा मिली। मध्यदेश की भाषा की प्रतिष्ठा भारत के इतिहास की एक प्रधान और साधारण बात है। काल की गति से मूल आर्यभाषा ने संस्कृत, पाली, शौरसेनी अपभ्रंश इत्यादि रूप बदलते-बदलते आख़िर हिंदी का रूप ग्रहण किया।

प्राचीन काल में भारतीय-सभ्यता-विशिष्ट वस्तुएँ यानी हिंदू-सभ्यता में जो कुछ श्रेष्ठ वस्तुएँ हैं उन सबका उद्भव आर्यावर्त ही में हुआ। मध्य काल में जब मुसलमान सभ्यता आई, तब हिन्दू सभ्यता से उसका मिश्रण आर्यावर्त में हुआ। आर्यावर्त की भाषा हिंदी में अरबी, फ़ारसी, और तुर्की का शब्दभंडार इस मिश्रण का फल है। इस मिश्रण से भारतीय सभ्यता ने नवीन रूप पाया।

प्राचीन काल के धर्म राष्ट्र तथा साहित्य की भाषाओं के साथ हिंदी का संबंध विचार करने से हिंदी का इतना प्रचार स्वाभाविक ही मालूम होगा। ऐतिहासिक कारण और हिंदी भाषा की नानामुखी कर्मशक्ति के सिवा हिंदी में ऐसे कुछ गुण हैं जिनसे यह एक श्रेष्ठ भाषा कही जा सकती है। हिंदी जिनकी मातृभाषा है, जिन्होंने इस भाषा को अपनाया है, उनकी राय क्या होगी,

इसका पता हमें नहीं, पर एक महाराष्ट्रीय मित्र ने अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट की कि "हिंदी में जो गुण हैं, उनमें से एक यह है कि हिंदी 'मर्दानी जबान' है।" मैं बंगाली होकर अपने महाराष्ट्रीय मित्र की इस राय का पूरा समर्थन करता हूँ। आधुनिक हिंदी के ओज गुण के कई कारणों में इसकी संयुक्त व्यंजन बाहुल्यता एक प्रधान कारण है। 'उनका' 'देखके' 'चलता' 'हाथ में' 'मन में' इत्यादि साधारण पद में संयुक्त वर्ण से शब्दोच्चारण में ज़ोर आ जाता है--शब्द पर धक्का सा देकर संयुक्त ध्वनि इसे जाग्रत और उद्यमपूर्ण बना देती है। मेरी मातृभाषा के पदसमूह इतने ज़ोरदार नहीं होते। विशेषकर साहित्यिक बंगला में स्वर-बाहुल्य के कारण मिठास आती है, पर वैसा ज़ोर नहीं रहता, जैसे 'उहार' या 'ओर', 'देखिया' या 'देखे' 'चलिते छे' (चालू घरेलू बंगला में संयुक्त व्यंजन आ गया है—'चल् छे'), 'हाते' 'मने' इत्यादि। पुरानी हिंदी में हलंत उच्चारण बहुत ही कम होता था सब स्वर वर्ण उच्चारण किये जाते थे। इससे ओजशक्ति कुछ कम होती थी। पर स्वरवर्ण के पूर्ण उच्चारण होने के कारण एक मनोहर मधुरता से भरा हुआ गाम्भीर्य आ जाता था। विशेषतः ध्रुपद आदि गाने में तानसेन प्रमुख संगीतकारों की वाणी से इस बात का प्रमाण मिलेगा। हिंदी उच्चारण में और एक विशेष गुण है। इसमें सब ध्वनि प्रयत्न के साथ सुस्पष्ट उच्चारण की जाती है। बंगला आदि दूसरी भाषाओं में बहुधा अस्पष्ट उच्चारण की कुरीति चली है। इसीसे 'नाइहर' या 'नैहर' 'बहनोई' 'अखाड़ा'

'वनवाई', 'कन्हैया', 'रखवाल', 'मौसी', 'साँप' आदि शब्द के बंगला प्रतिरूप बन गये 'नायेर', 'बोनाइ', 'आखड़ा', 'वानी', 'कानाइ', 'राखाल', 'मासी', 'संप' इत्यादि ।

उच्चारण के अलावा हिंदी की शब्द-संपत्ति इसका एक और गुण है। प्राकृत से प्राप्त अनगिने शब्द हिंदी में विद्यमान हैं, मानो इतने प्राकृतज शब्दों का संरक्षण दूसरी किसी आर्य-भाषा में हो ही नहीं सका। देहात में सहस्रों उपयोगी प्राकृत शब्द मिल सकते हैं, जो साहित्य में लाने के लायक हैं। प्राकृतज शब्द छोड़िये, तो देखिये हिंदी संस्कृत के समग्र अभिधान की अधिकारिणी बनी है। संस्कृत शब्दों को हम सम्भाव्य हिंदी की बदौलत फारसी-अरबी-अभिधान से भी हिंदी अपना खजाना अदा कर सकती। प्राकृतज या विशुद्ध हिंदी, संस्कृत और फारसी—इन तीन प्रकार के शब्दों की मिठास या मिष्टता या शीरीनी हिंदी की शक्ति तथा गौरव बढ़ा रही है। संस्कृत फारसी के शब्द भंडार हिंदी के लिए खुले रहने से हिंदी किसी की परवाह नहीं करती। सामाजिक और गृहस्थ जीवन की सब बातें केवल प्राकृतज शब्दों से ही हिंदी में अच्छी तरह से बोली जा सकती हैं। यह सिद्धान्त 'ठेठ हिंदी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' में श्री हरिऔध जी ने प्रमाणित किया है।

हिंदी के इतने गुण होते हुए भी, इसे मातृभाषा रूप में लाभ करने का जन्म सौभाग्य जिसको नहीं मिला, उसके लिए हिंदी का व्याकरण कठिनाइयों से भरा हुआ होता है। एक तो मुश्किल है

हिंदी का लिंग-विचार। सुनते हैं इसमें श्रेष्ठ हिंदी विद्वानों का भी एक मत नहीं होता। हिंदी की इस स्वतंत्रता ने इस विषय में भाषा को अराजकता में डाल दिया है। 'भात' पुल्लिंग शब्द है और 'दाल' स्त्रीलिंग, 'पुस्तक' स्त्री लिंग और 'ग्रन्थ' और 'कागज' पुलिंग। 'अग्नि, मृत्यु, वायु'—इन सबको इस कलियुग में हिंदी में स्त्रीत्व की प्राप्ति हुई है। हिंदी अच्छी तरह से अगर सीखना चाहते हैं, तो संस्कृत, व्याकरण को भूल जाइये। इसके ऊपर शब्द रूप में, मौलिक रूप और सामान्य रूप, और 'का' और 'के' का दुरतिक्रमणीय हंगामा। लिंग विभ्राट और शब्दरूप की कठिनाई से बेचारे हिंदी—शिक्षार्थी जब किंकर्तव्य-विमूढ हो जाते हैं, तब क्रियापद के कर्मणि और भावे-प्रयोग आकर उसे खतम कर देते हैं।

हिंदी के व्याकरण को कुछ सहज सा और तर्कशास्त्र सम्मत बनाने की आवश्यकता है। हमारा सिद्धान्त यह है कि भविष्य काल का राजा King Demos या 'गण महाराज' इतनी सूक्ष्मता नहीं मानेगा। 'इनकलाब' जब सचमुच ज़िन्दा होगा और मज-दूर तथा किसान जब भाषा के सुधार का काम खुद ही अपने हाथ में ले लेंगे, तब चालू और बाज़ारू, गँवार और देहाती तथा खड़ी बोली और पड़ी बोली सब एकाकार होकर एक नई गण-भाषा बन जायगी।

गणतंत्र के अनुकूल हिंदी का एक रूप अब भी विद्यमान है। इस कलकत्ता महानगरी में नई शैली के हिंदी गद्य साहित्य का

पहले प्रचार हुआ, पर यहाँ अनपढ़ लोग जो हिंदी बोलते हैं, उसे हिंदी के गणतान्त्रिक रूप के सिवा क्या कहूँ ? कलकतिया बंगाली दो जबानें जानते हैं; एक अपनी मादरी ज़बान बंगला, और दूसरी कलकत्ते की बाजारू हिंदी। बचपन से अपनी मातृ-भाषा के साथ साथ हमें इसका व्यवहार करना पड़ता है। मैं इस टूट-फूटी हिंदी के स्वरूप की कुछ आलोचना किसी और सभा में कर चुका हूँ। इस स्वरूप की मौलिक विशेषता यह है कि व्याकरण के नियम, शब्द धातु आदि के रूप, प्रत्यय प्रभृति जितने कम व्यवहार किये जा सकें सिर्फ उतने ही व्यवहार में लाये जाँय और स्वतंत्रता-पूर्वक बंगला शब्द और वाक्य रीति का प्रयोग हो। इस कलकतिया हिंदी को कलकत्ते के उड़िया, मैथिल, बिहारी आदि सब प्रवासियों ने अपनाया है, क्योंकि इन्हीं के हाथ शुद्ध हिंदी बिगड़कर इसका संगठन हुआ। सीखने से भूलना अधिक कठिन है। इधर शुद्ध हिंदी के साथ परिचय होने का मौका नहीं मिलता, उधर जिन्दगी-भर बाजारू हिंदी के सिवा दिन का काम नहीं चलता;—हम करें क्या ?

हिंदी की उत्पत्ति और प्रसार तथा इसके प्रादेशिक रूप आदि विषयों पर गवेषणात्मक विराट् ग्रंथ लिखा जा सकता है। मैं इस बारे में और कुछ कहना नहीं चाहता। अंत में एक बात कहकर इसे समाप्त करूँगा।

जिसकी शक्ति और जिसका सौभाग्य हो उसे नम्र होना चाहिए। हिंदी भाषियों के उद्यम और उनकी कर्मशीलता ही नहीं

बल्कि उनकी नागरिकता और सौजन्य, उनकी संस्कृति और मानसिक उत्कर्ष हिंदी-प्रचार के प्रवल कारणों में हैं। भारत के लोगों ने हिंदी को 'राष्ट्रभापा' मान लिया है; बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, तामिल इत्यादि घरेलू भाषा या प्रादेशिक भाषा हो सकती हैं, पर एकता-विधायिनी भाषा और भारत के संयुक्त राष्ट्र की माध्यम हिंदी ही हो सकती है, इसे आज अधिकांश लोग मानते हैं। शुद्ध हिंदी बोलना सहज नहीं, रातोंरात शुद्ध हिंदी सीखना भी कठिन है। बहुत से लोग टूटी-फूटी बोलने में शरमाते हैं। अशक्यता हेतु यदि कोई किसी राष्ट्र या धर्म संबंधिनी सभा में हिंदी में व्याख्यान न दे सके, पर हिंदी से अपना प्रेम प्रकाश करे, तो उससे धैर्य के साथ व्यवहार करना उचित होगा, और यह गंगातीर की आर्य सभ्यता के सौजन्य के अनुसार ही है। पर ऐसी अवस्था में 'हिन्दी' 'हिन्दी' पुकार कर बेचारे को यदि तंग किया जाय, और उसे अंग्रेजी में या अन्य किसी प्रान्तीय भाषा में बोलने नहीं दिया जाय तो वह हिंदी के प्रसार के अनुकूल नहीं बल्कि विपरीत होगा। हमें आत्म-परीक्षा करनी चाहिए। अनजान से Linguistic Imperialism या भाषागत साम्राज्यवाद के पुरोहित हम न बनें---जुल्म या बलात्कार से हिंदी प्रचार की चेष्टा नहीं होनी चाहिए।

खैर, हिंदी के जो गुण और कठिनाइयाँ हों, सो हों; पर यह सबको मानना पड़ेगा कि दुनिया के अव्वल दरजे की अन्तर्जातीय भाषाओं में हिंदी स्थान है। अंग्रेजी, उत्तर चीनी, जर्मन-रूस,

स्पेनिश, फरांसी, अरबी, फारसी, मालय आदि भाषाओं में हिंदी का नाम करना चाहिए। संख्या के विचार से अंग्रेजी और उत्तर चीनी के नीचे हिंदी का स्थान है; श्रुति माधुर्य, जोर, कार्यशक्ति आदि में हिंदी एक अनोखी भाषा है। ऐसी भाषा हमारा गौरव स्थल है।

मैं हिंदी से बड़ा प्रेम रखता हूँ। यूरोप-प्रवास के समय फ्रान्स या जर्मनी में कहीं किसी भारतीय छात्र को दूर से मैं देखता, तो उससे मिलने जाता और सबसे पहिले हिंदी में उससे प्रश्न करता-क्या भाई, हिन्दुस्तानी हो ? जिससे बात करता, अगर वह उत्तर भारतीय होता, तो हिंदी ही में मुझसे बात करता, और यदि वह दक्षिणी होता, तो भाव से मेरी बात समझ लेता और यदि हिंदी नहीं जानता तो अंग्रेजी में माफी माँगता। अपने मित्र और छात्रों में मैं हिंदी भाषा और साहित्य का गुण-गान किया करता हूँ। कबीर जी के पद और तुलसी जी की रामायण को तो मैंने नित्य-पाठ्य-ग्रंथ सा बना रखा है। बहुत दिनों से इन दोनों विश्व-साहित्य के मुकुट-मणियों का पाठ किया करता हूँ।

बंगाल में हिंदी का प्रचार हो, बंगाली सज्जन भी हिंदी भाषा और साहित्य से परिचय प्राप्त कर पार्थिव और आध्यात्मिक लाभ उठावें, यह मैं सर्वान्तः करण से चाहता हूँ। बंगाल की राजधानी कलकत्ते से हिंदी का संयोग खूब घनिष्ठ है। यदि कलकत्ते को हिंदी की आधुनिक गद्य शैली की जन्मभूमि कहा जाय, तो कुछ अत्युक्ति न होगी। हमारी बंगाली जाति के लिए यह बड़े अफसोस की

बात है कि हिंदी ऐसी भाषा से वे यथोचित शक्ति और आनन्द को प्राप्त नहीं कर सके। इसके कारण निर्धारण होने चाहिए। रोग का निदान और कारण मिलने से इलाज ठीक हो सकता है। एक कारण मेरे विचार में तो यह है कि इधर हिंदी के उच्च शिक्षित सज्जनों का बहुत कम शुभागमन होता है। बिहार और संयुक्त प्रान्त के पूरब के जो आम लोग रोजी के लिए इधर आते हैं, वे स्वयं शुद्ध हिंदी नहीं बोल सकते,--उनकी व्यवहृत खिचड़ी बोली, साहित्यिक और शुद्ध हिंदी के प्रचार का प्रधान अन्तराय होता है।

पर अवसर अब शुभ है। वंगाल की शिक्षित जनता में हिंदी का आदर होने के लिए कांग्रेस से कुछ मदद मिल सकती है। कालेजों से भी बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। निर्दिष्ट हिंदी परीक्षा में उत्तीर्ण होने से यदि दस-बीस आर्थिक पारितोषिक कालेजों के लड़कों को दिए जाँय, तो बहुत से नवयुवक इस ओर आकृष्ट होंगे। हिंदी प्रचार के सब साधन विशेष समिति में विचार किए जा सकते हैं। वंगाल में हिंदी प्रचार के लिए सम्मेलन की ओर से जो प्रयत्न किया जाय, उसका मैं पूरी तौर से समर्थन करूँगा। हिंदी-साहित्य सन्मेलन ने इस विषय में जो शुभ कामना प्रकट की, उसके लिए मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकाश करता हूँ।

हिंदी की उत्पत्ति

सप्रयोजन साहित्य को आधुनिक आलोचक 'प्रयुक्त साहित्य' कहते हैं। कुछ संत महात्मा और प्रचारक 'प्रयुक्त साहित्य' को ही ऊँचा साहित्य मानते हैं। यद्यपि तटस्थ और विदग्ध हृदय शुद्ध साहित्य को ही महत्त्व देता है पर प्रयुक्त और सप्रयोजन साहित्य का उपकार भी न्यून नहीं होता।

यह निबंध प्रयुक्त साहित्य के अन्तर्गत है। इसमें भाषा विज्ञान के यशस्वी लेखक डा० सुनीति कुमार चैटर्जी ने हिंदी भाषा का इतिहास लिख कर उसके राष्ट्रभाषा होने के दावे को स्वतःसिद्ध माना है। अतः ज्ञातव्य बातें तो इसमें आदि से अंत तक भरी पड़ी हैं पर देखना है इसकी भाषा और शैली को। जिस गुण के कारण यह लेख निबंध माना गया है। जैसी हिंदी 'राष्ट्रभाषा' हो सकती है वैसी ही भाषा इसकी है। अहिंदी प्रांत के विद्वान् ऐसी ही भाषा में साहित्यिक व्यवहार चला सकते हैं। बाजारू काम के लिए

काम चलाऊ भाषा आपसे आप बना बिगड़ा करती है पर वह राष्ट्रभाषा नहीं कही जाती। अन्त में विद्वान् लेखक ने यह भी बता दिया है कि जब समय आवेगा तब खड़ी, पड़ी, बाजारू, गवारू आदि सभी प्रकार की भाषाएँ मिलकर एकाकार हो जाएँगी। शैली इसकी बोधानुग और यत्र तत्र यत्न-सिद्ध लाक्षणिक भी है। पढ़ने में मन लगता है। विद्यालयों के साधारण विद्यार्थी को ऐसी ही सौम्य और शास्त्रीय शैली का अनुकरण करना चाहिए।

साहित्यिक लेख न होने से इसमें आत्मीय राग का अभाव है। ऐसा निबंध विषयप्रधान होता है। उसमें निश्छद्म तथा रागद्वेषरहित बात कही जाती है। पर साथ ही एक बात देखना अत्यावश्यक है। वह है लेखक की प्रामाणिकता। यदि लेखक आप्त और मर्मज्ञ है तो उसके लेख की महत्ता और बढ़ जाती है। इस निबंध के कर्त्ता भाषाविज्ञान के आचार्य और कलकत्ता विश्वविद्यालय के अध्यापक हैं।

निबंध में स्थायी प्रभाव होना चाहिए। वह भी इसमें है। यद्यपि इस लेख में सामयिक हिंदी का समर्थन है पर इसकी ऐतिहासिक और तार्किक पद्धति ऐसी उपादेय है कि यह विवेचन भावी विद्यार्थियों के लिए भी महत्त्व का होगा।

महाकवि साँड़ की जयन्ती

भगवान सूर्य्य को उदित हुए अभी दो घंटे भी न बीते होंगे, मैं आराम से बिछौने पर पड़ा सो रहा था ; कि इतने में बाहर से किसी ने बाँग देना आरंभ किया—"कवि जी, कवि जी।" दस बारह हाँक तक तो मैंने सुना ही नहीं, किन्तु तेरहवीं बार पुकारे जाने पर मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि कोई मुझे पुकार रहा है। मैंने डपट कर चट उत्तर दिया—"अच्छा, अच्छा खड़ा रह!" और कतवारू को आवाज़ दो 'अरे कतवरुआ, मालकिन से पैसा लेकर जा, गली में खोमचे वाला कब से पुकार रहा है, देख पाव भर जलेबी ले लेना, और कुल दालमोट दो चार पैसा का, जा और पाखाने में पानी भरता जा और—

मैंने वाक्य पूरा भी नहीं किया था, कि कतवरुआ की माल-

किन पंख फटफटाती, दाँत कटकटाती, आँख मटकाती, हाथ चटकाती और न जाने क्या क्या करती हुई मेरे समक्ष आही तो गयीं और विना किसी भूमिका या प्राक्कथन के, मुझे उसी तरह फटकारने लगीं, जैसे कोई अंग्रेज कलेक्टर किसी हिंदुस्तानी रईस को फटकारता है ! "अरे वाह रे सोनेवाले। रात भर रतजग्गा किया है क्या ? कि अभी तक आप लम्बी ताने (!) हुए हैं। वेचारे कब से बाहर खड़े पुकार रहे हैं।"

मैंने भी 'एक चुप सौ को हरावै' के अनुसार चुप्पी साथ ली। सच बात तो यह है कि मेरी श्रीमती जी जब अपनी गर्जना करती हैं, तब मेरे साहस का गर्भ-स्राव हो जाता है !

हाँ, तो मालकिन जी कहती ही गयीं, "वेचारे घण्टे भर से चिल्ला रहे हैं। तुम्हें तो नींद से ही फुर्सत नहीं है।"

मुझे भी ताव आही गया। मैंने कहा—"घण्टे से चिल्ला रहे हैं ! आखिर पुछवा तो लिया होता कि कौन हैं वे हज़रत ?"

मालकिन बोलीं—"अरे वही तो हैं ! बैठका में बैठे हैं ! क्या नाम है उनका ! बड़ी बड़ी मूछें हैं। सुंदर आँखें हैं। लम्बे से गोरे से हैं जो !"

बापरे बाप ! मैं सोचने लगा कि आखिर ऐसी नायिका का क्या नामकरण किया गया है; जो अपने पति से ही एक अन्य नायक का सौन्दर्य-वर्णन कर रही हो !

खैर, मुझे अब मालूम हुआ कि सबेरे ही सबेरे उपद्रव मचाने वाले महाशय मेरे मित्र स्वामी भयंकरानन्द शास्त्री थे। मैं मन

ही मन उनके सात पुरुखों का श्राद्ध करता हुआ नीचे उतरा। शास्त्री जी आये थे मुझे एक कवि-सम्मेलन में पकड़ ले चलने के लिये। बोले—भाई! चलोगे नहीं, महाकवि साँड़ की जयन्ती में। "मैंने पूछा—महाकवि साँड़ कौन?" शास्त्री जी बोले—"अरे यार, ई मत समझो कि तुम्हीं एक महाकवि 'चोंच' हो! तोहरे भी चचा महाकवि "साँड़" खास इसी बनारस में आज कई वर्ष पूर्व होते भये। उन्हीं की जयन्ती है।"

मैंने पिण्ड छुड़ाने के लिये कहा—अच्छा यार, जिस दिन होगी, चला चलूँगा। शास्त्री जी तड़प उठे!—अरे, आज ही तो है वह जयन्ती जनाब दस बजे से। देखियेगा क्या साहित्यिक ठाट रहेगा। सैकड़ों विद्वान रहेंगे। तुम्हें लिवाने ही तो आया हूँ।

मैंने सिर खुजलाते हुए कहा—अच्छा गुरू! चला चलूँगा! मगर 'प्रेसाइड कौन करेगा?

अब तो शास्त्री जी ने ऐसी विनीत (Your most obedient servant की) मुद्रा बना कर कहा—यार प्रेसाइड तो सभों ने मुझी से करने के लिये कहा है!"

अब रंग लाई गिलहरी! मैंने शास्त्री जी को खूब आड़े हाथों लिया। खैर, हम दोनों साहित्य दिग्गज, गजगामिनियों का मान मर्दन करते हुए, सभा के लिये चल पड़े।

साहित्य मंदिर का विशाल हॉल दर्शकों और श्रोताओं से ठसाठस भरा हुआ था। सभा की सूचना १० बजे की थी, किंतु हम लोग ८ बजे ही पहुँच गये। सभा का कार्य ठीक १२ बजे से

प्रारंभ हुआ। अन्य सब कार्य होने के अनंतर शास्त्री जी हास्य-गर्जन और ताली-मर्दन के बीच अपना भीषण भाषण देने के लिये लपक कर खड़े हुए!

शास्त्री जी बोले:—

भाइयो और भौजाइयो! अब आपको इस विषय में इञ्च मात्र भी संदेह न रह गया होगा कि आप लोग प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद महाकवि 'साँड़' की पवित्र जयंती मनाने को ही यहाँ पधारे हुए हैं। ऐसे अवसर के लिये आपकी इस सभा ने मुझे अपना 'पति' चुनकर अपनी जिस अलौकिक गुणग्राहकता का डिमडिमायमान परिचय दिया है, उसे हिंदी साहित्य के भावी इतिहासकार ७२ पौंड के कागज पर स्वर्णाक्षरों या रेडियम के वर्णों में लिखेंगे। मैं बड़ा एकान्त-सेवी और विज्ञापन कलानभिज्ञ पुराना साहित्यिक हूँ, किंतु आप लोगों की गृद्ध-दृष्टि मुझ पर पड़ ही गयी। मुझे सभापति का पद देकर आपने अपना और अपनी संस्था का जो गौरव बढ़ाया है, वह आप लोगों की योग्यता का सबसे बड़ा प्रमाण है। ईश्वर को धन्यवाद देता हूँ कि वह इसी भाँति आपके बुद्धि-वैभव का विकाश करता रहे। किंतु आप लोगों के कारण ही मुझे कल दिन भर उपवास भी करना पड़ा था, इसलिये अब मैं इसी टेबुल पर लेट कर बहुत मंद मंद कल कल ध्वनि में ही भाषण करूँगा। यद्यपि 'नाइन्थ क्लास' में मुझे अनेक बार बेञ्च पर खड़े होकर नीचे बैठे हुए छात्रों के अवनत मस्तकों पर गौरव पूर्ण दृष्टि डालने का अवसर मिल चुका है,

तथापि करके इस समय मैं उपवास और परिश्रम जन्य क्लांति की थकावट से चूर हो रहा हूँ। आशा है कि आप मुझे लेटे लेटे ही यह आनंद उठाने देंगे।

कोई हर्ज नहीं ; जब आप पूछते ही हैं तो सुन ही लीजिये कि मैंने कल कैसे उपवास किया !

कल दोपहर को घर लौटने पर, सहसा मेरी दृष्टि रसोईंघर पर पड़ी, तो क्या देखता हूँ कि वहाँ मक्खियों ने हड़ताल कर दी है, और बर्तन वगैरह बड़े ही निर्मल स्वरूप में पड़े हुए, बहुत दिनों के 'परिश्रम की थकावट' मिटा रहे हैं।

श्रीमती जी भी नहीं दिखाई पड़ीं। सन्देह हुआ ! नौकर से पूछा तो मालूम हुआ कि ओढ़ना ओढ़े पड़ी हुई हैं। मैंने सोचा शायद सिर दर्द हो। तुरंत अमृतांजन लेकर पहुँचा और सिर पर रगड़ने लगा।

कहते हैं कि होम करते हाथ जलता है। श्रीमती जी तो तड़प कर गुस्से से फुलझरी हो गयीं।

"हाँ हाँ, थोड़ा और पोते (!) दो। मैं मर नहीं रही हूँ। जाओ जाओ अपनी उसी जयंती बीबी का सिर दबाओ।"

मैं बड़ा घबड़ाया ! अभी सबेरे तो भली चंगी थीं; बीच में ही इन्हें कुछ लग तो नहीं गया। और इन्होंने तो इतना कहकर जो चादर खींची, कि फिर खोलने का नाम नहीं। मैंने उदास होकर चारों ओर दृष्टि दौड़ायी तो सिरहाने टेबुल के कोने पर एक लाल चिट्ठी दिख लायी पड़ी, जिसे मैंने पढ़ा तो ये वाक्य लिखे दिखलायी पड़े।

श्रीमान् शास्त्री जी !

पूर्व सूचनानुसार कल की तारीख ही निश्चित की गयी है। महाकवि 'साँड़' की जयंती के लिये आप सा सभापति मिलना कठिन है। आप युवक हैं, योग्य हैं, सुंदर हैं, सुकवि हैं। आपको पाकर सभा धन्य और सफल हो जायगी। हमलोग विशेष धूम धाम नहीं कर रहे हैं, केवल कुछ गाने बजाने और कविता पाठ का ही प्रोग्राम है।

अब आपही सोचिये, कि मैंने कुछ रोज़ पूर्व अपनी श्रीमतीजी से साफ़ साफ़ कह दिया था कि "यदि तुम इसी प्रकार मैके जाया करोगी, तो मैं अवश्य ही एक दूसरी शादी कर लूँगा।" उसके चार ही रोज बाद आप लोगों का यह पत्र उसके सुसंस्कृत दिमाग़ को बहकाने के लिये काफी था या नहीं !

हाँ, तो महाकवि साँड़ की ओर आइये ! ये महाशय किस सन् या संवत् में जन्मे थे, इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है, पर माननीय समालोचक बंधुओं ने सिर का पसीना एड़ी तक करके इस बात का पता लगाया है कि ये महाकवि विक्रम की १५ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के तृतीय चरण में उत्पन्न हुए थे। इनका जन्म बिसवाँ सीतापुर में हुआ और ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनकी कविता पर देव की छाप है। ये सेनापति की कोटि के कवि थे।

ऊपर की बातें कहाँ तक सच हैं, यह आप जानें। हाँ, इतना केदारनाथ पाठक से मुझे मालूम हुआ है कि वे काशी में

ही रहते थे, और प्रति दिन सवेरे शाम गैबी पर भाँग छानने जाया करते थे।

महाकवि 'साँड़' हरएक प्रकार के छंद लिखते थे, किन्तु दोहा लिखने में उन्हें कमाल हासिल था! वे कहा करते थे—

मूरख जिसे मज़ाक में, कहैं भयानक भाँड़।
आया कविता-क्षेत्र में, वह साहित्यिक साँड़॥

आप आश्चर्य करेंगे, उनके इसी एक दोहे का अर्थ एक निराले टीकाकार ने ७५ ढंग से किया था। और इसी दोहे पर उस समय के स्वनामधन्य स्वयम्भू समालोचकों ने उन्हें 'बिहारी बण्डा' की उपाधि दे डाली थी।

अब मैं महाकवि साँड़ के सम्बन्ध की दो चार सच्ची घटनाएँ सुनाता हूँ। एक बार कानपुर के एक प्रसिद्ध कवि ने उनके पास यह शिकायत भरा पत्र लिख भेजा कि अपनी पत्नी के मारे उनकी नाक में दम है। वह उन्हें भाँग नहीं छानने दिया करती और खुद भाँग पीसकर पिलाने की कौन कहे, उन्हें स्वयं भी घोटने नहीं देती। इस पर साँड़ जी ने उनके पास यह आदर्श छन्द लिखकर भेजा था।

"जाकौ प्रिय न भाँग कौ लोटा।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि अपनो ढोटा।
घूमौ सकल तीर्थ-क्षेत्रन में, एकै पहिर निगोटा।
पर विजया बिन मिलै न कछु फल, यह हिसाब है मोटा।
जो न भाँग छानै निसिवासर, सो नर कपटी खोटा।

ते नर धन्य, बसै जिनके कर, सुन्दर कुण्डी सोंटा !
वनहु सुखी सिल बट्टा लै करि, कबहु न होवै टोटा।
नहिं तो दीन हीन कूकुर सम, घर घर चाटहु चोटा।

इसी पद के आधार पर कुछ लोगों ने गोस्वामी तुलसीदास और मीरा के पत्र-व्यवहार की झूठी कल्पना कर रखी है। संसार में जितने महाकवि हुए हैं, सभी भाँग छानते थे और अपनी कविता के पूर्व एक 'गोला' अवश्य ही चढ़ा लिया करते थे। उनकी रचनाओं में जो शिथिल अंश पाये जाते हैं, वे सब बिना भाँग छाने ही लिखे गये हैं।

महाकवि साँड़ अपनी पत्नी को साँड़नी कहकर पुकारते थे। उनके घर में एक अहिरिन मजदूरनी रहती थी। उसे सरदारिन कहकर पुकारा करते थे। एक बार एक पत्र के सम्पादक ने उनसे 'वसन्तांक' के लिये एक कविता माँगी थी, इस पर आपने यह कविता उस अंक के लिये भेजी थी जिसे सम्पादक जी ने टायटिल पेज पर छापकर अपनी गुण-ग्राहकता का अपूर्व परिचय दिया था।

कविता यह थी—

कोठन में, कूँअन में, कोल्हू, कलवरिया में,
कोने, काँजी हौदन में कल किलकन्त है।
कहै कवि साँड़, साँड़नी में, सरदारिन में,
सेव में समोसा में सरासर सगन्त है।
देह में, दिमाग में, दिवाल में, दराजन में,
दाँतन में, दतुवन में, दीपक दिगन्त है

बैठक में, बाँध में, बिछौना में, बजारन में,
बाहर बरामदा में बगरयो बसन्त है !!

महाकवि पद्माकर ने भी इसी ढंग का एक कवित्त लिखा है, जो साँड़ जी की कविता की ही हूबहू नकल है।

महाकवि साँड़ ने कुछ छायावादी रचनाएँ भी की हैं। कुछ लोगों की यह भ्रमात्मक धारणा है कि हिन्दी कविता में निराला, पन्त और 'प्रसाद' आदि कविवरों ने छायावादी काव्य की सृष्टि की है ! पर मेरा यह ख्याल है कि यह उनका शुद्ध भ्रम है। वास्तव में छायावादी कविता के बाप महाकवि साँड़ ही थे ! उनकी छायावादी रचनाओं के कुछ अनुवाद प्रोफेसर जात्याभाई पात्याभाई ने गुजराती में किये हैं। मूल कविताएँ तो अत्यधिक सुन्दर हैं। मैं उनकी "गगन के प्रति" शीर्षक कविता सुनाता हूँ; आप सावधान होकर सुनिए—

"ओ आकाश !
तुझ में ही !
व्यावर्तन की वल्लरियों का दिव्य लोक उद्दाम।
किधर से !
अलुलित अपलक अभिहित अद्भुत।
सौन्दर्य-राशि-सौकर्य-सलिल
तू कटु कर्दम-कम्बोज कलिल
अभिनव रव !
सुरभित मंजुल मलयज समीर

उपहासास्पद !
आक्रोश अरिन्दम अन्तराल
निःसरण-मार्ग के पथ प्रधान
तू महामदिर है मण्डितांग
आया था !
उत्तुंग भंगि अंकित सा विह्वल प्रतिपल
अरे चुप रह !!"

उनकी छायावादी कविता के सम्पादन की भूमिका में एक समालोचक-सम्राट् 'छायावाद' क्या है ? यों बतलाते हैं—

"मानव-जीवन के काव्य-गत मूर्ताधार के विश्लेषण का सामञ्जस्य अपने तारतम्य की प्रकृष्ट कलात्मक भावना-सत्ता की पारम्परिकता के उद्दीपन से जब अन्तर्हित होकर प्रवृत्तात्मक व्यञ्जना का निर्विकल्प अध्युष्ट आश्रय लेता है, उस समय उसकी 'छायावाद' संज्ञा होती है !

महाकवि "साँड़" ग्राम-गीतों के बड़े प्रेमी थे, और स्वयं भी कुछ ग्राम-गीत लिखा करते थे। एक सम्पादक महोदय ने उनके गीतों का अच्छा संग्रह प्रकाशित किया है। सुना है कि इस समय वे उसकी टीका भी कर रहे हैं जिसे प्रकाशित कर वे किसी कालेज के कोर्स में भी कराने वाले हैं। देखिये उनमें से एक गीत मैं आप लोगों को सुनाता हूँ। महाकवि साँड़ कहते हैं—

प्रभुजी हम होइत, दशरथ घर कुक्कर।

चारो भइया खातन पूड़ी, हम ताकित टुक्कुर टुक्कुर ॥
कबहुँ न छूइत माँस दाँत से, बनल रहित बिलरौटा।
कौसल्याजी के हाथन से ले भागित कजरौटा ॥

हाँ, भले याद आया। महाकवि साँड़ के समकालीन कवियों में दो ऐसे लेखक और कवि भी थे, जिनके नाम सानुनासिक थे। वे थे पण्डित नकछेद तिवारी और नकलोल तिवारी! नकछेद तिवारी को तो आप लोग जानते ही होंगे, नकलोल तिवारी का वर्णन मैं यहाँ संक्षेप में ही कर देता हूँ। ये तिवारीजी कहाँ रहते थे, सो तो ठीक मालूम नहीं, पर इतना अवश्य है कि ये जो कुछ लिखते थे उसमें पाँच प्रतिशत के हिसाब से उनका लिखा हुआ भी रहता था। बचपन में ये गुलगप्पे वेंचते थे, कुछ दिनों तक 'चने जोर गरम' भी बेचा। कुछ दिन चूरन बेचने वालों के भी साथ रहे। उन्हीं की संगति से चूरन के लटके सुनते-सुनते इन्हें भी कुछ कविता करने की सूझी।

बस फिर क्या था, बरसाती मेंढकों की तरह इन्होंने अपना एक दल कायम किया। न मालूम, किस पाजी ने इन्हें यह गुरु-मन्त्र दे दिया—

"बेटा यदि तुम अपना नाम चाहते हो तो औरों को बदनाम करो।"

बस फिर क्या था, इन्होंने सूर, तुलसी, केशव, बिहारी आदि महाकवियों को गाली देना प्रारम्भ कर दिया। धीरे धीरे नाम कमाने के चस्के में कुछ मौलिक बातों के फेर में पड़ने

लगे। कहीं से कोई नायिका-भेद भी आप ढूँढ़ लाये। उसका सम्पादन भी कर डाला।

अब क्या था! जहाँ थे तिवारीजी ही थे। एक दिन एक कवि-सम्मेलन में यारों ने कहा—भाई आज तो कोई ऐसी मौलिक बात कहो, कि कवियों में खलबली मच जाय। तिवारीजी भी अपनी स्थूल बुद्धि के अनुसार झट तैयार हो गये। आप कहने लगे—सज्जनों! संसार की सभी नायिकाएँ परकीया ही थीं। सब नायिका-भेद इसी के अन्तर्गत है। कवियों की स्त्रियाँ सदैव खण्डिता ही रहती हैं। गोस्वामीजी महाकवि सूरदास से ७०० वर्ष पूर्व बिहारी के वंश में रोहिताश्वगढ़ के किले में पैदा हुए थे! अंग्रेजी के कवि शेक्सपीयर ने राबर्ट साउदी की जीवनी में जो अलंकार भर दिया है उसी की चोरी करके हिन्दी में रीति-काव्य का प्रादुर्भाव किया गया है—" इत्यादि!

श्रोताओं ने ताली पीट दी—"क्या बात है। समालोचक हो तो ऐसा! दूध का दूध और पानी का पानी कर दे।"

किन्तु तिवारीजी के दुर्भाग्यवश उनके पिता भी उस सभा में उपस्थित थे! उन्होंने तो कभी कविता की नहीं थी, पर कविता किस जन्तुविशेष का नाम है, इसे वह जानते थे। तिवारीजी की ऊल जलूल बातें सुनकर उन्हें बड़ा क्रोध हुआ। बस जनाब जिस प्रकार क्रौञ्चमिथुन के दुःख पर महर्षि वाल्मीकि के अन्दर काव्य का स्फुरण हुआ था, ठीक उसी तरह उनके मुँह से यह पद्य निकल ही तो पड़ा—

घर में बाक़ी बचा न एकौ लोटा थरिया।
तुझको तो है भैंस बराबर अच्छर करिया॥
नाचा करता इधर उधर ज्यों दुष्ट बँदरिया।
अच्छा पाया नाम कमाने का यह जरिया॥
चल हट, जाकर साफ किया कर कोई नरिया।
अरे दुष्ट, रे लण्ठ, अबे नकलोल तेवरिया॥

उनके पिताजी न जाने कब तक क्या क्या बकते किन्तु तिवारीजी ने उनके पैर पकड़ और नाक रगड़ कर कसम खाई कि अब किसी सम्मेलन-सभा में न तो जाऊँगा और न भाषण करूँगा। तब कहीं बुढ़ऊ शान्त हुए।

भाइयों और भौजाइयों! कहना तो बहुत था, किन्तु अब समय बहुत हो गया, अभी कितने ही कवि अपनी कविता सुनाने के लिये उत्सुक बैठे हैं। अब मैं परम पिता से प्रार्थना करता हूँ कि वे आप लोगों को महाकवि साँड़ की तरह अथवा कम से कम उनके किसी अंग की तरह योग्य बनावें, जिससे आप लोग हिन्दी भाषा का जीर्णोद्धार करते हुए विश्व-साहित्य में समादर पा सकें। एवमस्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

महाकवि साँड़ की जयन्ती

प्रहसन का प्रधान लक्ष्य है मनोरञ्जन। इसीसे अनुरञ्जनीय श्रोताओं की रुचि के अनुसार प्रहसन की कथावस्तु भी अनेक प्रकार की हुआ करती है। सामान्य व्यक्ति अथवा समाज के जीवन की बात सभी सामान्य श्रोताओं का अनुरंजन कर सकती हैं पर साहित्यिक जीवन से संबंध रखने वाला परिहास जानकारों को ही हँसा सकता है। प्रस्तुत रचना दूसरे ढंग की है। यह दो चार वर्ष पूर्व के हिन्दीसाहित्य से संबंध रखने वाली बातों से भरी है। जो उस समय की सच्ची बातों को नहीं जानता वह इन विडम्बनाओं का स्वाद भी नहीं ले सकता। 'महाकवि की जयन्ती' 'छायावाद' 'परकीयावाद' विदेशी साहित्य का प्रभाव' 'कवि का ऐतिहासिक अध्ययन' आदि इसकी प्रसिद्ध बातें हैं। उन्हीं के आधार पर चतुर लेखक हास के उपादान प्रस्तुत करता और लोगों को खूब हँसाता है। इसी के साथ छिपे छिपे चुटकी भी लेता है। उसने साहित्यिक जीवन के कृष्णपक्ष का ऐसा अतिरंजित पर सजीव और

सटीक चित्र खींचा है कि उससे हँसी आही जाती है और चित्रकार सफल हो जाता है। साहित्यसमाज पर ही नहीं, कुछ व्यक्तियों पर भी इस लेख में छींटे हैं पर वे व्यंग्य, इतने निष्कपट, वेढंगे और वेजोड़ हैं कि श्रोता के अट्टहास में उनकी ग्राम्यता भी छिप जाती है।

मनोविश्लेषण से प्रहसन की महिमा समझ में आ जाती है। नित्य के अनुभव में देखा जाता है कि एक सज्जन भी अशिष्ट और गोपनीय बात सुन कर हँस पड़ता है, यह कुरुचि नहीं, भीतर की छिपी वृत्ति है। इसीसे साहित्य में ग्राम्यत्व दोष अनुकूल अवसर पर गुण माना गया है। उसका स्वाद लेने के लिए भावुक को तटस्थ होना चाहिए।

इस निवंध में आई हुई तुलसी, पद्माकर आदि कवियों की विडम्बना समझने के लिए मूल रचनाओं का ज्ञान पहले से होना चाहिए।

यह पारिहासिक निवंध सुनने और समझने की वस्तु है। सप्रयोजन साहित्य के पक्षपाती इसकी अनुपयोगिता और निष्प्रयोजनता पर हँसते हैं। यही तो इसका उपयोग और प्रयोजन है।

प० - राजशेखर [illegible]

पं० रामचन्द्र शुक्ल जी.

11. 13

हिंदी और हिंदुस्तानी *

आज इस विज्ञ और कर्मकुशल समाज के बीच जो अपनी भाषा और उसमें साहित्य की गति-विधि का निरीक्षण करके दोनों का मार्ग स्वच्छ और परिष्कृत करने के लिए इस पुण्य-भूमि पर एकत्र हैं, मेरा हृदय एक अपूर्व आनन्द का अनुभव भी करता है और रह रह कर संकोच से दबता भी है। संकोच का कारण है। जो स्थान मुझे यहाँ दिया गया है उससे यही प्रकट होता है कि आप लोग मुझसे अपने पवित्र प्रयत्न और शुभ अनुष्ठान में कुछ सहायता पहुँचने की आशा रखते हैं। पर अपनी शक्ति और योग्यता पर दृष्टि रखते हुए उस आशा के किसी अंशकी भी पूर्त्ति की संभावना मुझे नहीं दिखाई पड़ रही है। इस विचित्र परिस्थिति में मुझे संतोष इसी बात का है कि मैं उपहास का पात्र होकर

---

* फैजाबाद के प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन में पठित भाषण।

भी ऐसे विद्वानों और कर्मवीरों के संसर्ग से बहुत कुछ ज्ञान, बहुत कुछ उत्साह प्राप्त करूँगा।

हम सब लोग यहाँ यह समझने के लिए एकत्र हैं कि हमारा साहित्य किस दशा में है, उसमें किन किन बातों का अभाव है उसकी कौन कौन प्रवृत्तियाँ उत्कर्ष की ओर लेजानेवाली हैं और कौन कौन अपकर्ष की ओर तथा वर्त्तमान समय में वह किस रूप में हमारे जीवन को सरस सबल और समृद्ध करने में सहायक हो सकता है।

साहित्य किसी जाति की रक्षित वाणी की वह अखंड परंपरा है जो उसके जीवन के स्वतंत्र स्वरूप की रक्षा करती हुई जगत् की गति के अनुरूप उत्तरोत्तर उसका अन्तर्विकास करती चलती है। उसके भीतर प्राचीन के साथ नवीन का इस मात्रा में और इस सफ़ाई के साथ मेल होता चलता है कि उसके दीर्घ इतिहास में कालगत विभिन्नताओं के रहते हुए भी यहाँ से वहाँ तक एक ही वस्तु के प्रसार की प्रतीति होती है। जब कि साहित्य व्यक्त वाणी या वाग्विभूति का संचित भंडार हैं तब पहले भाषा ही पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। व्यक्त वाणी का यह संचय असभ्य जातियों में तो केवल मौखिक रहता है, पर सभ्य जातियों में पुस्तकों के भीतर हिफ़ाज़त के साथ बंद रखा जाता है। मौखिक अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकता, पर पुस्तकस्थ होकर हजारों वर्ष तक चला चलता है।

साहित्य की अखंड दीर्घ परंपरा सभ्यता का लक्षण है। यह

परंपरा शब्द की भी होती है और अर्थ की भी। शब्द-परंपरा भाषा को स्वरूप देती है और अर्थ-परंपरा साहित्य का स्वरूप निर्दिष्ट करती है। ये दोनों परंपराएँ अभिन्न होती हैं। इन्हें एक ही परंपरा के दो पक्ष समझिए। किसी देश की शब्द-परंपरा अर्थात् भाषा कुछ काल तक चलकर जो अर्थ-विधान करती है वही उस देश का साहित्य कहलाता है। कुछ काल तक लगातार चलते रहने से शब्द-परंपरा या भाषा को भी एक विशेष स्वरूप प्राप्त हो जाता है और अर्थ-परंपरा या साहित्य को भी। इस प्रकार दोनों के स्वरूपों का सामंजस्य रहता है। इस सामंजस्य में यदि बाधा पड़ी तो साहित्य देश की प्राकृतिक जीवन-धारा से विच्छिन्न हो जाएगा और जनता के हृदय का स्पर्श न कर सकेगा। यदि अर्थ-परंपरा का स्वरूप बनाए रखकर शब्द-परंपरा का स्वरूप बदल जायगा तो परिणाम होगा "कोयल का नग़मा" और "महात्माजी के अलफ़ाज़"। यदि शब्द-परंपरा स्थिर रखकर अर्थ-परंपरा या वस्तु-परंपरा बदली जाएगी तो आप के सामने "स्वर्ण अवसर" आएगा, "हृदय के छाले" फूटेंगे और "दुपट्टे फाड़े जाएँगे"।

भाषा या साहित्य के विशिष्ट स्वरूप प्राप्त करने का अभिप्राय यह नहीं है कि उसमें बाहर से आए हुए नए शब्द और नई नई वस्तुएँ न मिलें। उसमें नए नए शब्द भी बराबर मिलते जाते हैं और नए नए अर्थों या वस्तुओं की योजना भी होती जाती है, पर इस मात्रा में और इस ढब से कि उसका स्वरूप अपनी विशिष्टता

बनाए रहता है। हम यह बराबर कह सकते हैं कि वह इस देश-का, इस जाति का और इस भाषा का साहित्य है। गंगा एक क्षीण धारा के रूपमें गंगोत्तरी से चलती है, मार्ग में न जाने कितने नाले, न जाने कितनी नदियाँ उसमें मिलती जाती हैं, पर सागर-संगम तक वह 'गंगा' ही कहलाती है, उसका 'गंगापन' बना रहता है।

हमारे व्यावहारिक और भावात्मक जीवन से जिस भाषा का संबंध सदा से चला आ रहा है वह पहले चाहे जो कुछ कही जाती रही हो अब हिन्दी कही जाती है। इसका एक एक शब्द हमारी सत्ता का व्यंजक है, हमारी संस्कृति का संपुट है, हमारी जन्मभूमि का स्मारक है, हमारे हृदय का प्रतिबिंब है, हमारी बुद्धि का वैभव है। देश की जिस प्रकृति ने हमारे हृदयमें रूप-रंग भरा है उसी ने हमारी भाषा का भी रूप-रंग खड़ा किया है। यहाँ के वन, पर्वत, नदी, नाले, वृक्ष, लता, पशु, पक्षी सब इसी हमारी बोली में अपना परिचय देते हैं और अपनी ओर हमें खींचते हैं। इनकी सारी रूप-छटा, सारी भाव-भंगी हमारी भाषा में और हमारे साहित्य में समाई हुई है। यह वही भाषा है जिसकी धारा कभी संस्कृत के रूप में बहती थी, फिर प्राकृत और अप-भ्रंश के रूप में और इधर हज़ार वर्ष से इस वर्त्तमान रूप में—जिसे हिंदी कहते हैं—लगातार बहती चली आ रही है। यह वही भाषा है जिसमें सारे उत्तरीय भारत के बीच चन्द और जगनिक ने वीरता की उमंग उठाई; कबीर सूर और तुलसी ने भक्ति की

धारा बहाई; बिहारी देव और पद्माकर ने शृंगाररस की वर्षा की, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र ने आधुनिक युग का आभास दिया और आज आप व्यापक दृष्टि फैलाकर सम्पूर्ण मानव जगत् के मेल में लानेवाली भावनाएँ भर रहे हैं। हजारों वर्ष से यह दीर्घ परंपरा अखंड चली आ रही है। ऐसी भव्य परंपरा का गर्व जिसे न हो वह भारतीय नहीं।

हमारा गर्व यह सोचकर और भी बढ़ जाता है कि यह परम्परा इतनी प्रबल और शक्तिशालिनी सिद्ध हुई कि इधर सौ वर्ष से—अर्थात् अँगरेज़ी राज्य के पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने के पीछे-इसे बंद करने के तरह तरह के प्रयत्न कुछ लोगों के द्वारा समय समय पर होते आ रहे हैं, पर यह अपना मार्ग निकालती चली आ रही है। इस विरोध का मूल हमारे उन मुसलमान भाइयों की निर्मूल आशंका है जो अपनी भाषा और अपने साहित्य को विदेशी साँचे में ढालकर अपने लिए अलग रखना चाहते हैं। यदि वे अपनी भाषा और अपने साहित्य की एक अलग परंपरा रखना चाहते हैं तो हमारे लिए यह प्रसन्नता की बात है। इधर अपनी भाषा की छटा, अपने साहित्य की विभूति हमारे सामने रहेगी, उधर उनके साहित्य के चमत्कार से भी हम अपना मनोरंजन करेंगे। यही मौका उन्हें भी रहेगा। मनोरंजन के क्षेत्र एक से दो रहें तो और अच्छी बात है। यही स्थिति मुसलमानी अमलदारी में रही है। दिल्ली और दक्खिन के बादशाह फ़ारसी कविता का भी आनन्द लेते थे और परंपरागत हिन्दी कविता

का भी। फ़ारसी के स्थान पर जब उर्दू की शायरी होने लगी तब भी यही बात रही। अनेकरूपता का नाम ही संसार है। सौन्दर्य्य की विभूति अनेक रूपों में प्रकट होती है। सहृदय उन सब में आनन्द का अनुभव करते हैं। अकबर की बात छोड़ दीजिए जो आप कभी कभी हिन्दी में कविता करता था। औरंगज़ेब तक के दरबार में जाकर हिंदी-कवियों का कविता सुनाना प्रसिद्ध है। रहीम, रसखान, गुलाम नबी इत्यादि का नाम हिंदी के अच्छे कवियों में है।

यहीं तक नहीं अपनी धार्मिक भावनाओं की व्यंजना के लिए भी मुसलमान यहाँ की परंपरागत भाषा को बराबर काम में लाते थे। हमारे हिंदी-काव्य के इतिहास में सूफ़ी कवियों का एक वर्ग ही अलग है, जिसके अन्तर्गत, कुतबन, जायसी, उसमान, नूरमुहम्मद इत्यादि दर्जनों कवि हुए हैं। उन्होंने हमारी ही प्यारी बोली में हमारे काव्यों की पदावली में, जिसमें संस्कृत का पुट बराबर रहता आया है, प्रेम कहानियाँ लिखी हैं।

यह देखना चाहिए कि हमारी भाषा और हमारे साहित्य में वह कौनसी वस्तु है, जो अब हमारे मुसलमान भाइयों को नापसन्द है। इधर उनकी ओर से जो लेख आदि निकल रहे हैं उनसे पता चलता है कि भाषा में न पसंद आनेवाली वस्तु हैं संस्कृत के शब्द और साहित्य में भारतीय दृश्य, भारतीय रीतिनीति और भारतीय इतिहास-पुराणों के प्रसंग। इस संबंध में हमारा नम्र निवेदन यह है कि जिस देश का साहित्य होगा उस

देश की परंपरागत भाषा, उस देश के प्राकृतिक स्वरूप रीति-नीति, कथा-प्रसंग आदि से वह कैसे दूर रह सकता है ?

अब थोड़ा यह भी देखिए कि पुराने मुसलमान भाइयों ने अपने वर्ग के लिए एक अलग साहित्य निर्माण करने में उसका क्या स्वरूप रक्खा था, और कितने दिनों तक वह स्वरूप वे बनाए रहे। हिंदी में थोड़े से, अरबी फारसी शब्द मिलाकर अपने साहित्य के लिए जो भाषा उन्होंने ग्रहण की, वह रेखता कहलाती थी। जो हिंदी उन्होंने ली थी वह केवल व्यवहार और बोलचाल की हिंदी न थी, परंपरागत काव्यों और गीतों की हिंदी भी थी, जिसमें बहुत चलते संस्कृत शब्दों के साथ साथ ठेठ घरेलू शब्द भी रहते थे।

यह तो हुई कविता और साहित्य की बात। सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि सर्वसाधारण मुसलमान जनता में इसलाम के धार्मिक सिद्धांतों के प्रचार के लिए चार सौ वर्ष पहले जिस भाषा का प्रयोग वे अपनी किताबों में करते थे, उसमें यहाँ के धार्मिक और दार्शनिक पुस्तकों में आनेवाले इन्द्रिय विकार आदि शब्द तक भी कभी कभी लाते थे--

(१) सराहना नेवाजनां ख़ुदा को बहुत कि वह पालनहारा है आलम का (शरह मरग़बुल कलूब-शाह मीराँजी, बीजापुरी सन् १४९५ के पहले)

(२) सवाल—यह तन अलाधा (अलहद:) बल्कि सतंतर (स्वतंत्र) विकार रूप दिखाता है। एक तिल क़रार नहीं ज्यों मरकट रूप।

जवाब—ऐ आरिफ़ ! ज़ाहिर तनके फ़ेल से गुज्‍या व बातिन करतब विषै ? दूसरा तन सो भी कि इस इन्द्रियन का विकार व चेष्टा करनहारा......सुख-दुख भोगनहारा। जेता विकार रूप वही दूसरा तन...। यह तन फ़हम सूँ गुज्‍या तो गुन उसका क्यों रहे ?

(कलामतुल हक़ायक़, शाह बुरहानुद्दीन बीजापुरी सन् १५८२)

उर्दू के इतिहास के लेखक उर्दूका उत्थान बीजापुर और गोलकुंडा की दक्खिनी रियासतों से मानते हैं। वहाँ शीया मुसलमानों की अधिक बस्ती थी। इससे इमामहुसैन की कथा को लेकर दक्खिनी उर्दू कवियों ने कई मसनवियों या प्रबंध-काव्यों की रचना की। इनमें से एक का नाम है 'करबल-कथा' (करबला की कथा)। यह कथा शब्द भला आजकल उर्दू में कभी जगह पा सकता है ? शृंगार की प्रेम-कहानियों की रचना भी दक्खिनी उर्दू में बहुत कुछ हुई है। जैसे 'वजही' की 'मसनवी कुतुब-मुश्तरी' जिसकी पद्य-रचना का रूप देखिए—

न भुइँ पर बसे वह न असमान में।
रहा शद उसी नार के ध्यान में।
भुलाई चंचल धन वो यों शाह कों।
कि लुभवाए ज्यों कहरुबा काह कों।
लगा शाह उसासाँ भरन आह मार।
कि नज़दीक ना है व गुनवंत नार।

'वजही' की ग़ज़ल का नमूना यह है—

पिउ अपनेकाँ आज मैं निस सपने देखी सोयकर।

जब पिउ चलिया सौंति सेज तव सोते उट्ठी रोयकर॥

ना पूछूँ वहमन जोयसी कब मिलना पिउ सों होयसी।

'वजही' का रचना-काल सन् १६०० से १६२५ तक माना जाता है। इसके उपरांत सन् १६५० के लगभग 'नसरती' का समय आता है, जो कुछ दिनों तक तो दक्खिनी शायरी की उपर्युक्त परंपरा पर चला पर आगे चलकर वह 'हिन्दवीपन' को बहुत कुछ दूर हटाकर फारसी रूप देने में लगा। अपना यह प्रयत्न उसने स्पष्ट स्वीकार किया है और कहा है "दखिन के शायरों की मैं रविशपर शेर बोल्या नहीं" एक स्थान पर और कहता है—"भआनी की सूरत की है आरसी। दखिनका किया शेर जूँ फारसी॥ फ़साहत में गर फारसी ख़ुश कलाम॥ धरे फ़ख़ हिंदी वचन पर मुदाम॥ मैं इस दो हुनर के खुलासों को पा। किया शेर ताज़ः दोनों फन मिला॥" नसरती ने जो रास्ता दिखलाया उसपर कुछ लोग धीरे धीरे चलने लगे, पर दक्खिनी शायरी को देशी परंपरा कुछ दिनों तक चलती रही। सन् १६९१ ई० में अफ़ज़ल ने हिंदी-गीतकाव्य परंपरा के अनुसार 'बारहमासा' लिखा जिसकी भाषा इस ढंग की है—

सखी रे! चैत रितु आई सुहाई।

अजहुँ उम्मीद मेरी बर न आई।

रहे हैं भँवर फूलोंके गले लाग।

मेरे सीनः जुदाई की लगी आग।
सखी दिन रैन मुझ नागिन डसत है।
फिरूँ दौरी तमामै जग हँसत है।

सन् १७०० के पीछे वलीने और दक्खिनी शायरों के समान कुछ दिनों तक हिंदीपन को रहने दिया। उसकी उन रचनाओं में हिंदी-काव्य-परंपरा के कुछ शब्द भारतीय कथा-प्रसंगों के कुछ संकेत, प्रेम-व्यापार में स्त्री-पुरुष का भेद आदि कुछ बातें बनी रहीं। जैसे—

इस रैन अँधेरी में मत भूल पड़ूँ तिससूँ।
टुक पाँवके बिछुवों की आवाज़ सुनाती जा॥
मुझ दिलके कबूतर को पकड़ा है तेरी लट ने।
यह काम धरम का है टुक इसको छुड़ाती जा॥
तुझ मुख की परस्तिश में गई उम्र मेरी सारी।
ऐ बुत की पुजनहारी इस बुत को पुजाती जा॥
मुख बात बोलता हूँ शिकवः तेरे कपट का।
तुझ नैन देखने को दिल ठांठ कर चुका था॥

पीछे शाह सादुल्लाह गुलशन ने 'वली' को हिदायत की कि "ये इतने फ़ारसी के मज़मून जो बेकार पड़े हैं, इन्हें काम में ला।" फिर तो वली ने अपना रुख़ ही पलट दिया और वे इस तरह के कलाम सामने लाने लगे—

जब सनम को ख़यालेे बाग़ हुआ।
तालिबे नश्शए फ़राग़ हुआ।

फ़ौज उश्शाक़ देख हर जानिब।
नाज़नीं साहबे दिमाग़ हुआ॥
अश्क सूँ तुझ लबां की सुरख़ी के।
जिगर लाल दाग़ दाग़ हुआ।

पहले के दक्खिनी शायर तो देश की श्रुति-रुचि के अनुसार जगह को 'जाघा' और 'अलहदः' को 'अलाधा' तक लिखते थे। फ़ारसी शब्दों के बहुवचन आदि हिंदी-व्याकरण के अनुसार रखते थे, पर वलीने 'आशिक़' का बहुवचन अरबी के क़ायदे पर 'उश्शाक़' रक्खा है और फ़ारसी समास के ढंगपर नशए-फराग़ और 'साहबे दिमाग़' लाए हैं। वली सन् १७०० ई० में दिल्ली आए। क़ायम ने सन् १७२० में वली के दीवान का दिल्ली पहुँचना लिखा है।

यहाँ से अब दिल्लीके शायरों की परंपरा उर्दू साहित्य में चली है। सन् १७०० ई० में दिल्ली में हातिम नाम के एक शायर थे। इन्होंने फिर हिंदीके शब्दोंकी छँटाई की; जिसका वर्णन उन्होंने आपही इस प्रकार किया है--

"लस्सान अरबी व ज़बान फ़ारसी कि करीबुलफ़हम व कसीरुल इस्तअमाल बाशद व रोज़मर्रा देहली कि मिर्ज़ायाने हिंद व फसीहाने रिंद दर महावरः दारंद मंज़ूर दाश्तः। सिवाए आँ ज़बान हिंदवी कि आँरा भाखा गोयंद मौकूफ करदः"।

तात्पर्य्य यह कि हातिम ने अरबी फ़ारसी के शब्द ला लाकर रखे और हिंदी या भाषा के शब्दों को निकाल फेंका। अरबी

फ़ारसी के बीच हिंदीके वे ही शब्द और मुहाविरे रहने पाए जिन्हें शाहज़ादे और सरदार लोग दरबार में बोलते थे। इस प्रकार उर्दू एक दरबारी भाषा भर रह गई। इतना होने पर भी इनकी कविताओं में भारतीय कथा-प्रसंगों के संकेत पाए जाते हैं-

खुदाके नूरका मथकर समुन्दर।
यही चौदह रतन काढ़े हैं बाहर॥
अगर फ़हमीद: हिकमत आशना है।
इसी नुसख़े में चौदह विद्या है॥

हातिम ही के समय में उर्दूके महाकवि 'सौदा' हुए हैं। जो पहले हिंदीपन से सटी हुई शायरी ही नहीं सर्व-साधारण में प्रचलित हिंदी भाषा की कविता भी करते थे और अच्छी करते थे। कुछ उद्धृत किए बिना आगे नहीं बढ़ते बनता। सौदाकी हिंदी ग़ज़ल-

निकलके चौखट से घर की प्यारे जो पट की ओझल ठिठक रहा है।
सिमटके घट से तेरे दरस को नयन में जी आ अटक रहा है।
अगिन ने तेरे विरह की जबसे झुलस दिया है कलेजा मेरा॥
हिये की धड़कन मैं क्या बताऊँ यूँ कोयला सा चटक रहा है।
जिन्हों की छाती से पार बरछी हुई है रन में वो सूरमा है,
पड़ा वो सावन्त मनमें जिसके विरह का काँटा खटक रहा है।
मुझे पसीना जो तेरे मुख पर दिखाई दे है तो सोचता हूँ,
य क्योंकि सूरज की जोत आगे हर एक तारा छटक रहा है।
हिलोर यों लेती ओस की बूँद लगके फूलों की पंखड़ी से।

तुम्हारे कानों में जिस तरह से हर एक मोती लटक रहा है।
कहीं जो लग चलने साथ देता हो इस तरह का कटर है पापी,
न जानूँ पेड़ी की धूल मैं हूँ जो मुझसे मुल्ला भटक रहा है।
कभू लगा है न आते जाते जो बैठकर टुक इसे निकालूँ,
सजन ! जो कांटा है तुझ गली का सो पग में मेरे अटक रहा है।
कोई जो मुझसे य पूछता होय क्यों तू रोता है कह तो हमसे,
हर एक आँसू मेरे नयन का जगह जगह सिर पटक रहा है।
गुनी हो कैसा ही ध्यान जिसका तेरे गुनों से लगा है प्यारे,
ग्यान परवत भी है जो उसका तो छोड़ उसको सटक रहा है।
जो बाट मिलने की होय उसका पता बता दो मुझे सिरीजन,
तुम्हारी बटियों में आज बरसों से यह बटोही भटक रहा है।
जो मैंने 'सौदा' से जाके पूछा तुझे कुछ अपने भी मन की सुध बुध
य रोके मुझसे कहा किसी की लटक में लटकी लटक रहा है।

सौदा के हिन्दी दोहे—

कारी रैन डरावनी घर तें होइ निरास।
जंगल में जा सो रहे कोऊ आस न पास॥
बैरी पहुँचे आइके तेरी देहली पास।
वेग ख़बर लो या नबी ! अब पत की नहिं आस॥
खीझ खीझ चहुँ ओर से पड़े वह ज़ालिम टूट।
वेवों को डरपाय के ले गये घर को लूट॥
कहै हरम सर पीट कर खोकर अपनी लाज।
माटी में सूल रल गये दीन दुनी के लाज॥

खोयौ तैंने नीर बिन नबी के मन को चैन।
ज़ालिम तेरे हाथ से प्यासो गयो हुसैन॥

उक्त दोहे मरसियों में आ गए हैं। उन्हीं में से अलग किए गए हैं। सौदा की पहेलियों की भाषा हिन्दी है पर उनकी और सब रचनाएँ हातिम की ही सरणी पर चलती हैं। उर्दू की शायरी में जो थोड़ा बहुत हिन्दीपन लुका छिपा था, वह लखनऊ जाने पर नासिख़ के हाथ से दूर किया गया। फिर तो वह हिन्दी से ऐसी हटी कि उसने अपना एक दायरा ही अलग कर लिया। उस दायरे से जगत, चंचल, नार, गुन, अकास, धरम, धन, करम, दया, बीर, बली ऐसे शब्द एक दम निकाल बाहर हुए। इसी प्रकार वस्तुओं में न कमल और न भँवरे रह गए न बसन्त और कोकिल, न वर्षाऋतु रह गई न सावन की हरयाली; न भीम और अर्जुन रह गए न कर्ण और भोज। इस प्रकार यहाँ की परंपरागत भाषा के आधे हिस्से से और परंपरागत साहित्य के सर्वांश से अर्थात् देश के सामान्य जीवन से उर्दू दूर हटा दी गई। जबरदस्ती जान बूझ कर हटाई गई, आप से आप नहीं हटी।

उर्दू के इस रूप में आने का परिणाम यह हुआ कि अपना प्रसार करने की स्वाभाविक शक्ति उसमें न रह गई। वह अपने को बनाए रखने के लिए मक़तबों और सरकारी दफ्तरों की मुहताज हो गई। यह बात अंगरेज़ी अमलदारी के प्रतिष्ठित हो जाने पर हमारे नवशिक्षित मुसलमान भाइयों को स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगी और वे उसकी रक्षा और प्रसार के कृत्रिम साधनों का अव-

लम्बन करने में लगे। मुसलमानी अमलदारी में सरकारी दफ्तर फारसी में थे। अतः ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भी कुछ दिनों तक सरकारी दफ्तरों की ज़बान फारसी ही रहने दी पर पीछे अधिकारियों को यह बात खटकने लगी, कि दफ्तरों की भाषा सर्वसाधारण की भाषा से बिलकुल अलग है। उनका ध्यान देश की प्रचलित भाषा की ओर गया। सन् १८३६ ई० में हमारे संयुक्त प्रदेश के सदरबोर्ड से एक इश्तहारनामा निकला जो इस प्रकार था—

इश्तहारनामः बोर्ड सदर—

पच्छाह के सदर बोर्ड के साहबों ने यह ध्यान किया है कि कचहरी के सब काम पारसी जबान में लिखा पढ़ा होने से सब लोगों को बहुत हर्ज पड़ता है और बहुत कलप होता है, और जब कोई अपनी अर्जी अपनी भाषा में लिख के सरकार में दाखिल करने पावे तो बड़ी बात होगी। सबको चैन आराम होगा इसलिए हुक्म दिया गया है कि सन् १२४४ की कुवार बदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर बोर्ड में हो सो अपना अपना सवाल अपनी हिन्दी की बोली में और पारसी के नागरी अच्छरन में लिख के दाखिल करे कि डाक पर भेजे और सवाल जौन अच्छरन में लिखा हो तौने अच्छरन में और हिन्दी बोली में उस पर हुक्म लिखा जायगा। मिती २९ जुलाई सन् १८३६ ई०।

खेद की बात है कि यह व्यवस्था चलने न पाई। मुसलमान भाइयों की ओर से इस बात का घोर प्रयत्न हुआ कि दफ्तरों में

हिन्दी घुसने न पाए, उर्दू चलाई जाय। अन्त में सन् १८३७ ई० से उर्दू दफ्तरों की भाषा कर दी गई। इसके उपरान्त जब सर्व-साधारण की शिक्षा के लिए सरकार की ओर से जगह जगह मदरसे खुलने की बात उठी और सरकार ने यह निश्चय किया कि संस्कृत की कक्षाएँ तोड़ दी जायँ और हिन्दी भाषा का पढ़ना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक कर दिया जाय, तब भी मुसलमान भाइयों की ओर से विरोध खड़ा किया गया और सन् १८४८ में उनकी प्रेरणा से कंपनी की सरकार ने यह आज्ञा निकाली "ऐसी ज़बान का इल्म तमाम तुलबा के लिए लाज़िम क़रार देना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी ज़बान नहीं है, हमारी राय में दुरुस्त नहीं। अलावः इसके मुसलमान तुलबा जिनकी तादाद इस देहली कालेज में बड़ी है, इसे अच्छी नज़र से नहीं देखेंगे।" हिन्दी के विरोध की यह चेष्टा बराबर बढ़ती गई। यहाँ तक कोशिश की गई कि वर्नाकुलर स्कूलों में उसकी शिक्षा जारी ही न होने पाए। हिन्दी की रक्षा के लिए राजा शिवप्रसाद को कितना यत्न करना पड़ा था, यह हिन्दीप्रेमी मात्र जानते हैं। सरकार की ओर से ज्ञान की वृद्धि के लिए एक संस्था (Society for promotion of knowledge in india through the medium of vernacular language) स्थापित हुई थी, जिसका उद्देश्य था अँगरेज़ी, फारसी, संस्कृत आदि की पुस्तकों का देशी भाषा में अर्थात् हिन्दी, उर्दू और बंगला में अनुवाद करना। पर उर्दू को छोड़कर न हिन्दी में कोई अनुवाद होने पाया न बंगला में।

सर सैय्यद अहमद साहब वास्तव में उर्दू को क्या समझते थे, यह उन्हीं की ज़बान से सुनिए। वे फ़रमाते हैं—"चूँकि यह ज़बान ख़ास बादशाही बाज़ारों में मुरव्वज थी इस वास्ते इसको ज़बान उर्दू कहा करते थे। और बादशाही अमीर उमरा इसको बोलते थे। गोया हिन्दुस्तान के मुसलमानों की यह ज़बान थी"। इस प्रकार उर्दू को उन्होंने केवल दरबारी अमीर उमरा और मुसलमानों की ज़बान तसलीम किया है।

मुसलमान किस तरह पहले अपने मज़हब की तालीम के लिए थोड़ी अरबी-फ़ारसी मिली एक ख़ास ढंग की हिन्दी काम में लाए, फिर धीरे धीरे हिन्दीपन निकालते निकालते बिल्कुल एक विदेशी ढाँचे की भाषा गढ़कर अपने लिखने की भाषा एक दम अलग कर ली, यह बात अब स्पष्ट हो गई होगी। मुहम्मदशाह के समय तक इस नई गढ़ी हुई भाषा का, जो पीछे उर्दू कहलाई, साहित्य-रचना के लिए प्रचार न हो सका था, इसका आभास हिन्दी के सूफ़ी कवि नूर मुहम्मद ने अपनी उस पुस्तक में दिया है जो उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'इन्द्रावती' के पीछे लिखी। पुस्तक का नाम है 'अनुरागबाँसुरी'। * नूर मुहम्मद के समय से मुसलमान देश की प्रचलित भाषा हिन्दी से किनारा खींचने लगे थे और मुसलमानों के लिए फ़ारसी में रचना करना ही जायज़ समझने लगे थे। 'इन्द्रावती' लिखने पर उन्हें उनके मुसलमान भाइयों ने

* यह पुस्तक अप्रकाशित है।

यह कहकर फटकारना शुरू किया कि "तुम मुसलमान होकर हिन्दी में क्यों लिखने गये" इसी से बेचारे को 'अनुराग-बाँसुरी' में अपनी सफ़ाई इन शब्दों में देनी पड़ी—

जानत है वह सिरजन हारा। जो कछु है मन मरम हमारा॥
हिन्दू-मग पर पाँव न राखेउँ। का जौ बहुतै हिन्दी भाखेउँ॥

जिसे उर्दू कहते हैं उसका उस समय साहित्य में कोई स्थान न था, यह नूरमुहम्मद के इस कथन से साफ़ झलकता है—

†कामयाब कहँ कौन जगावा। फिर हिन्दी भाखै पर आवा॥
छाँड़ि पारसी कंद नबातैं। अरुझाना हिन्दी-रस बातैं॥

जनता से अपने को बिल्कुल अलग दिखाने के लिए मुसलमानों ने ही अपने लिए विदेशी ढाँचे की एक अलग भाषा और साहित्य खड़ा किया, यह इतनी प्रत्यक्ष बात है कि किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। उर्दू की प्राचीनता दिखाने के लिए दक्खिनी शायरों की जो लंबी सूची सामने लाई गई है, उसमें कोई हिंदू भी है ? शायद एक या दो। और जाने दीजिए 'आबे हयात' ही उठा लीजिए। उसमें सबके सब शायर मुसलमान ही ही तो हैं ! अब और सबूत क्या चाहिए ? इतने पर भी न जाने किस मुँहसे यह कहा जाता है कि हिंदुओं और मुसलमानों के मेलसे उर्दू पैदा हुई। मेलसे पैदा हुई चीज़ की यही सूरत होती है ?

---

† नूरमुहम्मद फ़ारसी की रचनाओं में अपना तख़ल्लुस 'कामयाब' रखते थे।

आज सबसे बढ़कर खेद तो तब होता है जब कोई कानून-पेशा हिंदू, पेट के पीछे जिसके घराने का लगाव देश की परंपरागत संस्कृति और साहित्य से बिल्कुल टूट गया हो, जिसकी प्रारंभिक शिक्षा केवल फारसी तथा अदालती भाषा उर्दू की हुई हो, किसी जलसे या मुशायरे में उर्दू को हिंदू-मुसलिम कल्चर के मेल से वजूद में आई हुई एक मुश्तरकः ज़बान बताने लगता है। हम पूछते हैं कि जब तुम 'हिंदू कल्चर' से कोसों दूर पड़ गए हो तब उसका मेल कहाँ और कितना है, यह क्या पहचान सकते हो ? बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात इत्यादि के साहित्य की कुछ ख़बर है ? जब तुम ऐसे कूप-मंडूक हो कि अपने तंग घेरे के बाहर नज़र ही नहीं फैला सकते, तब इस रोशनी के ज़माने में चुप क्यों नहीं रहते ? साहित्य की जो देश-व्यापक परंपरा बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात आदि और प्रांतों में चली आ रही है, वही परंपरा तो हिंदी की भी है—अर्थ परंपरा भी और शब्द-परंपरा भी। इसी अर्थ-परंपरा और शब्द-परंपरा से इस देश की दस बारह करोड़ जनता परिचित है। इसीको वह अपना समझती आई है। जिसने उर्दू नहीं पढ़ी है उसे ज़रा अपनी 'मुश्तरकः आम-फ़हम' में कोई 'सयासी तक़रीर' सुनाइए तो पता लगे। हमें सबसे बढ़कर क्षोभ उस समय हुआ था जब हिंदुस्तानी के किसी जलसे में एक साहब यह फ़रमा गए थे कि "मैं तुलसी और कबीर को समझ लेता हूँ पर आजकल की हिंदी बहुत कम समझ पाता हूँ"। इस प्रलाप का भी कहीं ठिकाना है ? जो आजकल के

साहित्य की भाषा नहीं समझता वह भला तुलसी की भाषा क्या समझेगा? संस्कृत शब्दों की जो परंपरा सूर तुलसी आदि की रचनाओं में चली आई थी वही आजकल भी चली आ रही है।

जिस प्रकार 'हिन्दवीपन' निकाल निकाल कर एक विदेशी ढाँचे की भाषा खड़ी करने का क्रमबद्ध इतिहास है उसी प्रकार उस भाषा को सबके गले मढ़ने के लिये हिन्दी को दूर रखने के घोर प्रयत्न का भी ख़ासा इतिहास है जो उस समय से शुरू होता है जब देश का पूरा शासन अँगरेज़ों के हाथ में आया। इन दोनों इतिहासों का संक्षेप में उल्लेख करके अब मैं वर्त्तमान परिस्थिति पर आता हूँ। अब तक शिक्षा का लक्ष्य अधिकतर सरकारी नौकरी रहा है। अतः इस बात का प्रयत्न बराबर होता रहा है कि दफ्तरों में हिंदी न घुसने पाए। दफ्तरों की भाषा जब तक उर्दू रहेगी तबतक झखमार कर लोगों को अपने बच्चों को उर्दू की शिक्षा देनी पड़ेगी और यह कहने का मौक़ा रहेगा कि उर्दू पढ़े लिखे लोगों की भाषा है। अगर दफ्तरों की भाषा होना ही प्रचलित भाषा होने का प्रमाण है तब तो फ़ारसी भी, जो कई सौ वर्ष तक दफ्तरों की भाषा रही है, देश की प्रचलित भाषा मानी जानी चाहिए।

जिस समय उर्दू के साथ साथ—उसे हटाकर नहीं—हिंदी को भी स्थान दिलाने के लिए सर ऐंटनी मैकडानल के समय में आन्दोलन उठा उस समय भी पूरा विरोध मुसलमानों की ओर से खड़ा किया गया। अदालतों से ही नहीं शिक्षा पद्धति से भी

हिन्दी को हटाने के प्रयत्न बराबर होते रहे हैं, यह दिखाया जा चुका है। अब आजकल की परिस्थिति देखिए। जो लोग राजनीतिक दृष्टि से हिन्दू-मुसलिम एकता अत्यन्त आवश्यक समझते हैं वे एक बीच का रास्ता पकड़ कर 'हिन्दुस्तानी' लेकर उठे हैं। इस हिन्दुस्तानी का समर्थन कुछ उदार समझे जाने वाले मुसलमान और उर्दू की गोद में पले हिन्दू भी कर रहे हैं। हम भोली भाली जनता को इस 'हिन्दुस्तानी' से सावधान करना अत्यन्त आवश्यक समझते हैं। जो हिन्दुस्तानी इन लोगों के ध्यान में है वह थोड़ी छनी हुई उर्दू के सिवा और कुछ नहीं है। उर्दू के सब लक्षण—जैसे वाक्य-रचना की फारसी शैली, अरबी-फारसी के अप्रचलित मुंशी-फ़हम शब्द, अरबी-फारसी क़ायदे के बहुवचन उसमें वर्त्तमान रहेंगे तब तो वह 'हिन्दुस्तानी' कहलाएगी, अन्यथा नहीं।

साहित्य, विज्ञान, दर्शन इत्यादि के काम की हिन्दुस्तानी नहीं हो सकती, यह तो इसके समर्थक भी स्वीकार करते हैं। हमारा कहना है कि साधारण बोलचाल और व्यवहार के लिए भी जिस प्रकार की 'हिन्दुस्तानी' हमारे उर्दू-परस्त दोस्तों के ध्यान में है वह चलने वाली नहीं है। साधारण लिखा पढ़ी और व्यवहार में भी वही भाषा चल सकती है जिसमें ठेठ हिन्दी-शब्दों के अतिरिक्त जैसे सब प्रकार के लोगों द्वारा बोले जाने वाले अरबी फ़ारसी के शब्द आएँ, वैसे ही संस्कृत के भी। पर क्या भूल कर भी प्रचलित से प्रचलित संस्कृत शब्द, जिसे गाँवों

में बसने वाली अपढ़ जनता तक बराबर बोलती आ रही है— हिन्दुस्तानी में कभी स्थान पा सकता है? जहाँ एक भी ऐसा शब्द आया कि हमारे मेहरबान दोस्तों को 'भाखापन' की गंध आने लगेगी।

साधारण लिखा-पढ़ी अदालती व्यवहार तथा बोलचाल के लिए यदि एक सच्ची सामान्य भाषा 'हिन्दुस्तानी' के नाम से ग्रहण कर ली जाय तो कोई हर्ज नहीं। पर उस हिन्दुस्तानी में जिस प्रकार अरबी-फारसी के ऐसे चलते शब्द आएँ जैसे—

जरूर, क़ाबू, इख़्तियार, दावा, वक्त, सलाह, क़ायदा, क़ानून हिम्मत, हैरान, सिफ़ारिश, अरजी, नरम, गरम, मुलायम, ग़रीब, अमीर, इज्ज़त, क़सूर, माफ़, मरज़ी, ग़रज़, किफ़ायत, नफ़ा, नुक़सान, तकाज़ा, उम्र, दरवाज़ा, रंज, ग़ुस्सा, किस्सा, तनख़ाह, तदबीर, पेशा, साल, शकल, सूरत, ऐब, हुनर, हाज़िर, सवाल, जवाब, सज़ा, मुनासिब, सही, ग़लत, मंज़ूर।

उसी प्रकार नित्य बोले जाने वाले ऐसे संस्कृत के शब्द भी आएँ जैसे—

विद्या, परीक्षा, ज्ञान, धर्म, अधर्म, पाप, पुण्य, अपराध, न्याय, अन्याय, उपाय, युक्ति, कला, आकाश, पृथ्वी, क्षमा, दया, माया, प्रेम, प्रीति, क्रोध, ईर्षा, शोच, चिन्ता, सुख, दुःख, सम्पत्ति विपत्ति, शरण, चरण, धन, मान, मर्य्यादा, प्रतिष्ठा, कृपा, बन्धन, नाश, रक्षा, वस्तु, सन्तोष, औषध, वश, भोगविलास, आनन्द, पर्वत, जल, धारा, स्नान, ध्यान, शीत, ताप, शोभा, सुंदरता,

तेज, प्रताप, बल, पराक्रम, पौरुष, वीरता, शरीर, देह, कोमल, सुकुमार, शुद्ध, अशुद्ध, पवित्र, इच्छा, अक्षर, वाणी, कंठ, अर्थ, मनोरथ, कामना, इत्यादि।

है ऐसी आशा? यदि नहीं तो ऐसी हिन्दुस्तानी को दूर से नमस्कार!

हिन्दी और हिन्दुस्तानी

भाषण सदा प्रयुक्त साहित्य में आता है। सदा उसका निश्चित प्रयोजन रहता है किसी विषय का प्रतिपादन.। उसकी प्रतिपादन-शैली ही उसका प्राण होती है और भाषा की सरलता उसका शृङ्गार। इस भाषण की शैली और भाषा दोनों ही सौम्य हैं। शुक्लजी के निबंध-सम्बन्धी सभी गुण इसमें हैं। पर सरलता इसकी विशेषता है। शुक्लजी समास-शैली में गंभीर भाषा लिखते हैं पर यहाँ शैली भी 'व्यास' है और भाषा भी टकसाली व्यवहार की है। शुक्लजी आलोचना और इतिहास के दृष्टिकोण से मार्मिक विचार प्रकट किया करते हैं। यहाँ भी यही हुआ है, पर बातें इस ढंग से आई हैं कि हिन्दी का साधारण श्रोता भी उन्हें समझ लेता है। साहित्य, भाषा, हिन्दी, हिंदुस्तानी आदि की परिभाषाएँ ऐसे रूप में आई हैं कि जो चाहे उन्हें जान सकता है।

'छनी हुई उर्दू' को हिंदुस्तानी कहना वक्ता ने अनुचित माना है, इसीसे हिंदी और उर्दू दो भाषाएँ रखना ही अच्छा है। यदि व्यवहार में आनेवाली जनता की भाषा जिसमें फ़ारसी और संस्कृत सभी के चलते शब्द आ जाते हैं, हिंदुस्तानी मानी जाय तो अवश्य मानी जा सकती है।

दो मसजिदें

आज कल समाचार पत्रों में लाहौर की शहीदगंज मसजिद की प्रतिदिन कुछ-न-कुछ चर्चा होती रहती है। शहर में काफी खलबली मची हुई है, दोनों तरफ़ मज़हबी जोश दीखता है। एक दूसरे पर हमले होते हैं, एक दूसरे की बदनीयती की शिकायतें होती हैं, और बीच में एक पंच की तरह अंगरेज़ी हुकूमत अपनी ताकत दिखलाती है। मुझे न तो वाक़यात ही ठीक-ठीक मालूम है कि किसने यह सिलसिला पहले छेड़ा था, या किसकी गलती थी, और न इसकी जाँच करने की मेरी कोई इच्छा ही है। इस तरह के धार्मिक जोश में मुझे बहुत दिलचस्पी भी नहीं है; लेकिन दिलचस्पी हो या न हो, पर जब वह दुर्भाग्य से पैदा हो जाय, तो उसका सामना करना ही पड़ता है। मैं सोचता था कि हम

लोग इस देश में कितने पिछड़े हुए हैं कि अदना-अदनासी बातों पर जान देने को उतारू हो जाते हैं; पर अपनी गुलामी और फ़ाकेमस्ती सहने को तैयार रहते हैं।

इस मसजिद से मेरा ध्यान भटककर एक दूसरी मसजिद की तरफ़ पहुँचा। वह एक बहुत प्रसिद्ध ऐतिहासिक मसजिद है, और क़रीब चौदह सौ वर्ष से उसकी तरफ़ लाखों-करोड़ों निगाहें देखती आई हैं। वह इस्लाम से भी पुरानी है, और उसने अपनी इस लम्बी जिन्दगी में न जाने कितनी बातें देखी हैं। उसके सामने बड़े-बड़े साम्राज्य गिरे, पुरानी सल्तनतों का नाश हुआ, धार्मिक परिवर्तन हुए। ख़ामोशी से उसने यह सब देखा, और हर क्रांति और तबादले पर उसने अपनी भी पोशाक बदली। चौदह सौ वर्ष के तूफ़ानों को इस आलीशान इमारत ने बरदास्त किया; बारिश ने उसको धोया, हवा ने अपने बाज़ुओं से उसको रगड़ा; मिट्टी ने उसके बाज़ हिस्सों को ढँका। बुज़ुर्गी और शान उसके एक-एक पत्थर से टपकती है। मालूम होता है, उसकी रग-रग और रेशे-रेशे में दुनिया-भर का तजुर्बा इस डेढ़ हजार वर्ष ने भर दिया है। इतने लम्बे ज़माने तक प्रकृति के खेलों और तूफ़ानों की बरदास्त कठिन थी; लेकिन उससे भी अधिक कठिन था मनुष्य की हिमाक़तों और वहशतों को सहना। पर उसने यह भी सहा। उसके पत्थरों की ख़ामोश निगाहों के सामने साम्राज्य खड़े हुए और गिरे। मज़हब उठे और बैठे; बड़े से बड़े बादशाह, ख़ूबसूरत से ख़ूबसूरत औरतें, लायक से लायक आदमी चमके

और फिर अपना रास्ता नाप कर ग़ायब हो गये। हर तरह की वीरता उन पत्थरों ने देखी और देखी हर प्रकार की नीचता और कमीनापन। बड़े और छोटे, अच्छे और बुरे, सब आये और चल बसे; लेकिन वे पत्थर अभी क़ायम हैं। क्या सोचते होंगे वे पत्थर, जब वे आज भी अपनी ऊँचाई से मनुष्यों की भीड़ों को देखते होंगे—उनके बच्चों का खेल, उनके बड़ों की लड़ाई, फ़रेब और बेवक़ूफ़ी। हजारों वर्ष में इन्होंने कितना कम सीखा! कितने दिन और लगेंगे कि इनको अक़्ल और समझ आये?

समुद्र की एक पतली-सी बाँह एशिया और यूरोप को वहाँ अलग करती है—एक चौड़ी नदी की भाँति वासफोरस बहता है और दो दुनियाओं को जुदा करता है। उसके युरोपियन किनारे की छोटी छोटी पहाड़ियों पर वाइजेन्टियेम की पुरानी बस्ती थी। बहुत दिनों से वह रोमन साम्राज्य में थी, जिसकी सरहद ईस्वी की शुरू की शताब्दियों में ईराक़ तक थी; लेकिन पूरब की ओर से इस साम्राज्य पर अकसर हमले होते थे। रोम की शक्ति कुछ कम हो रही थी, और वह अपनी दूर-दूर की सरहदों की ठीक तरह रक्षा नहीं कर सकता था। कभी पश्चिम और उत्तर में जर्मन वहशी (जैसा कि रोमन लोग उन्हें कहते थे) चढ़ आते थे, और उनका हटाना मुश्किल हो जाता था। तो कभी पूरब में ईराक़ की तरफ़ से या अरब से एशियाई लोग हमले करते और रोमन फ़ौजों को हरा देते थे।

रोम के सम्राट् कान्सटेन्टाइन ने यह फ़ैसला किया कि अपनी

राजधानी पूरब की ओर ले जाय, ताकि वह पूर्वी हमलों से साम्राज्य की रक्षा कर सके। उसने बासफोरस के सुन्दर तट को चुना और बाइजेन्टियेम की छोटी पहाड़ियों पर एक विशाल नगर की स्थापना की। ईस्वी की चौथी सदी खतम होने वाली थी, जब कान्सटेन्टिनोपल (उर्फ़ कुस्तुन्तुनिया) का जन्म हुआ। इस नवीन प्रबन्ध से रोमन साम्राज्य पूरब में ज़रूर मजबूत हो गया, लेकिन अब पश्चिम की सरहद और भी दूर पड़ गई। कुछ दिन बाद रोमन साम्राज्य के दो टुकड़े हो गये—एक पश्चिमी साम्राज्य और दूसरा पूर्वी साम्राज्य। कुछ वर्ष बाद पश्चिमी साम्राज्य को उसके दुश्मनों ने खतम कर दिया; लेकिन पूर्वी साम्राज्य एक हजार वर्ष से अधिक और कायम रहा और बाइ-जेन्टाइन साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध रहा।

सम्राट् कान्सटेन्टाइन ने केवल राजधानी ही नहीं बदली; परन्तु उससे भी बड़ा एक परिवर्तन किया। उसने ईसाई धर्म स्वीकार किया। उसके पहले ईसाइयों पर रोम में बहुत सख्तियां होती थीं। जो उनमें से रोम के देवताओं को नहीं पूजता था या सम्राट् की मूर्ति का पूजन नहीं करता था, उसको मौत की सज़ा मिल सकती थी। अक्सर उसे मैदान में भूखे शेरों के सामने फेंक दिया जाता था। यह रोम की जनता का एक बहुत प्रिय तमाशा था। रोम में ईसाई होना एक बहुत खतरे की बात थी। वे तो बाग़ी समझे जाते थे। अब एकाएक ज़मीन आसमान का फ़र्क़ हो गया। सम्राट स्वयं ईसाई हो गया, और ईसाई धर्म

सबसे आदरणीय समझा जाने लगा। अब वेचारे पुराने देवताओं के पूजनेवाले मुश्किल में पड़ गये, और बाद के सम्राटों ने तो उनको बहुत सताया। केवल एक सम्राट् फिर ऐसे हुए (जूलियन) जो ईसाई धर्म को तिलांजलि देकर फिर देवताओं के उपासक बन गये; परन्तु तब ईसाई धर्म बहुत जोर पकड़ चुका था, इस लिए वेचारे रोम और ग्रीस के प्राचीन देवताओं को जंगल की शरण लेनी पड़ी, और वहाँ से भी वे धीरे-धीरे ग़ायब हो गये।

इन पूर्वी रोमन साम्राज्य के केन्द्र कुस्तुन्तुनियाँ में सम्राटों की आज्ञा से बड़ी-बड़ी इमारतें बनीं, और बहुत जल्द वह एक विशाल नगर हो गया। उस समय यूरोप में कोई भी दूसरा शहर उसका मुक़ाबला नहीं कर सकता था—रोम भी बिलकुल पिछड़ गया था। वहाँ की इमारतें एक नई तर्ज़ की बनीं, एक नई भवन बनाने की कला का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें मेहराब, गुम्बज, बुर्जियाँ, खम्भे इत्यादि अपनी ही तर्ज़ के थे, और जिसके अन्दर और खम्भों वग़ैरह पर बारीक मोज़ाइक (पच्चीकारी) का काम होता था। यह इमारती कला बाइजेन्टाइन कला के नाम से प्रसिद्ध है। छठी सदी में कुस्तुन्तुनिया में एक आलीशान केथी-ड्रेल (बड़ा गिरजा) इस कला का बनाया गया, जो सांक्टा सोफ़िया या सेन्ट-सोफिया के नाम से मशहूर हुआ।

पूर्वी रोमन साम्राज्य का यह सब में बड़ा गिरजा था, और सम्राटों की यह इच्छा थी कि वह बेमिसाल बने और अपनी शान और ऊँचे दर्जे की कला में साम्राज्य के योग्य हो। उनकी

इच्छा पूरी हुई, और यह गिरजा अब तक वाइजेन्टाइन कला की सबसे बड़ी फ़तह समझा जाता है। बाद में ईसाई धर्म के दो टुकड़े हुए (हुए तो कई, लेकिन दो बड़े टुकड़ों का ज़िक्र है) और रोम और कुस्तुन्तुनिया में धार्मिक लड़ाई हुई। वे एक दूसरे से अलग हो गए। रोम का बिशप (बड़ा पादरी) पोप हो गया और वह यूरोप के पश्चिमी देशों में बड़ा माना जाने लगा, लेकिन पूर्वी रोमन साम्राज्य ने उसको नहीं माना, और वहाँ का ईसाई फ़िरक़ा अलग हो गया। यह फिरका ऑर्थोडाक्स चर्च कहलाने लगा, या अक्सर ग्रीक चर्च भी कहलाता था, क्योंकि वहाँ की बोली ग्रीक हो गई थी। ऑर्थोडाक्स चर्च रूस और उसके आस पास भी फैला था।

सेंट सोफिया का केथीड्रल ग्रीक चर्च (धर्म) का केन्द्र था, और नौ सौ वर्ष तक वह ऐसा ही रहा। बीच में एकाएक रोम के पक्षपाती ईसाई (जो आये थे मुसलमानों से क्रूसेड्स-जेहाद लड़ने) कुस्तुन्तुनिया पर टूट पड़े, और उस पर उन्होंने क़ब्ज़ा भी कर लिया, लेकिन वे जल्द ही निकाल दिए गए।

आख़िर में जब पूर्वी रोमन साम्राज्य एक हजार वर्ष से अधिक चल चुका था और सेंट-सोफिया की अवस्था भी लगभग नौ सौ वर्ष की हो रही थी, तब एक नया हमला हुआ, जिसने उस पुराने साम्राज्य का अंत कर दिया। पंद्रहवीं सदी में ओस्मा-नली तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर फ़तह पाई। नतीजा यह हुआ कि वहाँ का जो सबसे बड़ा ईसाई केथीड्रल था, वह अब सबसे बड़ी

मसजिद हो गई। सेंट सोफिया का नाम आया सुफीया हो गया। उसकी यह नई ज़िन्दगी भी लम्बी निकली—सैकड़ों वर्षों की। एक तरह से वह आलीशान मसजिद एक ऐसी निशानी बन गई, जिस पर दूर-दूर से निगाहें आकर टकराती थीं और बड़े बड़े मनसूबे गाँठती थीं। उन्नीसवीं सदी में तुर्की साम्राज्य कमज़ोर हो रहा था, और रूस बढ़ रहा था। रूस इतना बड़ा देश होते हुए भी एक बन्द देश था। उसके साम्राज्य भर में कोई ऐसा खुला बन्दरगाह नहीं था जो सर्दियों में बर्फ से खाली रहे और काम आ सके, इसलिए वह कुस्तुन्तुनिया की ओर लोभभरी आँखों से देखता था। इससे भी अधिक आकर्षण आध्यात्मिक और सांस्कृतिक था। रूस के ज़ार (सम्राट्) अपने को पूर्वी रोमन सम्राटों के वारिस समझते थे, और उनकी पुरानी राजधानी को अपने क़ब्ज़े में लाना चाहते थे। दोनों का मज़हब वही आर्थोडाक्स ग्रीक चर्च था, जिसका नामी गिरजा सेंट-सोफिया था। रूस को यह असह्य था कि उसके धर्म का सबसे पुराना और प्रतिष्ठित गिरजा मसजिद बना रहे। उसके ऊपर जो इस्लाम की निशानी हिलाल या अर्द्ध-चन्द्र था, उसके बजाय ग्रीक क्रास होना चाहिए।

धीरे धीरे उन्नीसवीं सदी में ज़ारों का रूस कुस्तुन्तुनिया की ओर बढ़ता गया। जब करीब आने लगा, तब यूरोप की और शक्तियाँ घबराईं। इंगलैंड और फ्रांस ने रुकावटें डालीं, लड़ाई हुई, रूस कुछ रुका। लेकिन फिर वही कोशिश जारी हो गई, फिर वही राजनीतिक पेंच चलने लगे। आखिरकार सन् १९१४

की बड़ी लड़ाई आरम्भ हुई, और उसमें इंगलैंड फ्रांस, रूस और इटली में खुफिया समझौते हुए! दुनिया के सामने तो ऊँचे सिद्धान्त रखे गये आज़ादी के और छोटे देशों की स्वतंत्रता के; लेकिन परदे के पीछे गिद्धों की तरह लाश के इंतज़ार में उसके बँटवारे के मनसूबे निश्चित किये गये।

पर यह मनसूबे भी पूरे नहीं हुए। उस लाश के मिलने के पहले ज़ारों का रूस ही ख़तम हो गया। वहाँ क्रांति हुई, और हुकूमत और समाज दोनों का ही उलट फेर हो गया। बोल्शेविकों ने तमाम पुराने खुफिया समझौते प्रकाशित कर दिये, यह दिखाने को कि यह यूरोप की बड़ी-बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियाँ कितनी धोकेबाज़ हैं। साथ ही इस बात की घोषणा की कि वे (बोल्शेविक) साम्राज्यवाद के विरुद्ध हैं, और किसी दूसरे देश पर अपना अधिकार नहीं जमाया चाहते। हर एक जाति को स्वतंत्र रहने का अधिकार है।

यह सफ़ाई और नेकनीयती पश्चिम की विजयी शक्तियों को पसंद नहीं आई। उनकी राय में खुफिया सन्धियों का ढिंढोरा पीटना शराफ़त की निशानी नहीं थी। ख़ैर, अगर रूस की नई हुकूमत नालायक है, तो कोई वजह न थी कि वे अपने अच्छे शिकार से हाथ धो बैठें। उन्होंने—ख़ासकर अंग्रेजों ने—कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा किया। ४८६ वर्ष बाद इस पुराने शहर की हुकूमत इस्लामी हाथों से निकलकर फिर ईसाई हाथों में आई। सुलतान-ख़लीफ़ा जहाँ मौजूद थे, लेकिन वे एक मुर्दे की भाँति

थे ; जिधर मोड़ दिये जायँ, उधर ही घूम जाते थे। आया सुफीया भी हस्बमामूल खड़ी थी और मसजिद थी; लेकिन उसकी वह शान कहाँ, जो आज़ाद वक्त में थी, जब स्वयं सुलतान उसमें जुमे की नमाज़ पढ़ने जाते थे !

सुलतान ने सिर झुकाया, ख़लीफ़ा ने ग़ुलामी तसलीम की; लेकिन चन्द तुर्क ऐसे थे, जिनको यह स्वीकार न था। उनमें से एक मुस्तफ़ा कमाल था, जिसने ग़ुलामी से बग़ावत को बेह-तर समझा।

इस अरसे में कुस्तन्तुनिया के एक और वारिस और हक़दार पैदा हुए—ये ग्रीक लोग थे। लड़ाई के बाद ग्रीस को मुफ्त में बहुत सी ज़मीन मिली, और वह पुराने पूर्वी रोमन साम्राज्य का स्वप्न देखने लगा। अभी तक रूस रास्ते में था, और तुर्की तो मौजूद ही था। अब रूस मुकाबले से हट गया, और तुर्क लोग हारते हुए परेशान पड़े हुए थे। रास्ता साफ मालूम होता था। इंगलैंड और फ्रांस के बड़े आदमियों को भी राज़ी कर लिया गया, फिर दिक्कत क्या ?

लेकिन एक बड़ी कठिनाई थी। वह कठिनाई थी मुस्तफ़ा कमालपाशा। उसने ग्रीक हमले का मुक़ाबिला किया और अपने देश से ग्रीक फ़ौजों को बुरी तरह हराकर निकाला। उसने सुल-तान ख़लीफ़ा को, जिसने अपने मुल्क के दुश्मनों का साथ दिया था, एक गद्दार (देशद्रोही) कहकर निकाल दिया। उसने मुल्क से सल्तनत और ख़िलाफ़त दोनों का सिलसिला ही मिटा दिया।

उसने अपने गिरे और थके हुए मुल्क को हज़ार कठिनाइयों और दुश्मनों के सामने खड़ा किया और उसमें फिर नई जान फूँक दी। उसने सबसे बड़े परिवर्तन धार्मिक और सामाजिक किये। स्त्रियों को परदे के बाहर खींचकर जाति में सबसे आगे रखा। उसने धर्म के नाम पर कट्टरपने को दबा दिया और सिर नहीं उठाने दिया। उसने सबमें नई तालीम फैलाई--हज़ार वर्ष पुराने रिवाजों और तरीक़ों को ख़तम किया।

पुरानी राजधानी कुस्तुन्तुनिया को भी उसने इस पदवी से उतार दिया। डेढ़ हजार वर्ष में वह दो बड़े साम्राज्यों की राजधानी रही थी। अब राजधानी एशिया में अंगोरा नगर हो गया- एक छोटा सा शहर लेकिन तुर्कों की नई शक्ति का एक नमूना। कुस्तुन्तुनिया का नाम भी बदल गया—वह इस्ताम्बूल होगया।

और आया सूफ़िया ? उसका क्या हशर हुआ ? वह चौदह सौ वर्ष की इमारत इस्ताम्बूल में खड़ी है, और ज़िन्दगी के ऊँच-नीच को देखती जाती है। नौ सौ वर्ष तक उसने ग्रीक धार्मिक गाने सुने और अनेक सुगंधियों को, जो ग्रीक पूजा में रहती हैं, सूँघा। फिर चार सौ अस्सी वर्ष तक अरबी अजान की आवाज़ उसके कानों में आई और नमाज पढ़नेवालों की क़तारें उसके पत्थरों पर खड़ी हुईं।

और अब ?

एक दिन कुछ महीनों की बात है,---इसी साल १९३५ में—गाज़ी मुस्तफ़ा कमालपाशा (जिनको अब ख़ास खिताब और नाम

आता तुर्क का दिया गया है) के हुक्म से आया सूफ़िया मस-जिद नहीं रही। बगैर किसी धूम-धाम के वहाँ के होजा लोग (मुसलिम मुल्ला वगैरह) हटा दिये गये और अन्य मसजिदों में भेज दिये गये। अब यह तय हुआ कि आया सूफ़िया वजाय मसजिद के एक म्यूज़ियम (संग्रहालय) हो--ख़ासकर बाइजे-न्टाइन कलाओं का। बाइजेन्टाइन ज़माना तुर्कों के आने के पहले का ईसाई ज़माना था। तुर्कों ने क़ुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा १४५२ ई० में किया था। उस समय से समझा जाता है कि बाइजेन्टाइन कला ख़तम हो गई, इस लिए अब आया सूफ़िया एक प्रकार से फिर ईसाई ज़माने को वापस चली गई--मुस्तफ़ा कमाल के हुक्म से !

आजकल वहाँ ज़ोरों को खुदाई हो रही है। जहाँ-जहाँ मिट्टी जम गई थी, हटाई जा रही है, और पुराने मोज़ाइक्स निकल रहे हैं। बाइजेन्टाइन कला के जानने वाले अमेरिका और जर्मनी से बुलाये गये हैं, और उन्हीं की निगरानी में काम हो रहा है। फाटक पर संग्रहालय की तख़्ती लटकती है, और दरबान बैठा है। उसको आप अपना छाता छड़ी दीजिए, उनका टिकट लीजिए और अंदर जाकर इस प्रसिद्ध पुरानी कला के नमूने देखिये। और देखते देखते इस संसार के विचित्र इतिहास पर विचार कीजिए; अपने दिमाग़ को हज़ारों वर्ष आगे पीछे दौड़ाइए; क्या क्या तसबीरें, क्या क्या तमाशे, क्या क्या ज़ुल्म, क्या क्या अत्याचार आपके सामने आते हैं। उन दीवारों से कहिये कि वे

आपको अपनी कहानी सुनावें, अपने तजरुबे आपको दे दें। शायद कल और परसों जो गुज़र गये, उन पर ग़ौर करने से हम आज को समझें; शायद भविष्य के परदे को भी हटा कर हम झाँक सकें।

लेकिन वे पत्थर और दीवारें खामोश हैं। उन्होंने एतवार की ईसाई पूजा बहुत देखीं और बहुत देखीं जुमे की नमाजें। अब हर दिन की नुमाइश है उनके साये में। दुनिया बदलती रही; लेकिन वे कायम हैं। उनके घिसे हुए चेहरेपर कुछ हल्की मुसकराहट सी मालूम होती है, और धीमी आवाज़ सी कानों में आती है—'इन्सान भी कितना बेवक़ूफ़ और जाहिल है कि वह हजारों वर्ष के तजरुबे से नहीं सीखता और बार बार वही हिमाकतें करता है।

दो मस्जिदें

प्रतिभा, श्रुत और अभ्यास के योग से सच्चा साहित्य उत्पन्न होता है। प्रतिभा प्रगट होती है संकल्पात्मक अनुभूति में श्रुत और अभ्यास पीछे उसे अभिव्यक्त करके संवेदनीय और व्यवहार्य बनाते हैं। वाल्मीकिने एक शिकारी को शिकार करते देखा। वे ध्यानस्थ थे—हृदय की पवित्र भूमि में। उन्हें शोक हुआ पर उस शोक का संबंध उस एक शिकारी से नहीं था प्रत्युत उसका संबंध शिकारी मात्र से था। इसी से उन्हें संकल्पात्मक अनुभूति हुई। उसी अनुभूति को उनके विशाल 'श्रुत' और कला के अभ्यास ने महाकाव्य बना दिया—इतिहास की पाषाण मूर्ति को काव्य का दुकूल पहना दिया।

जवाहरलाल नेहरू स्वाधीनता का ध्यान कर रहे थे–हृदय की पवित्र भूमि में विचर रहे थे। देखा कि सामने शहीदगंज मज़हबी शिकारियों का शिकार हो रहा है। उन्हें एक वेदना हुई–संकल्पात्मक अनुभूति हुई। तीव्र अनुभूति ने उनकी शिक्षा और कला के ढाँचे में ढलकर एक निबंध का रूप पाया।

इसमें उनकी बहुश्रुतता का पूरा प्रमाण है। कैसे सरल और सीधे ढंग से उन्होंने 'आया सोफिया' का इतिहास सुना दिया है। इस निबंध की शैली और भाषा जैसी स्वाभाविक, सरल सौम्य और भावों के साथ बहने वाली है उसीसे लेखन कला का अभ्यास जान पड़ जाता है। वर्णन तो ऐसा अद्भुत है कि आया सोफिया के पत्थर भी सजीव होकर बोल उठे हैं। सची बात तो यह है कि यह दो मस्जिदों का नहीं---दो मनो-भावों का वर्णन है। और वह भी हृदय की कलम से लिखा गया।

अन्तिम वाक्य में समस्त निबन्ध की अन्तरात्मा का निचोड़ है। कोई कलाकार कदाचित् उसे स्वतः ध्वनित होने के लिए छोड़ देता और इससे अधिक मार्मिक शब्दों में उपसंहार उपस्थित करता पर स्पष्ट वक्ता लेखक ने सब कुछ जो उसे कहना था–कह दिया।

इस ऐतिहासिक कहानी में निबंध के सभी गुण विद्यमान हैं। ज्ञातव्य और विचारणीय बातें भरी पड़ी हैं। कहने का ढंग अनूठा है। भाषा नमूने की हिन्दुस्तानी है। व्यंग्य शुरू से आखीर तक हँस रहा है। सोफिया की पूरी कहानी तो व्यञ्जक है ही 'लाश के मिलने के पहले' 'शराफत की निशानी' 'बगैर किसी धूमधाम के' 'हर दिन की नुमाइश' आदि के समान न जाने कितने शब्दों में से हृदय की उबाल निकल रही है। लेखक का आत्मीय राग तो कोई अनाड़ी भी सुन सकता है। यह निबंध उनकी आत्मकथा का एक टुकड़ा सा लगता है। और निबंध का सबसे बड़ा लक्षण जो प्रभाव है उसकी भी इसमें कमी नहीं।

प्रेमचंद जी का गद्य-काव्य

हिंदी साहित्याकाश में प्रेमचंद जी आज एक समुज्ज्वल और प्रथम श्रेणी के तारे हैं, जिन पर काव्य-कला-पारखियों की निगाहें उठी हुई हैं। सच्चे-झूठे योग्य-अयोग्य सभी तरह के ज्योतिर्विद् अपनी अपनी छोटी-बड़ी दूरबीन लगा रहे हैं। और, और तारों से मुकाबिला हो रहा है। ठीक स्थिति की अटकल लगाई जा रही है। दूरी का अंदाज़ा किया जा रहा है। ज्योति का परिमाण देखा जा रहा है। जितने मुँह हैं उतनी रायें हैं।

किसका यकीन कीजिए, किसका यकीं न कीजिए।
लाये हैं उसके बज़्म से, यार ख़बर अलग अलग॥

'विशालभारत' की विशाल परिधि के अन्तर्गत विशाल हृदय वाले पाठकों से हमारी प्रार्थना है कि आइये हम लोग भी इस तारे का अपनी-अपनी दृष्टि से भरसक अनुशीलन करें।

प्रेमचंद जी का उदय आज छियालीस बरस के लगभग हुए, बनारस के पास एक गाँव में एक कुलीन श्रीवास्तव्य कायस्थ के घर में हुआ ❀। इनके पिता मुंशी अजायब लाल सरकारी नौकरी करते थे। उन्हीं के साथ इलाहाबाद, फतहपुर, कानपुर, बांदा, आज़मगढ़, गोरखपुर आदि शहरों में रहकर आप ने शिक्षा पाई। जब यह सात वर्ष के थे तभी मातृ-चरणों का वियोग हो गया। इनके पालन-पोषण का सारा भार पिता के ऊपर पड़ा। आरम्भ में फारसी पढ़ी। १४ वर्ष के हुए तब अंग्रेजी शुरू की। संवत् १९५५ में एंट्रेंस पास हुए। उसी समय चुनारगढ़ के मिडिल स्कूल में अध्यापक हो गए। तब से २२ बरस तक अध्यापकी की। इसी बीच में शिक्षक रूप से, अपने अध्यवसाय से, एफ. ए. और बी. ए. भी पास किया। ट्रेनिंग कालिज में शिक्षा भी पाई। संवत् १९७७ में असहयोग किया। कुछ दिनों पीछे एक प्रेस स्थापित किया। फिर कुछ दिनों कानपुर के मारवाड़ी—विद्यालय में मुख्याध्यापक रहे। वहाँ से फिर काशी विद्यापीठ में प्रधानाध्यापक हुए। वहाँ से भी अलग होकर, दो तीन साल बाद माधुरी के सम्पादक हुए।

१—व्यक्ति—

❀ श्री प्रेमचन्द जी का असली नाम धनपतराय है। श्री धनपतराय जी का उपनाम प्रेमचंद इतना प्रसिद्ध हो चुका है, कि लोग इसी नाम से जानते और पुकारते हैं और बी. ए. की उपाधि जो वस्तुतः "श्री धनपतराय" की सम्पत्ति है, खामखाह प्रेमचंद के साथ लगाते हैं !

प्रेमचंद जी का पहला विवाह बस्ती में हुआ। उस समय यह १७ बरस के थे। दुर्भाग्यवश पिता जी का देहान्त भी उसी साल हो गया। गृहस्थी का जंजाल नवयुवक के सिर पर एका-एकी उस समय आ पड़ा जब वस्तुतः ऊँची शिक्षा का आरम्भ होता। इसी दुर्घटना के कारण झटपट नौकरी कर लेनी पड़ी और नौकरी की दशा में ही गृहस्थी का भार सँभालते हुए प्रतिभा-शाली नवयुवक ने जीवन में आत्म-विकास के जितने अवसर मिले उनसे पूरा लाभ उठाया। पारिवारिक जीवन भी सुख-मय न था। कुछ ही बरसों पीछे पहली पत्नी का वियोग हो गया। संवत् १९६२ में समाज-सुधार के व्यावहारिक उदाहरण के रूप में एक कायस्थ बाल-विधवा से विवाह किया।

प्रेमचन्द जी ज़बानी जमाख़र्च वाले सुधारक नहीं हैं, यह तो इनके दूसरे विवाह से ही प्रकट है। इनके राजनीतिक विचार के संबंध में भी हमें विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है जब कि इनके असहयोग की चर्चा हम ऊपर कह चुके हैं। इनके धार्मिक विचार अत्यंत उदार और गंभीर हैं। इनके संबंध में भी इस स्थल पर विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि धार्मिक सुधार इनका कोई विशेष उद्देश्य नहीं है। मनुष्य के अपने जीवन का उसकी कृतियों पर अवश्य प्रभाव पड़ता है इसीलिए आवश्यक जान कर यहाँ उनकी जीवनी के और पहलुओं पर एक सरसरी निगाह डाल के अब हम उनके साहित्यिक जीवन पर विचार करना चाहते हैं।

प्रेमचन्द जी को बाल्यावस्था से ही साहित्य में रस था। अभी अंग्रेज़ी शुरू नहीं की थी, अंग्रेज़ी शिक्षा और स्कूल के जीवन की हवा नहीं लगी थी कि प्रेमचंद जी ने तेरह

२–कृति— बरस की अवस्था में अपना पहला ग्रंथ एक नाटक लिखा। "होनहार बिरवान के होत चीकने पात"। फ़ारसी उर्दू की तालीम पाई थी। ग्रंथ-लेखन के आरंभिक अभ्यास स्वभावतः उर्दू से ही शुरू हुए। सत्रह बरस की अवस्था में उर्दू में पहला उपन्यास लिखा जो काशी के आवाज़-ए-ख़ल्क नामक साप्ताहिक पत्र में थोड़ा-थोड़ा करके छपा। इसका नाम था "इसरारे-मुआब्दि" अर्थात् "भक्त-रहस्य"। आवाज़-ए-ख़ल्क के बाद कीर्ति-परिधि कुछ बढ़ी। कानपुर से "ज़माना" निकलने लगा था। आपने ज़माने में लिखना शुरू किया। संवत् १९६९ में इनकी कहानियों का पहला संग्रह "रमूज़े वतन" के नाम से प्रकाशित हुआ। इस समय तक इतनी कहानियाँ और ऐसे मारके की कहानियाँ प्रेमचंद जी लिख चुके थे कि उर्दू-संसार में इनका सिक्का बैठ गया था। उर्दू के धुरन्धर लेखकों में गिने जा चुके थे। शब्दों और मुहाविरों के प्रयोग में, शैली में, वाङ्मय की कला में, इनका प्रमाण माना जाने लगा था। उसी समय की बात है कि उर्दू में इनकी जोड़ का कहानी लिखने वाला दूसरा कोई न था, बल्कि यह अपनी नयी राह के निकालने वाले और उर्दू गद्य-काव्य के उस्तादों में गिने जाने लगे थे। ज़माने में इनकी कहानियाँ खोज खोज कर कर पढ़ी जाने लगीं। कहानियों की

बदौलत ज़माने का प्रचार बढ़ा और इनकी प्रतिभा की बदौलत इनका पुरस्कार। अब हर तरफ़ से इनसे कहानियों की माँग आने लगी। हिंदी का उन पर हक था और वाजवी हक था। उसे मानना ही पड़ा। हिंदी का भी अभ्यास करना पड़ा। उर्दू और हिंदी में केवल लिपि का भेद है, इस सत्य को प्रेमचंद जी की फैलती हुई समुज्ज्वल कीर्ति-चन्द्रिका ने अपने प्रकाश के रुपहले अक्षरों में लिखकर प्रमाणित कर दिया है। चार ही बरस बाद की सरस्वती में निकली हुई कहानियों ने, इनको हिंदी संसार में एक परिपक्व, प्रौढ़ प्रतिभाशाली और सिद्धहस्त लेखक की हैसियत से प्रवेश कराया। हिंदी में भी इनकी १४० से ऊपर कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके संग्रह भी उर्दू हिंदी दोनों रूपों में निकल चुके हैं। सप्तसरोज, नवनिधि, प्रेमपूर्णिमा, प्रेमपचीसी, प्रेमप्रसून, प्रेमप्रतिभा, प्रेमप्रमोद, प्रेमद्वादशी, यह आठ संग्रह हिंदी में और प्रेमपचीसी, प्रेमबतीसी, ख्वाबोख़याल और फिरदौसेख़याल यह चार संग्रह उर्दू में हो चुके हैं, और अंतिम के सिवा सभी प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से कई के अनेक संस्करण हो चुके हैं। उपन्यास भी अब तक सात निकल चुके हैं। वरदान (१९७३) सेवासदन (१९७४) प्रेमाश्रम (१९७७) रंगभूमि (१९८०), काया-कल्प (१९८२) निर्मला (१९८३) और प्रतिज्ञा (१९८४)। इनके सिवा संग्राम और कर्बला नाम के दो रूपक भी प्रकाशित हुए हैं। उर्दू के प्रसिद्ध उपन्यास "फ़िसाने-ए-आज़ाद" का हिंदी

रूपान्तर "आज़ाद कथा" और अनातोले फ्रांस के एक उपन्यास (Thais) का "अहंकार" के नाम से हिंदीभाषान्तर यह दो ग्रंथ अमौलिक भी प्रकाशित हुए हैं। इनके सिवा महात्मा शेख-सादी, स्वामी रामतीर्थ आदि की जीवनियाँ सरीखे अनेक लेख हैं जिनकी चर्चामात्र यहाँ पर्याप्त है। प्रेमचंदजी अब भी उर्दू में कुछ न कुछ लिखते ही जाते हैं, परंतु उनकी कीर्ति उर्दू की संकुचित सीमा का अतिक्रमण करके दिग्-दिगन्त व्यापिनी हो गयी है। उनकी प्रतिभा की चमक प्रान्तों की सीमा का उल्लंघन कर चुकी है। उनके समक्षीक अनेक हैं। प्रायः सभी उनके मित्र वा स्नेहभाजन हैं, परंतु उनमें भी दलबंदियाँ हो रही हैं। कोई कोई उनकी कृति के ऐसे चाहनेवाले हैं जो उसे "संसार के अपार साहित्य-सागर का एक सर्व्वोज्ज्वल रत्न" ठहराते हैं और उसी के विरुद्ध कोई कोई उनके प्रेमी (?) उनके उपन्यासों के ऐसे "पातक" (गिरानेवाले) हैं, कि प्रेमचंदजी को परस्वत्त्वापहारी साहित्य-तस्कर तक ठहराने में संकोच नहीं करते। कोई दोनों विरोधियों का मध्य पक्ष ग्रहण करके कहते हैं कि यद्यपि यह रूसी कहानी लेखक मैक्सिम गोरकी, फ्रांस के गद्य-कवि रोमैरोलां, भारत के कवि सम्राट् रवीन्द्र के मुकाबिले के कलावान् नहीं हैं तथापि प्रेमचंदजी के बहुत बड़े लेखक होने में संदेह भी नहीं है। इस तरह के भिन्न मतों के वाद-विवाद आजकल हिंदी और अंग्रेजी में भी निकल रहे हैं। यहाँ हम उन विविध समीक्षकों की समीक्षा से अपने पाठकों का अनमोल समय नष्ट नहीं करना

चाहते। हमारे कथन का तात्पर्य इतना ही है कि प्रेमचंदजी की ज्योति इस समय दूर तक चकाचौंध डाल रही है। कोई उसे उनकी अपनी ज्योति बता रहा है और किसी का कहना है कि यह ज्योति अन्य तारों से ली हुई है। परंतु इन भली बुरी सब तरह की समीक्षाओं से इसमें तो रत्ती भर शक नहीं रह जाता कि ज्योति बड़ी तेज़ है, बहुत दूर-गामिनी है। अब वह हिंदी साहित्य की संकुचित सीमा के भीतर छिपी नहीं रह सकती। फ़ानूस के बाहर अपना प्रकाश बिखेर रही है। 'प्रतिभा ने अपने सम्मान का सिक्का बैठा लिया है। उनकी स्थिति सुनिश्चित हो चुकी है। कहानियों के लिखने में,—फिर चाहे वह छोटी छोटी अख्यायिकाएँ हों, और चाहे वह एक-एक हजार पृष्ठों के उपन्यास ही क्यों न हों वह एक माने हुए उस्ताद हैं। उनके सराहने वाले और उनसे ईर्षा की पीड़ा में कराहने वाले, दोनों ही उनकी शैली की नक़ल करने में अपना गौरव और अपनी भलाई समझते हैं। उनके उन्नायक और उनके पातक दोनों ही उनको गद्य का प्रवीण और अनुकरणीय लेखक मानते हैं, इतनी बात में किसी पक्ष का रत्ती भर भी विरोध नहीं है।

इन समीक्षाओं के पढ़ने वालों को पहले तो एकाएकी ऐसा समझ पड़ेगा कि वर्तमान विक्रमी शताब्दी का अंत होते होते एकाएकी हिंदी साहित्य के भाग्य का उदय हो गया। हिंदी वाङ्मय की प्रदर्शनी में कला-समीक्षा-विभाग का ही बड़ा अभाव था। अब इतने कला-पारखी हो गये हैं कि अवश्य ही यह कमी पूरी हो जायगी और हमारा साहित्य सर्वांगपूर्ण हो जायगा। जहाँ

एक ओर से कविता का एक बिलकुल अनूठा ढंग पैदा हो रहा है जिसे लोग छायावाद वा रहस्यवाद कहने लगे हैं, जिसे गद्य और पद्य दोनों ही कह सकते हैं, जो एक बिलकुल नई कला समझी जाती है, वहाँ दूसरी ओर कला के बिलकुल निराले ढंग के समीक्षक पारखी भी हमारे साहित्य की सम्पत्ति बढ़ाने को प्रकट हो गए हैं, जो एक ही माला में मेक्सिम गोरकी, रोम्याँरोलाँ और कवीन्द्र रवीन्द्र को गूथने का पराक्रम रखते हैं, एक ही साँस में रूस, फ्राँस, भारत तो क्या संसार के साहित्य के सारे क्षेत्र का संक्रमण कर डालते हैं। जहाँ हम उनके इस साहस और पराक्रम, योग्यता और सूक्ष्मदर्शिता, भावुकता और रसिकता की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते, वहाँ हम एक भ्रम से उन्हें सावधान करने का भी दुस्साहस करते हैं।

३ नयी कला और नये पारखी

पच्छाहीं पारखी कलाविदांवर जिन जिन महान् लेखकों को "अन्ताराष्ट्रिय" (Internationa) कहते हैं, उनको पच्छाहीं कला और पच्छाही शील की दृष्टि से ही कहते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र के कुछ पद्यों के अनुवाद पर ही उन्होंने मुग्ध हो उनको अपनी अन्ताराष्ट्रिय बिरादरी में शामिल कर लिया। कालिदास भद्दे पच्छाहीं अनुवादों की बदौलत ही "अन्ताराष्ट्रिय" हो गए हैं। जैसे पच्छाहीं अपनी भाषा और अपने शील के भीतर ही अन्ताराष्ट्रियता तो क्या मानवता* तक को मर्य्यादित रखते हैं, वैसे हम

---

* पश्चिम के बड़े बड़े उदार लेखक जहाँ "मैन" वा "मैनकाइण्ड"

में से अधिकांश भारतीय भी जो पच्छाँह की चकाचौंध से घबराए नहीं हैं, भारत की सीमा के भीतर ही सभ्यता को मर्य्यादित समझते हैं। जब तक मैक्सिम गोरकी की कहानियाँ सीधे रूसी भाषा से, रोमेरोलां के लेख सीधे फरासीसी भाषा से यदि स्वयं उनके द्वारा नहीं तो सुचतुर उल्थाकारों ही द्वारा हिंदी में भारतीय रूप न धारण करें, तब तक हिंदी साहित्य के हजारों पाठकों के सामने इनका नाम ले लेकर अपनी बहुज्ञता प्रदर्शन के सिवा और कौन उद्देश्य सध सकता है ? कवीन्द्र रवीन्द्र की जाँच जैसे स्वयं कवीन्द्र द्वारा लिखे उल्थों से ही ठीक तरह पर यूरोप में की जा सकी, उसी तरह क्या मैक्सिम गोरकी की जाँच हिंदी साहित्य के पारखियों के लिये सुलभ है ? अनातोले फ्रांस के अनुपम और अद्भुत काकूक्तियों और व्यंग्यों का मजा जब अंग्रेजी अनुवाद में ही छनकर अपने मूल सौंदर्य को खो बैठता है, तो उल्था के उल्थे में तो और भी छनकर फीका रह जाने में हमें कोई आश्चर्य न होना चाहिए। ऐसी दशा में अपने लेखकों का नाम-

---

(Man or mankind) वाक्यों का प्रयोग करते हैं, वहाँ उनका अभिप्राय प्रायः (सौ में निन्नानबे जगहों में) केवल पच्छाहीं मनुष्य वा गोरे से होते हैं, परंतु आजकल मूर्ख काले फूल उठते हैं कि इन उदारचेताओं ने हमें भी शामिल कर लिया है ! हमारे भारतीय शील में भी यही बात है। हम भारत के बाहर के लोगों को असुर राक्षस म्लेच्छादि क्या नहीं समझते ? समान शील वालों में ही अन्ताराष्ट्रियता संभव है।

मात्र का मुकाबला इन पच्छाहीं विषम शील वाले लेखकों से करना हिंदी साहित्य के असंख्य पाठकों के साथ अक्षम्य अन्याय है और पछाहीं शील से अनभिज्ञ अपने ही देश के प्रकृत, सच्चे, सुयोग्य और विद्यावयोवृद्ध कलाविदों का अपमान करना है।

जैसे भारतीय शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त और छंद, प्रकृत विद्या के यह चारों अंग, हमारे पूर्वजों के द्वारा विज्ञान और कला दोनों दृष्टियों से, पूर्णता की सीमा को पहुँच चुके हैं, उसी तरह काव्य-कला का भी इतना पूर्ण अनुशीलन हुआ है कि पच्छाहियों के द्वार पर हाथ पसारने के पहले प्रत्येक नव समीक्षक का आत्मसम्मान इसी में है कि वह देख ले कि हमारे कलाविदों ने जो सामग्री जुटा रखी है उसका पूरा उपयोग हमने करलिया है या नहीं। अरस्तू से आरम्भ करके कल के रस्किन, आरनाल्ड (अंग्रेज), टेन (फरासीसी) प्रभृति तक योरप के जितने सर्वमान्य काव्य कलाविद हो गए हैं किसी के संबंध में यह नहीं सुना गया कि उसने अपने यहाँ की कला को भारतीय दृष्टि से जाँचा हो। कालिदास वा कवीन्द्र रवीन्द्र को अपनी बिरादरी में मिलाने के लिए भी उन्होंने अपनी ही कसौटी रक्खी। मैक्सिम गोरकी के गद्य-काव्य पर अपनी दृष्टि से किसी भारतीय ने किसी भाषा में समीक्षा की हो, यह अभी तक हमारे देखने में नहीं आया है।

कला के संबंध में पाश्चात्य शिक्षा से ओतप्रोत भारतीयों का दृष्टिकोण भी योरप के ही अनुकूल हो रहा है। यूरोपीय कल्पना ही उनके लिए कला का आदर्श है। उनकी कल्पना

में कला का कर्तव्य प्रकृति को विकसित करना है। वह मानते हैं कि प्रकृति की अन्तःप्रेरणा के विना रूप, रंग, ध्वनि, शब्द अथवा गति में कहीं भी कला का अस्तित्व हो नहीं सकता। परंतु उसकी गहराई अत्यंत कम है। प्रसिद्ध अंग्रेज़ चित्रकार

४. पाश्चात्य कला कल्पना

श्री फ्रैंक ब्रैंग्वैन का कहना है कि जीवन की यथार्थ व्याख्या में ही कला की सजीवता है। सूर्योदय, चिड़ियों का गान, दृश्य की मनोहरता आदि प्राकृतिक तथ्यों से ही कलावान् के हृदय में स्फूर्ति और व्यक्तीकरण के लिए प्रेरणा होती है। पच्छाहीं कलाविद् यदि सर टामस ब्रौन की "Nature is the art of god" "प्रकृति परमात्मा की कला है" इस उक्ति का अन्तर्विकास गंभीरतापूर्वक करते तो अवश्य ही भारतीय आदर्श को पहुँचते। परंतु यूरोप की नास्तिकता ने उसे मनोविज्ञान से अधिक गहरे डूबने न दिया।

यूरोपीय कलाविदों का अन्तर्जगत् मनोविज्ञान का कार्य्यक्षेत्र भर है, जो उनकी कल्पना के अनुसार बाह्य जगत् की प्रतिच्छाया है और परिस्थिति की क्रिया-प्रतिक्रिया का फल है। नीति और धर्म से उसका सरोकार नहीं है। उद्देश्य उसका कोई अंग नहीं है। कल्पना वही स्वाभाविक गिनी जाती है जो बाह्य जगत् के अनुकूल हो। यूरोप की दृष्टि में जड़ एवं अमानव चर जगत् ही प्रकृति का सच्चा और मनोभावों समेत, पूरा, चित्र है। मनुष्य के साथ कृत्रिमता आती है, कला कृत्रिमता का सुन्दर सुगठित रूप है।

कला-परीक्षण का भारतीय शील विशिष्ट है। दृष्ट और अदृष्ट चराचर जगत्, सृष्टिमात्र, प्रकृति की कला है। अपार और अपरिमित सूक्ष्म जगत् का विकास वा प्रकल्पना-मात्र हमारा स्थूल जगत् है। संपूर्ण जगत् का यह अत्यंत अल्प अंश है। बाह्य जगत् अंतर्जगत् के स्फुरणों के सर्वथा और सर्वदा अधीन है। उसकी प्रतिच्छाया वा कल्पनामात्र है। उसमें कला का पूर्ण विकास कभी दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। अव्यक्त जगत् ही प्रकृति की कला का भाण्डागार है। उसी में उसका पूर्ण विकास, ज्ञान और अनुभव की भीतरी आँखों से दीखता है। उसकी प्रतिच्छाया वा प्रकल्पना भी विना उद्देश्य के नहीं है। जड़ और चेतन दोनों का विकास, दोनों की पूरी उन्नति, उसका ध्येय है। दोनों ही प्रकृति की कला के अधीन हैं। जड़ का सौंदर्य गुणों की सुसंगतियुक्त सात्विकता में है। चेतन का सौंदर्य धर्म और नीति संयुक्त गति में है, सत् चित् और आनन्द की प्राप्ति में है। इस युगल विकासमार्ग की ओर प्रवृत्त कल्पना सत्य है। इसीलिए आदर्श ही कला का मार्ग है। पूर्ण विकास की ओर प्रवृत्त अव्यक्त जगत् की आभा पात्र की ग्राहिका शक्ति के अनुसार मनुष्य के विविध मनोभावों पर आकर पड़ती है। नाड़ीजाल के स्फुरित होने से शरीर के अंग-अंग पर स्वभावतः प्रभाव पड़ता है और उनकी मूर्ति बन जाती है। क्रोधी स्वभाव वाले की आकृति करुणामय के आकार से नितान्त भिन्न होती है। इस स्वाभाविक

५. भारतीय कला कल्पना

चित्रण के अतिरिक्त वचन द्वारा भी मनोभावों का चित्रण हो सकता है। इसका साधन शब्द-शक्ति है। इसके बाद चित्र-लेखन-कला का स्थान है। प्रकृत कला को अव्यक्त से व्यक्त करने के साधन ज्यों ज्यों स्थूल होते जाते हैं त्यों-त्यों कला का व्यक्तीकरण घटता जाता है। कला का प्रकृत निरीक्षण करनेवाला मन उसके सौंदर्य में विलीन हो जाता है, उसके आनन्द से ओत-प्रोत होकर चाहता है कि उसका आस्वादन औरों को भी करावे। इसी उत्कट इच्छा से प्रेरित हो वह काव्य और चित्र द्वारा अपने अनुभवों को व्यक्त करना चाहता है। परन्तु न तो शब्द-शक्ति ही उसे संतोष दे सकती है और न चित्रकार की कूँची ही उसे उपयुक्त साधन जँचती है। मूर्ति निर्माण तो क्या, अभिनय भी व्यक्तीकरण में वह जीवन नहीं ला सकता जिसका प्रकृत कलाविद् अनुभव करता है। गूँगे के गुड़ की सी दशा बनी रहती है। करुणा रस के आत्यन्तिक उद्रेक से अशिक्षित व्याधा के मुँह से आदि काव्य का निकल पड़ना एक ही उदाहरण नहीं है। अशिक्षित कबीर और तुकाराम की साखियाँ हाल के ही गवाह हैं। मर्य्यादापुरुषोत्तम का अप्रतिम चित्रकार रामचरितकार प्रकांड विद्वान् और महाकवि होते हुए भी अंतर्जगत् के सौंदर्य की अपारता को देखकर और उसे व्यक्त करने के साधकों को अत्यंत असमर्थ पाकर लाचार हो जाता है और शालीनतापूर्वक कसमें खाकर कहता है कि 'सचमुच' कविता का तो मुझे रत्ती भर शऊर नहीं है।"❀

❀ कवि न होउँ नहिं वचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।

प्रकृति स्वयं आदर्श कलावती है। वह कला का चित्रण सौंदर्य के सर्वतोभद्र विकास की दृष्टि से ही करती है। यही उसका "उद्देश्य" है। देश, काल, वस्तु, पात्र और

६–चित्रण के उपादान

गति यह पाँच कला के व्यक्त करने के "व्यंजना" के, उपादान हैं। मनोभावों से प्रेरित चेतनायुक्त गति को "चरित" कहते हैं। जब मनुष्य प्रकृति की कला की नकल करता है, तो वह भी इन्हीं पाँच उपादानों से काम लेता है। परंतु उसे दृश्य वा श्रव्य दो साधनों के द्वारा ही व्यक्त करना है। अतः "व्यंजना" उसका छठा उपादान है। प्रकृति की तरह वह संपूर्ण विकास के सभी पहलुओं की व्यंजना में सक्षम नहीं है। अतः जिस अल्पांश की वह व्यंजना करता है उतने ही का विकास उसका "उद्देश्य" है। यह उसका सातवां

आखर अरथ अलंकृति नाना, छन्द प्रबंध अनेक विधाना।
भाव-भेद रस भेद अपारा, कवित दोष गुन विविध प्रकारा।
कवित विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।

(तुलसी)

प्रकृति की अन्तःप्रेरणा से सर जोशुआ रेनाल्ड सरीखे यूरोपीय कलाकार भी स्वीकार करते हैं कि हम भीतरी भावों को कभी पूर्णतया व्यक्त नहीं कर पाते। जब छिछले में यह असमर्थता है, तो अधिक गहरे डूबने वालों का तुलसीदास की तरह अपने को नितान्त असमर्थ समझना सर्वथा उचित ही है। लेखक—

उपादान हुआ। उसे अधिकार है कि चरित्र-चित्रणमात्र ही अपना उद्देश्य रक्खे अथवा किसी भाव वा आदर्श के विकास को अपना इष्ट बनावे। जिसे अभिनय-समीक्षक भूल से "निरुद्देश्य" चित्रण कहता है, वह पूर्वोक्त है जो 'स्वान्तःसुखाय' किया जाता है। भारतीय शील आदर्शवादी है। उसके निकट सोद्देश्य चित्रण ही संभव है। मूर्ख भी निष्प्रयोजन व्यापार में नहीं लगता।

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्त्तते।

७-उपन्यास और आख्यायिकाएँ।

श्री प्रेमचंद जी की लिखी कहानियाँ छोटी बड़ी डेढ़ सौ से ऊपर हैं। मासिक पत्र के लेख में इतनी गुंजाइश नहीं हो सकती कि सबकी आलोचना की जाय। इस लेख में हमारा उद्देश्य केवल उनकी कहानी लिखने की कला की समीक्षा है। हमने जिस कसौटी का अभी उल्लेख किया है, वह छोटी कहानियों से लेकर बड़े बड़े उपन्यासों तक में समान रूप से काम में आ सकती है। आख्यायिका और उपन्यास में वही अन्तर है जो सम्पूर्ण नाटक में और उसमें से चुने हुए दो एक दृश्यों में हो सकता है। आख्यायिका या कहानी जीवन के किसी खास पहलू पर ही रोशनी डालती है। उसमें पात्रों की संख्या उपन्यास की अपेक्षा कम, देश का क्षेत्र संकुचित, वस्तु संकीर्ण, चरित्र का विस्तार परिमित, परंतु व्यंजना-कौशल अधिक होता है। यदि उपन्यास को गद्य का महाकाव्य समझा जाय तो कहानी खंड-काव्य का

स्थान ग्रहण करेगी। कहानी को स्वतः पूर्ण रखना, वस्तुओं का चयन-कौशल और उद्दिष्ट चरित की यथार्थ व्यंजना जिसमें थोड़े से थोड़े वर्णन में अधिक से अधिक कल्पना विस्तार की सामग्री पाठकों को मिल सके, यह प्रायः उपन्यास-रचना की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन है। कुशल लेखक इसमें व्यंजना-शक्ति से खूब काम लेता है। दरिया को कूजे में भरता है। "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" गद्य को लोग कवियों के परखने की कसौटी ठहराते हैं। वह कसौटी सबसे ज्यादा कहानी ही में काम आती है। पद्य में तो पिंगल के नियमों और तुकों की आवश्यकताओं से बँधा रहना पड़ता है। यहाँ यह बंधन नहीं है इसलिए लेखक को इस बहाने का मौका नहीं है कि पद्य के नियमों के कारण मुझे लाचारी थी। गद्य काव्य में तो कला कौशल के लिए हर तरह की गुंजाइश है। रस के परिपाक में किसी तरह की न्यूनता न हो, साथ ही अनावश्यक वाक्य और शब्द भी न आवें। खोगीर की भरती का मौका तो कभी इस खंड-काव्य में मिल ही नहीं सकता। कहानी को पढ़कर पाठक को लोकोत्तरानंद मिले, उसका आंतरिक मनोरंजन हो और साथ ही उसे यह जँचे कि हमने पूर्ण स्वाभाविक घटना पढ़ी, इसमें से एक बिन्दु-विसर्ग व्यर्थ नहीं था, बल्कि एक-एक वाक्य विचार का विस्तार करने को प्रवृत्त करता है, वस्तु का चयन सर्वोत्तम हुआ है, जो रस आख्यायिका का उद्देश्य था वह मन में ओत-प्रोत भाव से भर गया है, तो अवश्य ही आख्यायिका लिखने में लेखक कृत-कार्य हुआ है। पाठक के मन पर प्रभाव की गंभीरता ही उसका

चमत्कार है। हिंदी के मासिकपत्रों में प्रेमचन्दजी की कहानियाँ इसी चमत्कार के लिए पढ़ी जाती हैं। एक साधारण पाठक की दृष्टि से यह तो हम कह ही सकते हैं कि अंग्रेजी की उत्तम से उत्तम कहानियों के मुकाबिले में यह कहानियाँ अधिक सफल और प्रभावशालिनी होती हैं और कारण स्पष्ट है कि देश, काल, वस्तु, पात्र, चरित, व्यंजना और उद्देश्य सभी पराये देश की अपेक्षा अपने देश के अधिक हृदयग्राही होते हैं। परंतु इन कहानियों की स्वयं अन्तः साक्षी इसी पक्ष में है कि उनमें से अनेक अवश्य ही उत्तम से उत्तम गद्य-खंड-काव्य के नमूने हैं।

प्रेमप्रसून[1] में संगृहीत "आभूषण" नाम की कहानी उदाहरण की भाँति पाठक देखें। उद्देश्य का निर्देश आरम्भ में इस प्रकार

८—"आभूषण" की आलोचना

है। "आभूषणों की निंदा हमारा उद्देश्य नहीं है। हम असहयोग का उत्पीडन सह सकते हैं, पर ललनाओं के निर्दय घातक वाक्य-बाणों को नहीं ओज सकते। तो भी इतना अवश्य कहेंगे कि इस तृष्णा की पूर्ति के लिए जितना त्याग किया जाता है, उसका सदुपयोग करने से महान् पद प्राप्त हो सकता है।"

गाँव में विमल सिंह गरीब और सुरेश सिंह अमीर जमीदार

१—यह संग्रह लखनऊ की गंगा पुस्तकमाला ने प्रकाशित किया है। १९८२ ई० में इसकी दूसरी आवृत्ति निकली है जो वर्तमान लेखक के सामने है—लेखक।

है। विमलसिंह की आभूषणहीना सुंदरी स्त्री शीतला सुरेशसिंह की नववधू को जेवरों से लदी देखकर गहनों की उत्कट कामना से प्रेरित हो पति से तकरार कर बैठती है। विमल गहनों के बनवाने की क्षमता प्राप्त करने को दृढ़प्रतिज्ञ हो विदेश चला जाता है। वहाँ मर-मर कर तीन बरस की मजूरी और किफायतसारी से तीन हजार की रकम इकट्ठी करके घर लौटता है। इस बीच यहाँ सुरेश की स्त्री मंगला कुरूपा होने से पति के प्रेम से वंचित रहती है। अंत को एक अदनी-सी तकरार पर वह मायके चली जाती है, पर आँखों से देखता हुआ सुरेश मिनिकता तक नहीं। इसी सुरेश की नीयत शीतला के सौंदर्य पर डगमगाते-डगमगाते सुधर जाती है और उसे ठीक रखने के लिए वह शीतला को बहिन मानकर उसकी सहायता करने लगता है। विमल की खोज के लिए इश्तिहार देता है। इसी इश्तिहार का पता चलने पर विदेश में विमल को सुरेश की नीयत पर शक होता है। पर यहाँ सुरेश ठीक भाई की तरह बर्ताव करता है। जब सुना कि गहने ही शीतला के वियोग की जड़ हैं, तो मंगला के गहने दे डालता है। खोटे मन पर विश्वास न करके गहने देने के बाद फिर आना जाना कम कर देता है। इधर शीतला का मन डगमगाता है। इसी बीच विमल एक रात को पहुँच जाता है जब शीतला सुरेश के लिए शृंगार किए बैठी हार गूँथ रही है। बस, विमल के शरीर में इस दृश्य से आग लग जाती है। माँ के समझाने से भी संतोष नहीं होता। उसका लौटना सुनकर सुरेश आकर मिलता है।

उसके ढंग से उसकी ओर से विमल का मन साफ हो जाता है। पर शीतला की ओर से उसका मन खट्टा हो जाता है। पर जब अपनी माँ से कहता है कि—

"मैंने इस कुल-कलंकिनी के लिए तीन साल तक जो कठिन तपस्या की है, उससे ईश्वर मिल जाता, पर इसे न पा सका।"

तो वस्तुतः वह कहानी के उद्देश्य के आरंभिक वाक्य का समर्थन करता है। उसे ज्वर चढ़ आता है। वह अंत में शरीर त्याग करता है। परंतु अपराधिनी शीतला की हिम्मत उसके जीते जी पास तक आने की नहीं पड़ती। सुरेश के मन पर इस घटना का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह अपनी रूठी स्त्री मंगला को अंत में मना लाता है।

वस्तु और चरित की दृष्टि से सरसरी तौर पर कहानी पढ़ने वाला यह कहेगा कि विमल के अंत से ही कहानी का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है परंतु सुरेश और मंगला के मेल की कथा आगे क्यों बढ़ायी जाती है? लेखक की काव्य-कला की बारीकी समझने के लिए यहीं पारखी का काम पड़ता है। पहले तो अमंगल के साथ कहानी का अंत करना हमारी काव्य-कला के स्थापित नियमों के विरुद्ध है। दूसरे, जिस मंगला और सुरेश को कथा की नितांत आवश्यकता के कारण आरम्भ से ही लाना पड़ा, जिनके वियोग से विमल और शीतला के अंतिम दृश्य का विकास होता है, जिन की कथा, "गहनों से कुरूपता का दोष नहीं मिटता" इस तथ्य को दिखाने के लिए नितान्त आवश्यक है, जिनकी कथा से यह

भी दिखाना है कि पति-पत्नी का सच्चा प्रेम गहनों से कहीं अधिक मूल्यवान् है, जिस के अभाव के शोक में विमल शरीर त्याग कर देता है, उनके चरित को एकाएकी बिना परिणाम दिखाये बीच में ही छोड़ देना कला की दृष्टि से भारी भूल होती। इस प्रसंग से लेखक ने बड़ी चतुराई से सुरेश के मन में पश्चात्ताप का उदय कराया और बिछुड़े दम्पति को मिलाया है। इस कथा में रूप और शृङ्गार दोनों की असारता दिखाई है और सच्चे प्रेम का महत्व दर्शाया है। व्याज से पति-पत्नी के अधिकार के संबंध में मंगला और सुरेश का झगड़ा बहुत शिक्षाप्रद है। केवल छब्बीस पृष्ठों की इस छोटी सी कहानी में कितनी बातें भरी गई हैं, इस का अनुमान विचारपूर्वक अध्ययन से ही हो सकता है। विमल और शीतला के-से और सुरेश और मंगला के-से झगड़े आये दिन घर घर होते रहते हैं। उनका संवाद इसीलिए बहुत स्वाभाविक और रोचक है। वस्तु का चुनाव बहुत ही उत्तम हुआ है। जमींदारी और धन, शिक्षा और दरिद्रता, गृह-कलह और विपत्ति, गाँव और गाँव का जीवन सभी अत्यंत स्वाभाविक और उपयुक्त है। किसी में कृत्रिमता का नाम नहीं। गरमी का एक छोटा सा वर्णन सुनिये।

एक दिन संध्या के समय बड़ी गरमी थी। पंखा झलने से आग और भी दहकती थी। कोई सैर करने बगीचों में भी न जाता था। पसीने की भाँति शरीर से सारी स्फूर्ति बह गयी थी। जो जहाँ था वहीं मुर्दा सा पड़ा था। आग से सेंके हुए मृदंग की

भाँति लोगों के स्वर कर्कश हो गये थे। साधारण बातचीत में भी लोग उत्तेजित हो जाते, जैसे साधारण संघर्ष से वन के वृक्ष जल उठते हैं।"

मनोहर व्यंग और सुसंगत उत्प्रेक्षाओं से भरे यह थोड़े से वाक्य एक छोटी सी कहानी में गरमी का जैसा उत्तम वर्णन करते हैं वह न कम है न अधिक। अलंकृत भाषा है परंतु प्रसाद-गुण-पूरित। प्रकृति के इसी प्रकार के चित्र प्रेमचंद जी की कला की विशेषता है।

उनकी सूक्तियाँ वस्तुतः वह सूत्र हैं जिनकी व्याख्या चरित में की गई है, परंतु दोनों इस तरह जटित हैं कि उनके अस्तित्व का पता लगे बिना ही उनका पूरा अर्थ हृदय पर अंकित हो जाता है। इस छोटी सी कहानी की ही कुछ सूक्तियाँ सुनिए—

"रूप के लिए आभूषणों की उतनी ही जरूरत है जितनी घर के लिए दीपक की।"

"समर्थ पुरुषों को बात लग जाती है, तो वे प्राण ले लेते हैं। सामर्थ्यहीन पुरुष अपनी ही जान पर खेल जाता है।

ज्ञान से जागे हुए विराग में चाहे मोह का संस्कार हो पर, नैराश्य से जागा हुआ विराग अचल होता है। इधर-उधर की वस्तुओं को देखकर मन विचलित हो सकता है, पर अंधकार में किसका साहस है, जो लीक से जौ भर भी हट सके।"

"संयम और आचार सम्मान-सिद्धि के मंत्र हैं।"

"संसार कहता है कि गुण के सामने रूप की कोई हस्ती नहीं।

हमारे नीति-शास्त्र के आचार्यों का भी यही कथन है। पर वास्तव में यह कितना भ्रममूलक है।"

"सौंदर्य का आधिपत्य धन के आधिपत्य से कम दुर्निवार नहीं होता।"

"मनकी बात मुँह से अनायास ही निकल जाती है। फिर सावधान होकर हम अपने भावों को छिपा लेते हैं।

"रूप से प्रेम मिलता है और प्रेम से दुर्लभ कोई वस्तु नहीं।"
"शृंगार क्या है ? सोयी हुई काम-वासना को जगाने का घोर-नाद उद्दीपन का मंत्र।"

एक-एक सूक्ति मनोविज्ञान के इतिहास का सूक्ष्म चित्र है, स्वभाव का सूत्र है। पढ़ने वाला जितना ही रुक कर इन पर विचार करे उतना ही उसके विचार के विकास को उत्तेजना मिलती है। विचारशील पाठक के लिए एक-एक कहानी स्वभाव के अध्ययन का शास्त्र है।

अवतरण देने से लेख बहुत बढ़ जायगा। रसिक पाठकों से हमारा आग्रह है कि स्वयं पढ़ देखें। पृ० १३८ पर सुरेश के फिसलते-फिसलते सँभल जाने का, पृ० १४२ पर विमल और शीतला के इतने दिनों पर मिलने के मनोभावों का, जैसा सुन्दर वर्णन है उसके जोड़ के अनुपम वर्णन प्रेमचंद के सिवा और किसी की लेखनी से तो हमें देखने में नहीं आए।

हम कह चुके हैं कि कहानियाँ यदि खंड-काव्य हैं, तो उपन्यास महाकाव्य हैं। इतना अंतर अवश्य है कि उपादानों का

उपन्यासों में यथेष्ट विस्तार होता है। विस्तार के साथ ही आदि से अंत तक सुसंगति का निर्वाह और अनावश्यक बातों से बचना जैसे कवि का कर्तव्य है, वैसे ही रसों का पूर्ण परिपाक और व्यंजना द्वारा लोकोत्तरानंद की अवाप्ति भी उसका उचित साध्य है। पात्रों के चरित की सतत स्वाभाविकता और उसका अभीष्ट विकास विस्तार के साथ ही साथ आसान काम नहीं है। व्यंजनासौष्ठव का भी आदि से अंत तक निर्वाह होना सोने में सुगंध है। अलग अलग सौ कहानियों में यदि दस में भी कला की उत्तमता हम देखते हैं तो लेखक को उतना श्रेय नहीं है, जितना कि पाँच-पाँच सौ पृष्ठ के लिखे हुए किसी एक उप-न्यास की उत्तमता में है। कारण स्पष्ट है। पाँच सौ या हजार पृष्ठों की पुस्तक में आदि से अन्त तक बराबर चित्रण-सौंदर्य कम न हुआ, अगर लेखक दो ही एक जगह चूक गया, तो इतनी बड़ी पोथी व्यर्थ हो गई। उसका सारा सौष्ठव नष्ट होगया। हम इस विचार से तो यह मुक्तकंठ से कहने के लिए तैयार हैं कि उप-न्यासों में प्रेमचंद जी ने कहानियों की अपेक्षा भी अपनी कला में अधिक सफलता पाई है। प्रेमाश्रम और रंगभूमि इन दो उपन्यासों में कवि ने अपनी कला का सर्वोत्तम रूप दरसाया है। यों तो इनके सभी उपन्यास निर्दोष हैं और संसार के उपन्यासों में उनका आसन ऊँचा है, तथापि इन दो में तो कवि की लेखनी उपन्यास-लेखन-कला की पराकाष्ठा को पहुँच गई है। इनमें भी मेरी राय में

९—प्रेमचंदजी के उपन्यास

रंगभूमि से अच्छा उपन्यास लिखा नहीं जा सकता। प्रेमचंद जी ने कलम तोड़ दिये हैं। पांड़ेपुर का अन्धा अछूत चमार सचमुच हाड़-मांस के निकम्मे शरीर में महिमा का सागर, उदारता की मूर्ति और समझदारी और समझकारी का अवतार है। तब भी उसकी तस्वीर जीती-जागती है। सैकड़ों सूरदास, ठीक वैसे ही सूरदास भारत में आज भी सड़कों के किनारे भीख मांगते देखे जाते हैं। आज भी बनारस में नायकराम सरीखे पंडे मौजूद हैं। व्यक्तियों के नाम देने का दस्तूर नहीं है, नहीं तो उसमें के एक एक पात्र की प्रतिमूर्ति अच्छी तरह जाने सुने जीते जागते लोग मौजूद हैं। जो समीक्षक अपनी मिथ्या कल्पना को जानते हुए भी थैकरे के 'वैनिटी फेयर' से अनभिज्ञ पाठकों को यह सुनाकर भ्रम में डालते हैं कि रंगभूमि थैकरे की नकल है, उन्हें भी यह खूब मालूम है कि इस अनुपम उपन्यास के पात्र आज भी जीते-जागते भारत की रंगभूमि में अभिनय कर रहे हैं।

कहने वाले तो कायाकल्प को भी हालकेन के 'इटरनल सिटी' का अनुवाद कहते हैं, परंतु सौभाग्यवश हमारे मित्र पं० श्रीकृष्ण-दत्त पालीवाल ने "अमरपुरी" के नाम से उसका अनुवाद भी निकाला है। हिंदी-उपन्यास-रसिकों से हमारा अनुरोध है कि "अमरपुरी" और "कायाकल्प" दोनों का मिलान करके स्वयं देख लें। दोनों में कोई सादृश्य नहीं है। यद्यपि हम इस बात को खूब जानते हैं कि संसार में इतनी कहानियाँ, इतने उपन्यास निकल चुके हैं कि सबसे मिलान करना ही असंभव है, साथ ही

ऐसे मौलिक सद्विचार भी प्रकट करना असंभव है, जो सर्वथा असदृश हों। अछूते देश, काल, पात्र, वस्तु, उद्देश्य, व्यंजना—एक भी अछूते कला-चित्रण-उपादान—का मिलना असंभव है। फिर यथार्थ मौलिक रचना किसकी और कैसे हो सकती ह।

संसार के सभी साहित्यज्ञ Co-Incidence (समनुपाते) या तवारुद के कायल हैं। समान चित्रों का बिना एक दूसरे की नकल हुए खिंच जाना या उल्लिखित होना असम्भव नहीं है। परंतु हमारे यहाँ के काव्य-कला-कोविद तो छाया-ग्रहण करके उत्तरोत्तर चित्रण करना श्रेयस्कर समझते हैं। सुकवि वही है जो मज़मून छीन लेता है और राह दिखला देता है कि देखो इस खयाल को यों अदा करते हैं। तुलसी, सूर बिहारी, देव, केशव प्रभृति कवियों ने यही तो किया है। अंग्रेज़ी के शेक्स-पियर और संस्कृत के कालिदास भी तो इसी की बदौलत विख्यात हैं। कला की उत्तमता विकास में है, इसीको नई रचना, नई ईजाद कहते हैं। किसी ने सच कहा है,—"कविरनुहरतिच्छायां कुकविः शब्दं पदानि चांडालः।" छायाग्रहण करना कोई ऐब नहीं समझा जाता। ऐसी दशा में यदि प्रेमचंदजी सरीखे लेखकों की रचना में किसी की रचना से सादृश्य भी दीखे तो तुलनात्मक समीक्षा द्वारा यह विचारणीय होगा कि किसको रचना अधिक सुंदर, निर्दोष और ऊँचे दरजे की है। स्वयं प्रेमचंद जी की रचनाएँ सब-

१—संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्॥ (ध्वन्यालोके)

की सब एक कोटि की नहीं हैं। सैकड़ों प्रबंधों का रचयिता किसी एक में ही सर्वाधिक सफल हो सकता है।

बहुधा समीक्षक यह लिखते हैं कि यह रचनाएँ सोद्देश्य हैं, इसलिए सार्वकालिक नहीं हो सकतीं। परंतु इस कथन में समीक्षक यह बात सहज ही बिसार देता है कि कविता का उद्देश्य ही एक मात्र अंग नहीं है। गीता का उद्देश्य अर्जुन को लड़ने के लिए उद्यत करना था वह पूरा हो गया। पाँच हजार बरस हुए, परंतु विषय सार्वकालिक होने से वह आज भी बनी हुई है। प्रेमाश्रम या रंगभूमि की कहानी चाहे नए और अस्थायी युग के राजनीतिक और सामाजिक दशा और सिद्धान्तों के उद्देश्य से ही लिखी मानी जाय, परंतु मनोविज्ञान का इतिहास जो आदि से अन्ततक के पृष्ठों में दिया हुआ है वह तो सार्वकालिक और सार्वदेशिक ही है। कविता के दीर्घ जीवन में उसके प्रतिपादित विषय की नित्यता और सत्यता ही सहायक होती है। यह नित्यता और सत्यता अवश्य विवाद-ग्रस्त विषय हैं। तो भी कई संस्करणों का होना तात्कालिक लक्षण है और अंतिम निर्णय तो वस्तुतः काल के हाथों में है।

काव्य-कला में प्रेमचंद जी ने अपनी अनुपम कृति द्वारा अपने लिए संसार में ऊँचा स्थान बनाया है। उस स्थान से उन्हें मिथ्या अपवाद द्वारा गिराना संभव नहीं है।

१०—उपसंहार जितना ही अधिक गिराने की कोशिश की जायगी उतना ही अधिक उनका सुयश फैलेगा। यशस्वी अपनी कीर्ति से ही बढ़ता है। दूसरों की अपकीर्ति से

आजतक किसी क्षेत्र में किसी ने प्रकृत, वास्तविक और स्थायी लाभ नहीं उठाया है। सूर्यमुखी सूर्य की ओर मुख करके सुन्दर होती है, बढ़ती है। एक दूसरे की ओर मुख करके एक दूसरे की देखा-देखी ईर्षा-द्वेष से प्रकृत विकास नहीं होता। कई साहित्यज्ञों का यह विचार है कि यदि प्रेमचंद जी के उपन्यासों का अंग्रेज़ी अनुवाद छपता तो वह इस कोटि के लेखक हैं कि शीघ्र ही उन्हें नोबुल पुरस्कार मिल जाता। परंतु हम तो नोबुल पुरस्कार को सार्वभौम योग्यता की एकमात्र कसौटी नहीं समझते। पृथ्वी विपुला है। इसके भीतर अनेक अनमोल रत्न ऐसे गहरे पड़े हैं जहाँ प्रकाश का प्रवेश नहीं हो सकता। यह बहुत संभव है कि राजमुकुटवाले हीरे से वह कहीं अच्छे हों। नोबुल पुरस्कार पराये देश में है। दाता और परीक्षक दोनों ही विदेश के हैं। उन्होंने जनक-राम-कृष्ण–युधिष्ठिर–विक्रमादित्य और भोज के कलाकोविद भारत के राष्ट्रिय कवि रवीन्द्र को यदि अपने यहाँ सम्मान दिया, तो वस्तुतः वह स्वयं इसलिए सम्मानित और गौरवान्वित हुए कि आज भारत उनके सामने परीक्षार्थ खड़ा हुआ था, संसार का गुरु वहाँ दक्षिणा के लिए गया था। परंतु हमारा इसमें गौरव क्या है ? हमें तो रोना इस बात का है कि आज स्वाधीन कलाकोविद भारत अपने विक्रमादित्य के मंच से जहाँ अपने राष्ट्रिय कवीन्द्र रवीन्द्र, प्रेमचंद आदि सरस्वती के लालों को जयमाला पहिनाता और उच्च आसन पर भास, कालिदास, चन्द, तुलसी, सूर, केशव बिहारी, आदि के बराबर बिठाता, वहाँ आसुर देशों के स्टैंडर्ड

किप्लिगों, गोरकियों और रोलाओं को भी पुरस्कृत करता, उन्हें भी कवियों का सम्मान प्रदान करता, उस समय अवश्य ही हमारा मस्तक ऊँचा होता। क्या उस समय समीक्षक गोर्की आदि को उसी दृष्टि से पढ़ते अथवा इनके नाम उसी भाव से लेते जिस भाव से ले रहे हैं। हमें इसमें बहुत संदेह है।

Rayshetta

प्रेमचंद जी का गद्यकाव्य

किसी कृति की साङ्गोपाङ्ग आलोचना करने के लिए तीन बातें आवश्यक होती हैं—कर्त्ता का व्यक्तिगत जीवन, उसका साहित्यिक जीवन और साहित्यालोचन का मानदण्ड। अपने संस्कार के अनुसार प्रत्येक सहृदय इन्हीं के सहारे साहित्यिक कृति का प्रभाव ग्रहण करता है। इस व्यापार में उसकी बुद्धि कृति के गुण दोष आँकती और मूल्य निर्धारित करती है।

रामदास गौड ने सफल आलोचना की रीति के अनुसार तीनों आवश्यक बातें कहकर तब अपना निर्णय दिया है। निर्णय करने में भी उद्धरण और उदाहरण देने का नियम निबाहा है। इस प्रकार इस निबंध में आलोचना के सभी गुण हैं।

एक विशेषता और है। यह एक भक्त आलोचक की आलोचना है। ऐसा भक्त और विदग्ध लेखक कहता है—'गुणेषु दोषाविष्करणमसूया' गुणों में दोष निकालना, असूया है-भारी जलन है। पर निलिप्त और तटस्थ आलोचक गुण-

दोष दोनों की छानबीन करता है। हाँ, स्वाद लेने के समय वह अवश्य संत बन जाता है, केवल गुण ही ग्रहण करता है—

संत हंस गुण गहहिं पय
परिहरि बारि विकार।

× × ×

यह निबंध सफल आलोचना का उदाहरण ही नहीं, टकसाली भाषा का भी नमूना है। शैली भी परिपक्व और आकर्षक है। किन्तु इसमें अधिक विचारणीय बातें दो तीन हैं। पहली बात शीर्षक की व्याख्या है। श्री और जी मरने के बाद नहीं लगते और जो महापुरुष अपने जीवन काल में ही अमर जैसे हो जाते हैं उनके साथ भी कोई उपाधि नहीं लगती। अतः प्रेमचंद के साथ 'जी' लगने के दो अर्थ हैं—वे जीवित थे और उस समय वे इतने बड़े नहीं माने जाते थे, जितने आज। शीर्षक में अधिक महत्व का शब्द है गद्य-काव्य। यहाँ उसका अर्थ है गद्य-साहित्य। आज गद्यकाव्य जिस रूढ अर्थ में आने लगा है साहित्य के उस रूप की प्रेमचंद ने रचना नहीं की है। दूसरी बात है लेख के प्रारंभ में 'विशाल भारत' का उल्लेख। यह सामयिक संकेत है। सन् २८ के विशाल भारत में यह लेख छपा था। उसके बाद प्रेमचंद ने बहुत कुछ लिखा, अतः इस लेख का विवरण पूरा नहीं अधूरा है। तीसरी ध्यान देने की बात है आलोचक की नई आलोचना-पद्धति। हिन्दी में साधारणतया कथावस्तु, कथोपकथन, चरित्रांकन, वर्णन, उद्देश्य और भाषा-शैली का विचार करके गद्य-साहित्य की समीक्षा होती है। पर इस वैज्ञानिक लेखक ने देश काल, पात्र, वस्तु और गति के तत्त्व प्रकृति-विज्ञान से लेकर उनमें व्यंजना और उद्देश्य के तत्त्व भाव-विज्ञान के क्षेत्र से मिला दिए हैं। इस प्रकार की

वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग किया जाय तो एक नई दिशा मिल सकती है।

यदि हम प्रेमचंद की कहानी की समीक्षा देश की दृष्टि से करें तो देख सकते हैं कि उनमें सदा भारत का गाँव चित्रित रहता है, वहाँ कभी विदेशी गाँव, पुर देखने को नहीं मिलते। इसीसे स्वदेश-प्रेम उनकी कहानी में सदा स्निग्ध रहता है। 'काल' के तो प्रेमचंद उपासक ही हैं। उन्होंने इसी आधुनिक काल की कहानी लिखी है और आधुनिक काल के लोगों के लिए लिखी है। यही आधुनिकता तो उनकी लोकप्रियता की रीढ़ है। इसी आधुनिकता पर ही लोग कहने लगे हैं कि क्या ये तात्कालिक कृतियाँ कालाश्रित भी हो सकेंगी।

व्यक्ति की दृष्टि से प्रेमचंद की कहानी उस लोकसंग्रही साहित्यकार की अनुभूति है जो अपने भाइयों के लिए कुछ करना चाहता है। इसीसे उनकी कहानी उनके समानधर्मी सभी देशोपकारियों और शिक्षकों को अच्छी लगती है। और जिन पात्रों के लिए वे लिखी गई हैं वे तो उन्हें जी जान से अपना चुके हैं। इस देश काल और व्यक्ति की दृष्टि से इनकी कहानियाँ सात्विक और सफल मानी जाती हैं। वस्तु और गति का विचार है कहानी के सत्य और सौंदर्य-विकास को आँकना। कथावस्तु की परीक्षा में ही अरस्तू ने चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि तत्त्वों का समावेश किया है। विज्ञान की गति के समान कहानी में यदि जीवन की गति नहीं, प्राणों का स्पन्दन नहीं, तो वह किस काम की? गति से ही सौंदर्य बढ़ता घटता है।

व्यंजना का विचार रस, भाव, ध्वनि आदि के साथ ही भाषा और शैली का भी ध्यान रखता है।

उद्देश्य का विचार कला और नीति का योग देखना है और यह जाँचना है कि कला पर नीति हावी तो नहीं होती।

अन्तिम बात है इस लेख में संदर्भों का विभाजन । पूरे लेख में १० संदर्भ हैं । यदि हम पहले के ३ या ४ निकाल दें तो भी लेख में कोई कमी नहीं आती और इसी प्रकार अन्त वाला १० परम आवश्यक नहीं है। पर अधिकस्याधिकं फलम् !

'ऊँह'
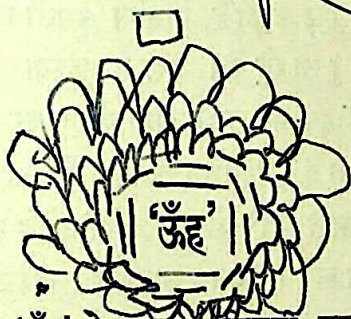
ईश्वर इस 'ऊँह' से बचाए। जिसकी ज़बान पर आया, उसको तबाह किया; जिस घर में घुसा, उसका सत्यानाश किया और जिस राष्ट्र में फैला, उसमें गधे के हल चलवा दिये। सबूत चाहिए तो संसार का इतिहास उठा कर देख लो, इस 'ऊँह' ने संसार के क्या-क्या रंग बदले हैं। जनरल 'ग्रूश' को नैपोलियन आज्ञा देता है कि अंग्रेज़ों की फौज के पीछे अभी पहुँच जाओ और पौ फटने से पहिले उसके पृष्ठभाग पर दबाव डालो। सामने से मैं आक्रमण करता हूँ। 'ब्लूशर' के आने से पहिले इस फ़ौज को रगड़ डालेंगे। जनरल 'ग्रूश' 'ऊँह' कर देता है। सवेरे नौ बजे 'ब्रेकफास्ट' (प्रातराश) से फ़ारिग होकर रवाना होता है। 'वाटरलू' की लड़ाई न सिर्फ यूरोप का, बल्कि सारी दुनियाँ का नक़्शा बदल देती है।

हिन्दोस्तान में भी इस 'ऊँह' का कुछ कम जोर नहीं रहा है। नादिरशाह चढ़ा चला आ रहा है। मोहम्मद शाह बादशाह रंगरेलियाँ मना रहे हैं, पर्चा लगता है कि नादिर लाहौर तक आ गया। बादशाह सलामत 'ऊँह' कर देते हैं। लीजिए, इनकी एक 'ऊँह' से दिल्ली लुट जाती है, खजाना खाली हो जाता है।

मरहठे बढ़ते आ रहे हैं। दिल्ली पर कब्जा करके 'गंजपुरा' लूट लेते हैं। अहमदमशाह अबदाली को ख़बर होती है। वह बदला लेने चलता है। 'होलकर' और 'सेंधिया' दोनों मिलकर 'भाऊ' को समझाते हैं कि तोपखाना यहीं छोड़ दो, हलके फुलके होकर मुकाबिला करो। आमने-सामने की लड़ाई 'अबदाली' से मुश्किल है। 'भाऊ' 'ऊँह' कर देता है। इस 'ऊँह' का नतीजा यह निकलता है कि हिन्दोस्तान की सल्तनत का जो ख़याल मरहठों का था, वह पानीपत की लड़ाई से स्वप्न हो जाता है।

पहले तो जो कुछ था, वह था; आजकल इस 'ऊँह' का बड़ा ज़ोरज़ोरा है। यही वजह है कि यहाँ के इन्तज़ाम का ऊँट क़िसी करवट नहीं बैठता, इधर प्रजा की माँग-पुकार पर गवर्नमेंट ने 'ऊँह' की और इधर इस 'ऊँह' का जवाब बम से मिला। ज़रा गवर्नमेंट के शासन पर प्रजा ने 'ऊँह' की, और इस 'ऊँह' पर मशीनगन की गोलियाँ बरस गईं। प्रजा की हालत देखो तो यहाँ भी इस ऊँह के नतीजे मौजूद हैं। मुसलमान-मुसलमान में झगड़ा, हिंदू-हिंदू में झगड़ा, हिंदू-मुसलमान में झगड़ा, उत्तर-दक्खिन में झगड़ा, पूरब-पच्छिम में झगड़ा, यहाँ तक कि ज़मीन-

आसमान में झगड़ा। अगर यहाँ 'ऊँह' का कुछ अरसे यों ही ज़ोर रहा, तो 'स्वराज्य' मिलना क्या 'गुलामी' भी नसीब होनी मुश्किल है।

देश के बाद अब सभाओं की दशा देखो, तो वहाँ भी यही रंग दिखाई देगा। मेम्बर हैं कि बने-ठने, गद्देदार कुर्सियों पर विराजमान हैं। स्पीकर (वक्ता) जोश में बहकर कहीं से कहीं निकले जा रहे हैं। मेम्बरों ने थोड़ी देर यह असम्बद्ध भाषण सुना और 'ऊँह' कहकर आँखें बन्द कर लीं। लीजिए, इनके लिए तो सभा की कार्रवाई समाप्त हो गई। जो सदस्य ज़रा आँखें खोले बैठे हैं, वे ब्लाटिंग पर फूल-पत्ते या गधे और आदमियों के चित्र बना रहे हैं। कोई इन भले आदमियों से पूछे कि महाशय, यहाँ आप सोने और चित्र बनाने आये हैं, या राष्ट्र के लिये कुछ काम करने? वोट लेने का वक्त आया और उन्होंने बेसोचे-समझे पक्ष या विपक्ष में हाथ उठा दिये। उनको न यह मालूम करने की ज़रूरत कि इस विषय पर क्या विवाद हुआ और न यह जानने की आवश्यकता कि परिस्थिति के अनुसार समर्थन करना चाहिये या विरोध। यह तो सिर्फ 'ऊँह' करने और हाथ उठाने आये थे। इस कर्तव्य को पूरा कर दिया। अब सभा वाले जानें, उनका काम जाने। सभा की समाप्ति पर इन लोगों से पूछो तो निःसन्देह नब्बे फी-सदी 'ऊँह' से जवाब देंगे, जिसका अर्थ यह हुआ कि सभा व्यर्थ, वक्ता बेवकूफ और सुनने वाले गधे!

विद्यार्थियों को देखो, तो 'ऊँह' का जोर सबसे अधिक इन्हीं में पावोगे। साल-भर खेल-कूद में गँवा दिया। परीक्षा का समय आया, तो 'ऊँह' कर दी, यानी कल से पढ़ेंगे, आखिर यह 'ऊँह' यहाँ तक खींचा कि परीक्षा आ गई। फ़ेल हुए। फ़ेल होने पर भी 'ऊँह' कर दी। यह ऊँह बहुत ही सारगर्भित है। इसका एक अर्थ तो यह है कि बाप जीते हैं, खाने-पीने और उड़ाने को मुफ्त मिलता है। अगर वह भी मर गये तो जायदाद मौजूद है। कर्ज़ा देने को साहूकार तय्यार हैं। फिर पढ़-लिखकर अपना समय क्यों नष्ट करें। दूसरा मतलब यह कि अभी हमारी उम्र ही क्या है, सिर्फ अठारह वर्ष की है। अगर मिडिल के इम्तहान में दो चार बार फ़ेल ही हो चुके हैं, तो क्या हर्ज है? तीस साल की उम्र तक भी इन्ट्रेन्स पास कर लिया, तो सिफारिश के बल पर कहीं-न-कहीं चिपक ही जायँगे, या कम से कम विलायत जाने का कर्ज़ा तो ज़रूर मिल जायगा, और ज़रा कोशिश की तो बाद में माफ भी हो सकेगा।

इस फ़ेल होने पर इधर इन्होंने 'ऊँह' की और उधर माँ-बाप ने 'ऊँह' की। इस दशा में माँ और बाप की 'ऊँह' का दूसरा अभिप्राय है, अर्थात् यह कि 'बच्चा' अभी फ़ेल हुआ है, दिल टूटा हुआ है। ज़रा कुछ कहा, तो कहीं ऐसा न हो कि रो रोकर जान हलाकान कर ले या कहीं जाकर डूब मरे। बस, इस 'ऊँह' ने 'साहबज़ादे' की शिक्षा की इति श्री कर दी।

घरवाली की 'ऊँह' सबसे ज़्यादा भयानक ऊँह होती है। किसी

दासी पर रुष्ट हो रही हैं। वह बराबर जवाब दिये जाती है। यह 'ऊँह' करके चुप हो जाती हैं। लीजिए, नौकर शेर हो गये। घर का सारा प्रबंध अस्त-व्यस्त, इनके अधिकार छिन गये। घर के शासन का सूत्र नौकरों के हाथ में चला गया। कोई चीज़ चोरी हो गई। घर की मालिकिन ने इधर उधर ढूँढ़ा। कुछ थोड़ा बहुत हल्ला भी मचाया। आख़िर 'ऊँह' करके बैठ गई। अब क्या है ? पिटारी में से कत्था-छालियाँ गायब, कैशबक्स में से रुपये पैसे गायब, संदूकों में से कपड़े गायब, शनैः शनैः सारे घरका सफ़ाया हो गया। बच्चों ने कोयलों से दीवारों पर लकीरें खींचीं, दरवाजों पर पेन्सिल से कीडे-मकोड़े बनाए। पहले तो श्रीमती जी कुछ थोड़ी बहुत बिगड़ीं, फिर 'ऊँह' करके चुप हो गई। अब जाकर देखो, तो थोड़े दिनों में सारा मकान भाँति भाँति की चित्रकारी से 'अजन्ता की गुफाओं' को मात कर रहा है !

अब रहे स्वामी, सो इनकी 'ऊँह' सबसे ज़्यादा तेज़ है। श्रीमती जी किसी बात पर बिगड़ीं, यह 'ऊँह' करके बाहर चले गए। अब न तो इनकी कोई प्रतिष्ठा नौकरों में रही और न श्रीमती की दृष्टि में। रसोई बनानेवाली ने पंद्रह दिन में दस रुपये की लकड़ियाँ जला दीं। मालिक को क्रोध आया और क्यों न आता, परिश्रम की कमाई इस तरह जलती देख कर क्यों दिल न जले। कुछ बड़बड़ाए, घरवाली की तरफ सहायता की दृष्टि से देखा। उन्होंने 'ऊँह' कर दी। मिसरानी जी (रोटी बनानेवाली) ने यह रंग देख दूसरे पखवाड़े में बीस रुपये की लकड़ियाँ फूँक दीं।

पर यह बात भी है कि दम्पती की यह 'ऊँह' कभी-कभी वह काम कर जाती है, जो चाणक्य जैसे नीति-निपुण मंत्री भी नहीं कर सकते। श्रीमती को क्रोध आया। पति ने 'ऊँह' कर दी। चलो लड़ाई का खातमा हुआ। पतिदेव किसी बात पर बिगड़े, देवीजी ने 'ऊँह' कर दी, उनका क्रोध शान्त हो गया। यदि 'ऊँह' की जगह जवाब दिया जाता, तो पतिदेव को घर छोड़ना और श्रीमती को अपने मायके जाना पड़ता। हिन्दुस्तान के बहुत से घराने इस 'ऊँह' ही ने बचा रखे हैं।

प्रत्येक विषय के दो पक्ष होते हैं, जय या पराजय, और इन दोनों दशाओं में 'ऊँह' हानिकारक सिद्ध होती है। पराजय पर जिसने 'ऊँह' की उसने मानो अपनी हार को हार ही न समझा। ऐसी दशा में वह अपनी दशा सुधारने की क्या चेष्टा करेगा? जिसने विजय पर 'ऊँह' की, उसने मानो अपने साहस और पराक्रम की क़द्र नहीं की। वह आज नहीं डूबा, तो कल डूबेगा। दुनिया में वे लोग कुछ कर सकते हैं, जो जीत को जीत और हार को हार समझें। अब रहे ये 'ऊँह'वाले, जो बेपरवाही और उपेक्षा से विजय और पराजय को बराबर समझते हैं, जिनकी दृष्टि में हार और जीत में कोई भेद ही नहीं, उनका बस, ईश्वर ही मालिक है।

यह उचित प्रतीत होता है कि अंत में इस 'ऊँह' के क्रमविकास पर भी कुछ प्रकाश डाला जाय, और यह बताया जाय कि यह पहले क्या था और क्या से क्या हो गया। हमलोग पुरुषार्थ

रहित प्रारब्ध के अनुयायी हो गए हैं, और इस प्रारब्धवाद से हमको यह लाभ हुआ कि कोई ज़िम्मेदारी या उत्तरदायित्व हम पर बाकी नहीं रहा, इसलिए हमारी कोशिश हमेशा यह रही है कि इस भोगवाद या प्रारब्ध के जितने विभाग बढ़ाए जा सकें, उतने बढ़ा दें। पहले हमने इस भोगवाद को संतोष, ईश्वर की मर्जी और निरीहता इन तीन सीढ़ियों तक पहुँचाया था, पर जब इससे भी हमारी तृप्ति न हुई, तो चौथा दर्जा 'ऊँह' का निकाला। भोगवाद के कैवल्य का यह अंतिम सोपान है। हमारे साहस की प्रशंसा करनी चाहिए कि हम इस आख़िरी सीढ़ी को भी तय कर चुके हैं। अगर ज़माने की यही हालत रही, तो थोड़े दिनों में इस 'ऊँह' से भी कोई ऊँचा स्थान ढूँढ़कर वहाँ पहुँचने की कोशिश करेंगे, और ईश्वर ने चाहा, तो सफल होंगे।

मेरी ओर से कोई हिन्दोस्तान के लीडरों को सुना दे कि स्वराज्य प्राप्त करना है, तो पहले अपने भाइयों में से इस 'ऊँह' को निकालो। यह कर सके, तो हिन्दुस्तान ही क्या सारा संसार तुम्हारा है। यह नहीं हो सकता, तो व्यर्थ चीख़-चीख़ कर क्यों अपना गला फाड़ते हो। हम 'ऊँह' करदेंगे और तुम चीख़ते-चीख़ते मर जाओगे।

"ऊँह"

जब कवि अपने हृदय में लगी हुई कोई भी बात कहता है—चाहे वह नीति की हो अथवा कुनीति की हो, बुद्धि की हो अथवा हृदय की—वह काव्य बन जाती है। 'ऊँह' भी ऐसी ही कवि के हृदय में लगी हुई बात है। यद्यपि उसमें आदि से अन्त तक खुला उपदेश भरा है तथापि उसका जन्म कवि-हृदय से हुआ है इससे वह पाठक के हृदय में घर कर जाती है। यदि हृदय-स्पर्शिता काव्य की कसौटी है तो ऊँह अवश्य ऊँचा साहित्य है—वर्गीकर्ता आलोचक चाहे उसे प्रयुक्त साहित्य कहें अथवा शुद्ध। साहित्य के तीनों गुण उसमें हैं—वस्तु, रीति और हृदय छूने की शक्ति। साहित्य में 'ऊँह' का नाम सुनकर पाठक भी ऊँह कर देता है। निबंध का नाम है 'ऊँह'। सुनते ही विद्यार्थी भी ऊँह कर देता है। पर जब कवि इतिहास, समाज, परिवार आदि के अनुभव से रँगे हुए चित्र दिखाता है तो हर एक का मन ऊँह की ओर दौड़ने लगता है। इस निबंध में एक से एक बढ़कर रस चित्र खींचे गए हैं।

पीछे से उस्ताद ने ज्ञान भी कथा है। यह भी भोले चित्रकार के लिए स्वाभाविक है। इसीसे उसमें भी व्यंग्य और विनोद की एक धीमी ध्वनि है। अन्त में तो लेखक ने लिखा है कि अपने भाइयों में से ऊँह को निकालो। पर उसकी भाषा और शैली कहती है कि वह स्वयं ऊँह की झाँकी पर ऐसा दीवाना है कि उसके भविष्य का स्वप्न देख रहा है। 'हम ऊँह कह देंगे और तुम चीख़ते चीख़ते मर जावोगे'। यह उपदेश नहीं, चित्र है, इसीसे तो प्यारा लगता है।

एक निबंध में इस चित्र-शैली ने न जाने कितनी स्वतंत्र कहानियाँ अंकित कर दी हैं। नेपोलियन और नादिर की ही नहीं, हमारी मधुर गृहस्थी की रंगीन कहानियाँ भी। मुहाविरेदार हिन्दुस्तानी ऐसी ज़िन्दादिल है कि एक वार पढ़ना शुरू कर देने पर पढ़ने वाला कभी ऊँह नहीं कर सकता।

और हृदय छूने की शक्ति तो इसमें है ही, नहीं तो इस नीतिमय निबंध को उर्दू से हिन्दी में उल्था करने की ज़रूरत क्या थी, इसको साहित्य के क्षेत्र में स्थान देने की आवश्यकता क्या थी। इसकी हृदयग्राहिता और सर्वप्रियता ही तो इसका सर्वस्व है। एक बात और है। पौरुषेय निबंध के सभी गुण इसमें हैं। आदि से अन्त तक इसमें वक्ता की मधुर वाणी सुन पड़ती है। आत्मीय राग के सामने विषय और विचार गौण हो गये हैं। शीर्षक का विस्मयबोधक नाम भी इसका सबूत है। देशकाल की छाया रहने पर भी इसमें प्रभाव की गंभीरता और स्थिरता है, यह सामयिक नहीं स्थायी साहित्य है।

लेखक जयशंकर

गुंडा

15

१

वह पचास वर्ष से ऊपर था। तब भी युवकों से अधिक बलिष्ठ और दृढ़ था। चमड़े पर झुर्रियाँ नहीं पड़ी थीं। वर्षा की झड़ी में, पूस की रातों में, कड़कती हुई जेठ की धूप में, नंगे शरीर घूमने में वह सुख मानता था। उसकी चढ़ी मूछें बिच्छू के डंक की तरह, देखने वालों की आँखों में चुभती थीं। उसका साँवला रँग, साँप की तरह चिकना और चमकीला था। उसकी नागपुरी धोती का लाल रेशमी किनारा दूर से भी ध्यान आकर्षित करता। कमर में बनारसी सेल्हे का फेंटा, जिसमें सीप की मूठ का बिछुआ खुँसा रहता। उसके घुँघराले बालों पर सुनहले पल्ले के साफे का छोर उसकी चौड़ी पीठ पर फैला रहता। ऊँचे कन्धे पर टिका हुआ चौड़ी धार का गँड़ासा, यह थी उसकी

धज ! पंजों के बल जब वह चलता, तो उसकी नसें चटाचट बोलती थीं। वह गुण्डा था।

ईसा की अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में वही काशी नहीं रह गई थी, जिसमें उपनिषद् के अजातशत्रु की परिषद् में ब्रह्मविद्या सीखने के लिये विद्वान् ब्रह्मचारी आते थे। गौतम बुद्ध और शंकराचार्य के धर्म-दर्शन के वाद-विवाद, कई शताब्दियों से लगातार मन्दिरों और मठों के ध्वंस और तपस्वियों के वध के कारण, प्रायः बन्द-से हो गये थे। यहाँ तक कि पवित्रता और छूआछूत में कट्टर वैष्णव-धर्म भी उस विशृंखलता में, नवागंन्तुक धर्मोन्माद में, अपनी असफलता देखकर काशी में अघोर रूप धारण कर रहा था। उसी समय समस्त न्याय और बुद्धिवाद को शस्त्र-बल के सामने झुकते देखकर, काशी के विच्छिन्न और निराश नागरिक जीवन ने, एक नवीन सम्प्रदाय की सृष्टि की। वीरता जिसका धर्म था। अपनी बात पर मिटना, सिंह-वृत्ति से जीविका ग्रहण करना, प्राणभिक्षा माँगने वाले कायरों तथा चोट खाकर गिरे हुए प्रतिद्वन्द्वी पर शस्त्र न उठाना, सताये हुए निर्बलों को सहायता देना और प्रत्येक क्षण प्राणों को हथेली पर लिए घूमना, उनका बाना था। उन्हें लोग काशी में गुण्डा कहते थे।

जीवन की किसी अलभ्य अभिलाषा से वञ्चित होकर जैसे प्रायः लोग विरक्त हो जाते हैं, ठीक उसी तरह किसी मानसिक चोट से घायल होकर, एक प्रतिष्ठित जमींदार का पुत्र होने पर भी नन्हकूसिंह ने बहुत सा रुपया खर्च करके जैसा स्वाँग खेला

था, उसे काशी वाले बहुत दिनों तक नहीं भूल सके। वसन्त ऋतु में यह प्रहसन-पूर्ण अभिनय खेलने के लिये उन दिनों प्रचुर धन, बल, निर्भीकता और उच्छृङ्खलता की आवश्यकता होती थी। एक बार नन्हकूसिंह ने भी एक पैर में नूपुर, एक हाथ में तोड़ा, एक आँख में काजल, एक कान में हजारों के मोती तथा दूसरे कान में फटे हुए जूते का पल्ला लटका कर, एक हाथ में जड़ाऊ मूठ की तलवार, दूसरा हाथ भूषणों से लदी हुई अभिनय करनेवाली प्रेमिका के कन्धे पर रखकर गाया था—

'कहीं बैंगनवाली मिले तो बुला देना।'

प्रायः बनारस के बाहर की हरियालियों में, अच्छे पानी वाले कुओं पर, गङ्गा की धारा में मचलती हुई डोंगी पर, वह दिखलाई पड़ता था। कभी-कभी जुआखाने से निकल कर जब वह चौक में आ जाता, तो काशी की रँगीली वेश्याएँ मुस्कराकर उसका स्वागत करतीं और उसके दृढ़ शरीर को सस्पृह देखतीं। वह तमोली की ही दुकान पर बैठ कर उनके गीत सुनता, ऊपर कभी नहीं जाता था। जुए की जीत का रुपया मुट्ठियों में भर-भर कर, उनकी खिड़की में वह इस तरह उछालता कि कभी-कभी समाजी लोग अपना सिर सहलाने लगते, तब वह ठठाकर हँस देता। जब कभी लोग कोठे के ऊपर चलने के लिये कहते, तो वह उदासी की साँस खींचकर चुप हो जाता।

वह अभी बंसी के जुआ-खाने से निकला था। आज उसकी कौड़ी ने उसका साथ न दिया। सोलह परियों के नृत्य

में उसका मन न लगा। मन्नू तमोली की दुकान पर बैठते हुए उसने कहा—"आज सायत अच्छी नहीं रही मन्नू !"

"क्यों मालिक ! चिंता किस बात की है। हम लोग किस दिन के लिये हैं। सब आप ही का तो है।"

"अरे बुद्धू ही रहे तुम ! नन्हकूसिंह जिस दिन किसी से लेकर जुआ खेलने लगे, उसी दिन समझना वह मर गये। तुम जानते नहीं कि मैं जुआ खेलने कब जाता हूँ। जब मेरे पास एक पैसा नहीं रहता; उस दिन नाल पर पहुँचते ही जिधर बड़ी ढेरी रहती है उसी को बदता हूँ और फिर वही दाँव आता भी है। बाबा कीनाराम का यह बरदान है !"

"तब आज क्यों मालिक ?"

"पहिला दाँव तो आया ही, फिर दो-चार हाथ बदने पर सब निकल गया, तब भी लो, यह पाँच रुपये बचे हैं। एक रुपया तो पान के लिए रख लो और चार दे दो मलूकी कथक को, कह दो कि दुलारी से गाने के लिए कह दे। हाँ वही एक गीत—बिलमि विदेस रहे।"

नन्हकूसिंह की बात सुनते ही मलूकी, जो अभी गाँजे की चिलम पर रखने के लिये अँगारा चूर कर रहा था, घबराकर उठ खड़ा हुआ। वह सीढ़ियों पर दौड़ता हुआ चढ़ गया। चिलम को देखता ही ऊपर चढ़ा, इसलिए उसे चोट भी लगी; पर नन्हकूसिंह की भृकुटी देखने की शक्ति उसमें कहाँ। उसे नन्हकूसिंह की वह मूर्ति न भूली थी। जब इस पान की दूकान पर जुये खाने से जीता

हुआ, रुपये से भरा तोड़ा लिये वह बैठा था। दूर से बोधीसिंह की बारात का बाजा बजता हुआ आ रहा था। नन्हकू ने पूछा—"यह किस की बारात है ?"

"ठाकुर बोधीसिंह के लड़के की।"—मन्नू के इतना कहते ही नन्हकू के ओठ फड़कने लगे। उसने कहा—"मन्नू! यह नहीं हो सकता। आज इधर से बारात न जायगी। बोधीसिंह हमसे निपट कर तब बारात इधर से ले जा सकेंगे।"

मन्नू ने कहा—"तब मालिक मैं क्या करूँ ?"

नन्हकू गड़ाँसा कंधे पर से और ऊँचा करके मलूकी से बोला "मलुकिया देखता है अभी" जा ठाकुर से कह दे, कि बाबू नन्हकूसिंह आज यहीं लगाने के लिए खड़े हैं। समझ कर आवें लड़के की बारात है।"

मलुकिया काँपता हुआ ठाकुर बोधीसिंह के पास गया। बोधीसिंह और नन्हकू से पाँच वर्ष से सामना नहीं हुआ है। किसी दिन नाल पर कुछ बातों में ही कहा सुनी होकर, बीच-बचाव हो गया था। फिर सामना नहीं हो सका था। आज नन्हकू जान पर खेलकर अकेले खड़ा है। बोधीसिंह भी उस आन को समझते थे। उन्होंने मलूकी से कहा जा बे, कह दे कि हमको क्या मालूम कि बाबू साहब वहाँ खड़े हैं। जब वह हैं ही, तो दो समधी जाने का क्या काम है। बोधीसिंह लौट गये और मलूकी के कंधे पर तोड़ा लाद कर बाजे के आगे नन्हकूसिंह बारात लेकर गये। ब्याह में जो कुछ लगा खर्च किया। ब्याह कराकर तब दूसरे दिन

इसी दूकान तक आकर रुक गये। लड़के को और उसकी बारात को उसके घर भेज दिया।

मलूकी को भी दस रुपया मिला था उस दिन। फिर नन्हकू सिंह की बात सुनकर बैठे रहना और यम को न्योता देना एक ही बात थी। उसने जाकर दुलारी से कहा—हम ठेका लगा रहे हैं, तुम गाओ, तब तक बल्लू सारंगीवाला पानी पीकर आता है।

"बाप रे! कोई आफत आई है क्या बाबू साहब? सलाम—कहकर दुलारी ने खिड़की से मुस्कराकर झाँका था कि नन्हकूसिंह उसके सलाम का जवाब देकर, दूसरे एक आनेवाले को देखने लगे।

हाथ में हरौती की पतली-सी छड़ी, आँखों में सुरमा, मुँह में पान, मेंहदी लगी हुई लाल दाढ़ी, जिसकी सफेद जड़ दिखलाई पड़ रही थी, कुब्वेदार टोपी, छकलिया अँगरखा और साथ में लैसदार परतलेवाले दो सिपाही! कोई मौलवी साहब हैं। नन्हकू हँस पड़ा। नन्हकू की ओर बिना देखे ही मौलवी ने एक सिपाही से कहा—"दुलारी से कह दो कि आज रेजीडेण्ट साहब की कोठी पर मुजरा करना होगा, अभी चलें, देखो तब तक हम जानअली से कुछ इत्र ले रहे हैं।"

सिपाही ऊपर चढ़ रहा था और मौलवी दूसरी ओर चले थे कि नन्हकू ने ललकार कर कहा—"दुलारी! हम कब तक यहाँ बैठे रहें! क्या अभी सारंगिया नहीं आया क्या?"

दुलारी ने कहा वाह बाबू साहब! आपही के लिए तो मैं यहाँ

आ बैठी हूँ । सुनिए न । आप तो कभी ऊपर"……मौलवी जल उठा । उसने कड़क कर कहा—"चोबदार अभी वह सूअर की बच्ची उतरी नहीं । जाओ कोतवाल के पास मेरा नाम लेकर कहो कि मौलवी अलाउद्दीन कुबरा ने बुलाया है । आकर इसकी मरम्मत करें । देखता हूँ तो जब से नवाबी गई, इन काफ़िरों की मस्ती बढ़ गई है ।"

कुबरा मौलवी ! बापरे—तमोली अपनी दूकान सम्हालने लगा । पास ही एक दूकान पर बैठकर ऊँघता हुआ बजाज चौंक कर सिर में चोट खा गया । इसी मौलवी ने तो महाराज चेतसिंह से साढ़े तीन सेर चींटी के सिर का तेल माँगा था । मौलवी अलाउद्दीन कुबरा ! बाजार में हलचल मच गई । नन्हकूसिंह ने मन्नू से कहा—"क्यों चुप-चाप बैठोगे नहीं ।"

दुलारी से कहा—"वहीं से बाई जी ! इधर-उधर हिलने का काम नहीं । तुम गाओ । हमने ऐसे घसियारे बहुत से देखे हैं । अभी कल रमल के पासे फेंक कर अधेला-अधेला माँगता था । आज चला है रोब गाँठने ।"

अब कुबरा ने घूमकर उसकी ओर देख कर कहा—"कौन है यह पाजी !"

"तुम्हारे चाचा बाबू नन्हकूसिंह !" के साथ ही पूरा बनारसी झापड़ पड़ा । कुबरा का सिर घूम गया । लैस के परतले-वाले सिपाही दूसरी ओर भाग चले और मौलवी साहब चौंधिया कर जानअली की दूकान पर लड़खड़ाते, गिरते-पड़ते, किसी तरह पहुँच गये ।

जानअली ने मौलवी से कहा—"मौलवी साहब ! भला आप उस गुण्डे के मुँह लगने गये। यह तो कहिए कि उसने गँड़ासा नहीं तौल दिया।" कुबरा के मुँह से बोली नहीं निकल रही थी। उधर दुलारी गा रही थी—'.........बिलमि विदेस रहे......', गाना पूरा हुआ, कोई आया गया नहीं। तब नन्हकूसिंह धीरे-धीरे टहलता हुआ, दूसरी ओर चला गया। थोड़ी देर में एक डोली रेशमी परदे से ढँकी हुई आई। साथ में एक चोबदार था। उसने दुलारी को राजमाता पन्ना की आज्ञा सुनाई।

दुलारी चुप-चाप डोली पर जा बैठी। डोली धूल और संध्या काल के धुएँ से भरी हुई बनारस की तंग गलियों से होकर शिवालय घाट की ओर चली।

२

श्रावण का अन्तिम सोमवार था। राजमाता पन्ना शिवालय में बैठकर पूजन कर रही थीं। दुलारी बाहर बैठी कुछ अन्य गाने-वालियों के साथ भजन गा रही थी। आरती हो जाने पर फूलों की अञ्जलि बिखेर कर पन्ना ने भक्ति-भाव से देवता के चरणों में प्रणाम किया। फिर प्रसाद लेकर आते ही उन्होंने दुलारी को देखा। उसने खड़ी होकर हाथ जोड़ते हुए कहा—"मैं पहिले ही पहुँच जाती। क्या करूँ, वह कुबरा मौलवी निगोड़ा आकर रेजि-डेण्ट की कोठी पर ले जाने लगा। घण्टों इसी झंझट में बीत गया सरकार !"

कुबरा मौलवी ! जहाँ सुनती हूँ उसी का नाम। सुना है कि

उसने यहाँ भी आकर कुछ........"—फिर न जाने क्या सोच कर बात बदलते हुए पन्ना ने कहा—"हाँ, तब फिर क्या हुआ? तुम कैसे यहाँ आ सकीं।"

"बाबू नन्हकूसिंह उधर से आगये। मैंने कहा—सरकार की पूजा पर मुझे भजन गाने को जाना है। और यह जाने नहीं दे रहा है। उन्होंने मौलवी को ऐसा झापड़ लगाया कि उसकी हेकड़ी भूल गई। और तब जाकर मुझे किसी तरह यहाँ आने की छुट्टी मिली।"

"कौन नन्हकू सिंह?"

दुलारी ने सिर नीचा कर के कहा—"अरे क्या सरकार को नहीं मालूम? बाबू निरंजनसिंह के लड़के! उस दिन, जब मैं बहुत छोटी थी, आपकी बारी में झूला झूल रही थी, जब नवाब का हाथी बिगड़ कर आ गया था, बाबू निरंजनसिंह के कुँवर ने ही तो उस दिन हम लोगों की रक्षा की थी।"

राजमाता का मुख उस प्राचीन घटना को स्मरण करके न जाने क्यों विवर्ण होगया। फिर अपने को सँभाल कर उन्होंने पूछा—"तो बाबू नन्हकूसिंह उधर कैसे आगये?"

दुलारी ने मुस्कराकर सिर नीचा कर लिया। दुलारी राजमाता पन्ना के पिता की ज़मींदारी में रहने वाली वेश्या की लड़की थी। उसके साथ ही कितनी बार झूले हिंडोले अपने बचपन में पन्ना झूल चुकी थीं। वह बचपन से ही गाने में सुरीली थी। सुंदरी होने पर चंचल भी थी। पन्ना जब काशिराज की माता थीं तब दुलारी काशी की प्रसिद्ध गानेवाली थी। राजमहल में उसका

गाना-बजाना हुआ ही करता। महाराज बलवन्तसिंह के समय से ही संगीत पन्ना के जीवन का आवश्यक अंश था। हाँ, तब प्रेम दुःख और दर्द-भरी विरह कल्पना के गीत की ओर अधिक रुचि थी। अब सात्विकभाव-पूर्ण भजन होता था। राजमाता पन्ना का वैधव्य से दीप्त शान्त मुख-मण्डल कुछ मलिन होगया।

बड़ी रानी की सापत्न्य-ज्वाला बलवन्तसिंह के मर जाने पर भी नहीं बुझी। अन्तःपुर कलह का रंगमंच बना रहता, इसीसे प्रायः पन्ना काशी के राजमन्दिर में आकर पूजा-पाठ में अपना मन लगातीं। रामनगर में उनको चैन नहीं मिलता। नई रानी होने के कारण बलवन्तसिंह की प्रेयसी होने का गौरव तो उन्हें था ही, साथ में पुत्र उत्पन्न करने का सौभाग्य भी मिला, फिर भी असवर्णता का सामाजिक दोष उनके हृदय को व्यथित किया करता। उन्हें अपने ब्याह की आरम्भिक चर्चा का स्मरण हो आया।

छोटे से मंच पर बैठी, गंगा की उमड़ती हुई धारा को पन्ना अन्यमनस्क होकर देखने लगीं। उस बात को, जो अतीत में एक बार, हाथ से अनजान में खिसक जाने वाली वस्तु की तरह गुप्त हो गई हो; सोचने का कोई कारण नहीं। उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं; परन्तु मानव-स्वभाव हिसाब रखने की प्रथा के अनुसार कभी-कभी कह ही बैठता है कि "यदि वह बात हो गई होती तो?" ठीक उसी तरह पन्ना भी राजा बलवन्तसिंह-द्वारा बलपूर्वक रानी बनाई जाने के पहले की एक संभावना को सोचने लगी थीं, सो

भी बाबू नन्हकूसिंह का नाम सुन लेने पर। गेंदा मुँह लगी दासी थी। वह पन्ना के साथ उसी दिन से है, जिस दिन से पन्ना बलवन्तसिंह की प्रेयसी हुई। राज्य-भर का अनुसन्धान उसी के द्वारा मिला करता। और उसे न जाने कितनी जानकारी भी थी। उसने दुलारी का रंग उखाड़ने के लिये कुछ कहना आवश्यक समझा।

"महारानी! नन्हकूसिंह अपनी सब जमींदारी सवाँग, भैंसों की लड़ाई, घुड़दौड़ और गाने-बजाने में उड़ाकर अब डाकू हो गया है। जितने खून होते हैं, सब में उसी का हाथ रहता है। जितनी......" उसे रोक कर दुलारी ने कहा—"यह झूठ है। बाबू साहब के ऐसा धर्मात्मा तो कोई है ही नहीं। कितनी विधवाएँ उनकी दी हुई धोती से अपना तन ढकती हैं। कितनी लड़कियों की ब्याह-शादी होती है। कितने सताये हुए लोगों की उनके द्वारा रक्षा होती है।"

रानी पन्ना के हृदय में एक तरलता उद्वेलित हुई। उन्होंने हँसकर कहा—"दुलारी, वे तेरे यहाँ आते हैं न? इसी से तू उनकी बड़ाई...... ।"

"नहीं सरकार! शपथ खाकर कह सकती हूँ, कि बाबू नन्हकूसिंह ने आज तक कभी मेरे कोठे पर पैर नहीं रखा।"

राजमाता न जाने क्यों इस अद्भुत व्यक्ति को समझने के लिए चञ्चल हो उठी थीं। तब भी उन्होंने दुलारी को आगे कुछ न कहने के लिए तीखी दृष्टि से देखा। वह चुप हो गई। पहले पहर की शहनाई बजने लगी। दुलारी छुट्टी माँग कर डोली पर बैठ गई।

राजशेखर

तब गेंदा ने कहा—"सरकार! आज कल नगर की दशा बड़ी बुरी है। दिन दहाड़े लोग लूट लिये जाते हैं। सैकड़ों जगह नाल पर जूए में लोग अपना सर्वस्व गँवाते हैं। बच्चे फुसलाये जाते हैं। गलियों में लाठियाँ और छुरे चलने के लिए टेढ़ी भौंहें कारण बन जाती हैं। इधर रेजीडेण्ट साहब से महाराज की अनबन चल रही है।" राजमाता चुप रहीं।

दूसरे दिन राजा चेतसिंह के पास रेजीडेण्ट मार्कहेण्ड की चिट्ठी आई। जिसमें नगर की दुर्व्यवस्था की कड़ी आलोचना थी। डाकुओं और गुण्डों को पकड़ने के लिए, उन पर कड़ा नियन्त्रण रखने की सम्मति भी थी। कुबरा मौलवी वाली घटना का उल्लेख था। उधर हेस्टिंग्स के आने की भी सूचना थी। शिवालयघाट और रामनगर में हलचल मच गई। कोतवाल हिम्मतसिंह पागल की तरह, जिसके हाथ में लाठी, लोहाँगी, गँड़ासा, बिछुआ या करौली देखते उसी को पकड़ने लगते।

एक दिन नन्हकूसिंह सुम्भा के नाले के संगम पर ऊँचे से टीले की घनी हरियाली में अपने चुने हुए साथियों के साथ दुधिया छान रहे थे। गंगा में उनकी पतली डोंगी बड़ की जटा से बँधी थी। कथकों का गाना हो रहा था। चार उलाँकी एक्के कसे कसाये खड़े थे।

नन्हकूसिंह ने अकस्मात् कहा—"मलूकी! गाना जमता नहीं है। उलाँकी पर बैठ कर जाओ, दुलारी को बुला लाओ।" मलूकी वहाँ मजीरा बजा रहा था। दौड़ कर एक्के पर जा बैठा, आज

नन्हकूसिंह का मन उखड़ा था। बूटी कई बार छानने पर भी नशा नहीं। एक घण्टे में दुलारी सामने आ गई। उसने मुस्कुरा कर पूछा—"क्या हुक्म है बाबू साहब !"

"दुलारी ! आज गाना सुनने का मन हो रहा है।"

"इस जंगल में क्यों ?" उसने सशंक हँसकर कुछ अभिप्राय से पूछा।

"तुम किसी तरह का खटका न करो।" नन्हकूसिंह ने हँस कर कहा।

"यह तो मैं उस दिन महरानी से भी कह आई।"

"क्या किससे ?"

"राजमाता पन्ना देवी से"—फिर उस दिन गाना नहीं जमा। दुलारी ने आश्चर्य से देखा कि तानों में नन्हकू की आँखें तर हो जाती हैं।

गाना-बजाना समाप्त हो गया था। वर्षा की रात में झिल्लियों का स्वर उस झुरमुट में गूँज रहा था। मन्दिर के समीप ही छोटे-से कमरे में नन्हकूसिंह चिन्ता में निमग्न बैठा था। आँखों में नींद नहीं। और सब लोग तो सोने लगे थे, दुलारी जाग रही थी। वह भी कुछ सोच रही थी। आज उसे, अपने को रोकने के लिये कठिन प्रयत्न करना पड़ रहा था, किन्तु असफल होकर वह उठी और नन्हकूसिंह के समीप धीरे-धीरे चली आई। कुछ आहट पाते ही चौंक कर नन्हकू ने पास ही पड़ी हुई तलवार उठा ली। तब हँस कर दुलारी ने कहा—"बाबूसाहब ! यह क्या ? स्त्रियों पर भी तलवार चलाई जाती है !"

छोटे-से दीपक के प्रकाश में वासनाभरी रमणी का मुख देखकर नन्हकू हँस पड़ा। उसने कहा—"क्यों बाई जी! क्या इसी समय जाने की पड़ी है। मौलवी ने फिर बुलाया है क्या?" दुलारी नन्हकू के पास बैठ गई। नन्हकू ने कहा—"क्या तुमको डर लग रहा है?"

"नहीं, मैं कुछ पूछने आई हूँ।"

"क्या?"

"क्या,......यही कि......कभी तुम्हारे हृदय में......।"

"उसे न पूछो दुलारी! हृदय को बेकार ही समझ कर तो उसे हाथ में लिये फिर रहा हूँ। कोई कुछ कर देता—कुचलता—चीरता उछालता! मर जाने के लिए सब कुछ तो करता हूँ; पर मरने नहीं पाता।"

"मरने के लिए भी कहीं खोजने जाना पड़ता है! आपको काशी का हाल क्या मालूम! न जाने घड़ी भर में क्या हो जाय। क्या उलट-पुलट होने वाला है! बनारस की गलियाँ जैसे काटने दौड़ती हैं!"

"कोई नई बात इधर हुई है क्या?"

"कोई हेस्टिंग्ज़ साहब आया है। सुना है कि उसने शिवालय-घाट पर तिलंगों की कम्पनी का पहरा बैठा दिया है। राजा चेत-सिंह और राजमाता पन्ना वहीं हैं। कोई-कोई कहता है कि उनको पकड़ कर कलकत्ता भेजने....."

"क्या पन्ना भी......रनवास भी वहीं है"—नन्हकू अधीर हो उठा था।

"क्यों बाबूसाहब, आज रानी पन्ना का नाम सुन कर आपकी आँखों में आँसू क्यों आगये !"

सहसा नन्हकू का मुख भयानक हो उठा। उसने कहा—"चुप रहो, तुम इसको जानकर क्या करोगी।" वह उठ खड़ा हुआ। उद्विग्न की तरह न जाने क्या खोजने लगा। फिर स्थिर होकर उसने कहा—"दुलारी ! जीवन में आज यह पहला ही दिन है कि एकान्त रात में एक स्त्री मेरे पलँग पर आकर बैठ गई है, मैं चिर-कुमार ! अपनी एक प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए सैकड़ों असत्य अपराध करता फिर रहा हूँ। क्यों ? तुम जानती हो ? मैं स्त्रियों का घोर विद्रोही हूँ और पन्ना !......किन्तु उसका क्या अपराध ! अत्याचारी बलवन्तसिंह के कलेजे में बिछुआ मैं न उतार सका। किन्तु पन्ना ! उसे पकड़कर गोरे कलकत्ते भेज देंगे। वही......।"

नन्हकूसिंह उन्मत्त हो उठा था। दुलारी ने देखा, नन्हकू अन्धकार में ही वट वृक्ष के नीचे पहुँचा और गंगा की उमड़ती हुई धारा में डोंगी खोल दी—उसी घने अन्धकार में। दुलारी का हृदय काँप उठा।

३

१६ अगस्त सन् १७८१ को काशी डाँवाडोल हो रही थी। शिवालयघाट में राजा चेतसिंह लेफ्टिनेण्ट इस्टाकर के पहरे में थे। नगर में आतंक था। दूकानें बन्द थीं। घरों में बच्चे अपनी माँ से पूछते थे—"माँ, आज हलुए वाला नहीं आया।" वह

कहती—"चुप बेटे !" सड़कें सूनी पड़ीं थीं। तिलङ्गोंकी कम्पनी के आगे-आगे कुबरा मौलवी कभी-कभी, आता-जाता दिखाई पड़ता था। उस समय खुली हुई खिड़कियाँ भी बन्द हो जाती थीं। भय और सन्नाटे का राज्य था। चौक में चिथरूसिंह की हवेली अपने भीतर काशी की वीरता को वंदी किये कोतवाली का अभिनय कर रही थी। इस समय किसी ने पुकारा—

"हिम्मतसिंह !"

खिड़की में से सिर निकाल कर हिम्मतसिंह ने पूछा-'कौन?'

"बाबू नन्हकूसिंह !

"अच्छा, तुम अब तक बाहर ही रहे?"

"पागल ! राजा कैद हो गये हैं। छोड़ दो इन सब बहादुरों को ! हम एक बार इनको लेकर शिवालयघाट पर जाँय।"

"ठहरो"—कह कर हिम्मतसिंह ने कुछ आज्ञा दी, सिपाही बाहर निकले। नन्हकू की तलवार चमक उठी। सिपाही भीतर भागे। नन्हकू ने कहा—"नमकहरामों ! चूड़ियाँ पहन लो।" लोगों के देखते-देखते नन्हकूसिंह चला गया। कोतवाली के सामने फिर सन्नाटा हो गया।

नन्हकू उन्मत्त था। उसके थोड़े से साथी उसकी आज्ञा पर जान देने के लिए तुले थे। वह नहीं जानता था कि राजा चेतसिंह का क्या राजनैतिक अपराध है। उसने कुछ सोच कर अपने थोड़े से साथियों को फाटक पर गड़बड़ मचाने के लिए भेज दिया। इधर अपनी डोंगी लेकर शिवालय की खिड़की के नीचे धारा

काटता हुआ पहुँचा। किसी तरह निकले हुए पत्थर में रस्सी अटका कर, उस चञ्चल डोंगी को उसने स्थिर किया और बन्दर की तरह उछल कर खिड़की के भीतर हो रहा। उस समय वहाँ राजमाता पन्ना और युवक राजा चेतसिंह से बाबू मनियारसिंह कह रहे थे—"आप के यहाँ रहने से, हम लोग क्या करें यह समझमें नहीं आता। पूजा-पाठ समाप्त करके आप रामनगर चली गई होतीं, तो यह······"

तेजस्विनी पन्ना ने कहा—"अब मैं रामनगर कैसे चली जाऊँ?"

मनियारसिंह दुःखी होकर बोले—"कैसे बताऊँ? मेरे सिपाही तो वन्दी हैं।"

इतने में फाटक पर कोलाहल मचा। राज-परिवार अपनी मंत्रणा में डूबा था कि नन्हकूसिंह का आना उन्हें मालूम हुआ। सामने का द्वार बन्द था। नन्हकूसिंह ने एक बार गङ्गा की धारा को देखा—उसमें एक नाव घाट पर लगने के लिए लहरों से लड़ रही थी। वह प्रसन्न हो उठा। इसी की प्रतीक्षा में वह रुका था। उसने जैसे सबको सचेत करते हुए कहा—"महारानी कहाँ हैं?"

सबने घूम कर देखा—एक अपरिचित वीरमूर्ति! शस्त्रों से लदा हुआ पूरा देव!

चेतसिंह ने पूछा—"तुम कौन हो?"

"राजपरिवार का एक बिना दाम का सेवक!"

पन्ना के मुँह से हलकी-सी साँस निकल कर रह गई। उसने पहचान लिया। इतने वर्षों के बाद! वही नन्हकूसिंह!

मनियारसिंह ने पूछा—"तुम क्या कर सकते हो ?"

"मैं मर सकता हूँ ! पहले महरानी को डोंगी पर बिठाइए। नीचे दूसरी डोंगी पर अच्छे मल्लाह हैं, फिर बात कीजिए।" मनियारसिंह ने देखा ज़नानी ड्योढ़ी का दरोग़ा राज की एक डोंगी पर चार मल्लाहों के साथ खिड़की से नाव सटा कर प्रतीक्षा में है। उन्होंने पन्ना से कहा—"चलिए, मैं चलता हूँ।"

"और..."—चेतसिंह को देखकर, पुत्र-वत्सला ने संकेत से एक प्रश्न किया, उसका उत्तर किसी के पास न था। मनियारसिंह ने कहा—"तब मैं यहीं ?" नन्हकू ने हँस कर कहा—"मेरे मालिक, आप नाव पर बैठें। जब तक राजा भी नाव पर न बैठ जायँगे, तब तक सत्रह गोली खाकर भी नन्हकूसिंह जीवित रहने की प्रतिज्ञा करता है।"

पन्ना ने नन्हकू को देखा। एक क्षण के लिए चारों आँखें मिलीं, जिनमें जन्म-जन्म का विश्वास ज्योति की तरह जल रहा था। फाटक बलपूर्वक खोला जा रहा था। नन्हकू ने उन्मत्त होकर कहा—"मालिक ! जल्दी कीजिए।"

दूसरे क्षण पन्ना डोंगी पर थी और नन्हकूसिंह फाटक पर इस्टाकर के साथ।

चेतराम ने आकर एक चिट्ठी मनियारसिंह के हाथ में दी।

लेफ्टिनेन्ट ने कहा—"आपके आदमी गड़बड़ मचा रहे हैं। अब मैं अपने सिपाहियों को गोली चलाने से नहीं रोक सकता।"

"मेरे सिपाही यहाँ कहाँ साहब ? मनियारसिंह ने हँसकर कहा। बाहर कोलाहल बढ़ने लगा था।

चेतराम ने कहा—"पहले चेतसिंह को कैद कीजिये।"

"कौन ऐसी हिम्मत करता है।"—कड़ककर कहते हुए बाबू मनियारसिंह ने तलवार खींच ली। अभी बात पूरी न हो सकी थी कि कुबरा मौलवी वहाँ पहुँचा। यहाँ मौलवीसाहब की कलम नहीं चल सकती थी, और न ये बाहर ही जा सकते थे। उन्होंने कहा—"देखते क्या हो चेतराम!"

चेतराम ने राजा के ऊपर हाथ रखा ही था कि नन्हकू के सधे हुए हाथ ने उसकी भुजा उड़ा दी। इस्टाकर आगे बढ़े, मौलवीसाहब चिल्लाने लगे। नन्हकूसिंह ने देखते-देखते इस्टाकर और उसके कई साथियों को धराशायी किया। फिर मौलवी साहब कैसे बचते!

नन्हकूसिंह ने कहा—"क्यों उस दिन के झापड़ ने तुझको समझाया नहीं? ले पाजी!"—कहकर ऐसा साफ जनेवा मारा कि कुबरा ढेर हो गया। कुछ ही क्षणों में यह भीषण घटना हो गई, जिसके लिये अभी कोई प्रस्तुत न था।

नन्हकूसिंह ने ललकार कर चेतसिंह से कहा—"क्या आप देखते हैं? उतरिये डोंगी पर!"—उसके घावों से रक्त के फुहारे छूट रहे थे। उधर फाटक से तिलंगे भीतर आने लगे थे। चेतसिंह ने खिड़की से उतरते हुए देखा कि बीसों तिलंगों की संगीनों के बीच वह अविचल खड़ा होकर तलवार चला रहा है। नन्हकू के चट्टान सदृश शरीर से गैरिक की तरह रक्त की धारा बह रही है। गुंडे का एक-एक अंग कट कर वहीं गिरने लगा। वह काशी का गुंडा था।

शतरंज के खिलाड़ी

वाजिद्अली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफीम को पीनक ही के मज़े लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धन्धों में, आहार-व्यवहार में, सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय-वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमें, इत्र, मिस्सी और उपटन का रोजगार करने में लिप्त थे। सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार

में क्या हो रहा है, इसकी किसी को ख़बर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों की लड़ाई के लिये पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फ़क़ीरों को पैसे मिलते, तो वे रोटियाँ न लेकर अफीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गंजीफ़ा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार-शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है, ये दलीलें ज़ोर के साथ पेश की जाती थीं (इस संप्रदाय के लोगों से दुनियाँ अब भी ख़ाली नहीं है)। इसलिये अगर मिर्ज़ा सज्जाद अली और मीर रौशनअली अपना अधिकांश समय बुद्धि तीव्र करने में व्यतीत करते थे, तो किसी विचारशील पुरुष को क्या आपत्ति हो सकती थी? दोनों के पास मौरूसी जागीरें थीं, जीविका की कोई चिंता न थी; घर में बैठे चखौतियाँ करते थे। आख़िर और करते ही क्या! प्रातःकाल दोनों ही मित्र नाश्ता करके बिसात बिछाकर बैठ जाते, मुहरे सज जाते, और लड़ाई के दाँव-पेच होने लगते। फिर ख़बर न होती थी कि कब दोपहर हुई, कब तीसरा पहर, कब शाम। घर के भीतर से बार-बार बुलावा आता—खाना तैयार है। यहाँ से जवाब मिलता—चलो, आते हैं, दस्तरख़्वान बिछाओ। यहाँ तक कि बावरची विवश होकर कमरे ही में खाना रख जाता था, और दोनों मित्र दोनों काम साथ-साथ करते थे। मिर्ज़ा सज्जादअली के घर में

कोई बड़ा-बूढ़ा न था, इसलिये उन्हीं के दीवानख़ाने में बाज़ियाँ होती थीं; मगर यह बात न थी कि मिर्ज़ा के घर के और लोग उनके इस व्यवहार से खुश हों। घरवालों का तो कहना ही क्या, महल्लेवाले घरके नौकर-चाकर तक नित्य द्वेष-पूर्ण टिप्पणियाँ किया करते थे—बड़ा मनहूस खेल है। घर को तवाह कर देता है। ख़ुदा न करे, किसी को इसकी चाट पड़े। आदमी दीन, दुनियाँ, किसी के काम का नहीं रहता, न घर का न घाट का। बुरा रोग है। यहाँ तक कि मिर्ज़ा की बेगम साहबा को इससे इतना द्वेष था कि अवसर खोज-खोजकर पति को लताड़ती थीं। पर उन्हें इसका अवसर मुश्किल से मिलता था। वह सोती ही रहती थीं, तब तक उधर बाज़ी बिछ जाती थी। और रात को जब सो जाती थीं, तब कहीं मिर्ज़ाजी भीतर आते थे। हाँ नौकरों पर वह अपना गुस्सा उतारती रहती थीं—क्या पान माँगे हैं? कह दो, आकर ले जायँ। खाने की भी फ़ुर्सत नहीं है? ले जाकर खाना सिर पर पटक दो; खायँ, चाहे कुत्ते को खिलावें। पर रू-ब-रू वह भी कुछ न कह सकती थीं। उनको अपने पति से उतना मलाल न था जितना मीर साहब से। उन्होंने उनका नाम मीर बिगाड़ू रख छोड़ा था। शायद मिर्ज़ा जी अपनी सफ़ाई देने के लिये सारा इल्ज़ाम मीर साहब ही के सिर थोप देते थे।

एक दिन बेगम साहबा के सिर में दर्द होने लगा। उन्होंने लौंड़ी से कहा—"जाकर मिर्ज़ा साहब को बुला ला। किसी

हकीम के यहाँ से दवा लावें। दौड़ जल्दी कर।" लौंड़ी गई, तो मिर्ज़ा ने कहा—"चल, अभी आते हैं। बेगम साहबा का मिज़ाज गरम था। इतनी ताब कहाँ कि उनके सिर में दर्द हो, और पति शतरंज खेलता रहे। चेहरा सुर्ख़ हो गया। लौंड़ी से कहा—"जाकर कह, अभी चलिए, नहीं तो वह आपही हकीम के यहाँ चली जाँयगी।" मिर्ज़ाजी बड़ी दिलचस्प बाज़ी खेल रहे थे, दो ही किश्तों में मीर साहब को मात हुई जाती थी। झुँझलाकर बोले—"क्या ऐसा दम लबों पर है? ज़रा सब्र नहीं होता?"

मीर—अरे तो जाकर सुन ही आइए न। औरतें नाज़ुक मिज़ाज होती ही हैं।

मिर्ज़ा—जी हाँ, चला क्यों न जाऊँ! दो किश्तों में आपको मात होती है।

मीर—जनाब इस भरोसे न रहिएगा। वह चाल सोची है कि आपके मुहरे धरे रहें, और मात हो जाय। पर जाइए, सुन आइए क्यों ख़्वाहमख़्वाह उनका दिल दुखाइएगा?

मिर्ज़ा—इसी बात पर मात ही कर के जाऊँगा।

मीर—मैं खेलूँगा ही नहीं। आप जाकर सुन आइये।

मिर्ज़ा—अरे यार, जाना पड़ेगा हकीम के यहाँ। सिर-दर्द ख़ाक नहीं है; मुझे परेशान करने का बहाना है।

मीर—कुछ ही हो, उनकी ख़ातिर तो करनी ही पड़ेगी।

मिर्ज़ा—अच्छा, एक चाल और चल लूँ।

मीर--हर्गिज़ नहीं, जब तक आप सुन न आवेंगे, मैं मुहरे में हाथ ही न लगाऊँगा।

मिर्ज़ा साहब मजबूर होकर अन्दर गए, तो बेगम साहबा ने त्योरियाँ बदल कर, लेकिन कराहते हुए, कहा—तुम्हें निगोड़ी शत-रंज इतनी प्यारी है ! चाहे कोई मर ही जाय, पर उठने का नाम ही नहीं लेते ! नौज कोई तुम-जैसा आदमी हो !

मिर्ज़ा—क्या कहूँ, मीर साहब मानते ही न थे। बड़ी मुश्किल से पीछा छुड़ा कर आया हूँ।

बेगम--क्या जैसे वह ख़ुद निखट्टू हैं, वैसे ही सबको समझते हैं ? उनके भी तो बाल-बच्चे हैं; या सबका सफाया कर डाला ?

मिर्ज़ा—बड़ा लती आदमी है, जब आ जाता है, तब मजबूर होकर मुझे भी खेलना ही पड़ता है।

बेगम—दुतकार क्यों नहीं देते ?

मिर्ज़ा—बराबर के आदमी हैं, उम्र में, दर्जे में, मुझसे दो अंगुल ऊँचे। मुलाहिज़ा करना ही पड़ता है।

बेगम—तो मैं ही दुतकारे देती हूँ। नाराज़ हो जायँगे, होजायँ। कौन किसी की रोटियाँ चला देता है। रानी रूठेंगी, अपना सुहाग लेंगी। हिरिया, जा, बाहर से शतरंज उठा ला। मीर साहब से कहना, मियाँ अब न खेलेंगे; आप तशरीफ ले जाइए।

मिर्ज़ा—हाँ हाँ, कहीं ऐसा ग़ज़ब भी न करना ! जलील करना चाहती हो क्या !—ठहर हिरिया, कहाँ जाती है।

बेगम—जाने क्यों नहीं देते। मेरा ही खून पिए, जो उसे रोके। अच्छा उसे रोका ; मुझे रोको, तो जानूँ।

यह कह कर बेगम साहबा झल्लाई हुई दीवानख़ाने की तरफ़ चलीं। मिर्ज़ा बेचारे का रंग उड़ गया। बीबी की मिन्नतें करने लगे—ख़ुदा के लिए, तुम्हें हज़रत हुसेन की क़सम। मेरी ही मैयत देखे, जो उधर जाय!" लेकिन बेगम ने एक न मानी। दीवानख़ाने के द्वार तक गईं; पर एकाएक पर पुरुष के सामने जाते हुए पाँव बंध से गए। भीतर झाँका। संयोग से कमरा ख़ाली था। मीर साहब ने दो एक मुहरे इधर उधर कर दिए थे, और अपनी सफाई जताने के लिए बाहर टहल रहे थे। फिर क्या था बेगम ने अन्दर पहुँच कर बाज़ी उलट दी; मुहरे कुछ तख़्त के नीचे फेंक दिए, कुछ बाहर ; और किवाड़े अंदर से बंद करके कुंडी लगा दी। मीर साहब दरवाजे पर तो थे ही मुहरे बाहर फेंके जाते देखे, चूड़ियों की झनक भी कान में पड़ी। फिर दरवाज़ा बंद हुआ, तो समझ गए, बेगम साहबा बिगड़ गईं। चुपके से घर की राह ली!

मिर्ज़ा ने कहा—तुमने ग़ज़ब किया!

बेगम—अब मीर साहब इधर आए, तो खड़े-खड़े निकलवा दूँगी। इतनी लौ ख़ुदा से लगाते, तो क्या ग़रीब हो जाते! आप तो शतरंज खेलें, और मैं यहाँ चूल्हे-चक्की की फ़िक्र में सिर खपाऊँ! ले जाते हो हकीम साहब के यहाँ कि अब भी ताम्मुल है?

मिर्ज़ा घर से निकले, तो हकीम के घर जाने के बदले मीर

साहब के घर पहुँचे; और सारा वृत्तांत कहा। मीर साहब बोले-"मैंने तो जब मुहरे बाहर आते देखे, तभी ताड़ गया। फ़ौरन भागा। बड़ी गुस्सेवर मालूम होती हैं। मगर आपने उन्हें यों सिर चढ़ा रक्खा है, यह मुनासिब नहीं। उन्हें इससे क्या मतलब कि आप बाहर क्या करते हैं। घर का इन्तज़ाम करना उनका काम है; दूसरी बातों से उन्हें क्या सरोकार?"

मिर्ज़ा—ख़ैर, यह तो बताइये, अब कहाँ जमाव होगा?

मीर—इसका क्या ग़म। इतना बड़ा घर पड़ा हुआ है। बस यहीं जमे।

मिर्ज़ा—लेकिन बेगम साहबा को कैसे मनाऊँगा? जब घर पर बैठा रहता था, तब तो वह इतना बिगड़ती थीं; यहाँ बैठक होगी तो शायद ज़िंदा न छोड़ेंगी।

मीर—अजी, बकने भी दीजिए, दो-चार रोज़ में आप ही ठीक हो जायँगी। हाँ, आप इतना कीजिये कि आज से ज़रा तन जाइये।

(२)

मीर साहब की बेगम किसी अज्ञात कारण से उनका घर से दूर रहना ही उपयुक्त समझती थीं। इसलिये वे उनके शतरंज-प्रेम की कभी आलोचना न करतीं; बल्कि कभी कभी मीर साहब को देर हो जाती, तो याद दिला देती थीं। इन कारणों से मीर साहब को भ्रम हो गया था कि मेरी स्त्री अत्यंत विनयशील और गम्भीर है, लेकिन जब दीवानख़ाने में बिसात बिछने लगी,

और मीर साहब दिन भर घर में रहने लगे तो उन्हें बड़ा कष्ट होने लगा। उनकी स्वाधीनता में बाधा पड़ गई। दिन भर दरवाज़े पर झाँकने को तरस जातीं।

उधर नौकरों में भी काना-फूसी होने लगी। अब तक दिन-भर पड़े-पड़े मक्खियाँ मारा करते थे। घर में चाहे कोई आवे, चाहे कोई जाय, उनसे कुछ मतलब न था। अब आठों पहर की धौंस हो गई। कभी पान लाने का हुक्म होता, कभी मिठाई का और हुक्का तो किसी प्रेमी के हृदय की भाँति नित्य जलता ही रहता था। वे बेगम साहब से जा जाकर कहते—"हुज़ूर, मियाँ की शतरंज तो हमारे जी का जंजाल हो गई! दिन भर दौड़ते दौड़ते पैरों में छाले पड़ गये। यह भी कोई खेल है कि सुबह को बैठे, तो शाम ही कर दी! घड़ी-आध-घड़ी दिल-बहलाव के लिये खेल लेना बहुत है। ख़ैर, हमें तो कोई शिकायत नहीं, हुज़ूर के गुलाम हैं, जो हुक्म होगा, बजा ही लावेंगे, मगर यह खेल मनहूस है। इसका खेलनेवाला कभी पनपता नहीं, घर पर कोई-न-कोई आफ़त ज़रूर आती है। यहाँ तक कि एक के पीछे महल्ले-के-महल्ले तबाह होते देखे गये हैं। सारे महल्ले में यही चर्चा होती रहती है। हुज़ूर का नमक खाते हैं अपने आक़ा की बुराई सुन-सुन कर रंज होता है। मगर क्या करें।" इस पर बेगम साहबा कहतीं—"मैं तो ख़ुद इसको पसंद नहीं करती। पर वह किसी की सुनते ही नहीं, तो क्या किया जाय।"

महल्ले में अगर दो-चार पुराने ज़माने के लोग थे, वे आपस में

भाँति-भाँति के अमंगल की कल्पनाएँ करने लगे-"अब खैरियत नहीं। जब हमारे रईसों का यह हाल है, तो मुल्क का खुदा ही हाफ़िज़। यह बादशाहत शतरंज के हाथों तबाह होगी। आसार बुरे हैं।"

राज्य में हाहाकार मचा हुआ था। प्रजा दिन दहाड़े लूटी जाती थी। कोई फ़रियाद सुननेवाला न था। देहातों की सारी दौलत लखनऊ में खिंची चली जाता थी, और वह वेश्याओं में, भाँड़ों में और विलासिता के अन्य अंगों की पूर्ति में उड़ जाती थी। अँगरेज़-कम्पनी का ऋण दिन-दिन बढ़ता जाता था। कमली दिन-दिन भीगकर भारी होती जाती थी। देश में सुव्यवस्था न होने के कारण वार्षिक कर भी न वसूल होता था। रेज़ीडेंट वार-बार चेतावनी देता था, पर यहाँ तो विलासिता के नशे में चूर थे, किसी के कानों पर जूँ न रेंगती थी।

खैर, मीर साहब के दीवानख़ाने में शतरंज होते कई महीने गुज़र गए। नए-नए नक्शे हल किए जाते, नए-नए क़िले बनाये जाते, नित नई व्यूह-रचना होती, कभी-कभी खेलते-खेलते झौड़ हो जाती, तू-तू मैं-मैं तक की नौबत आ जाती। पर शीघ्र ही दोनों मित्रों में मेल हो जाता। कभी-कभी ऐसा होता कि बाज़ी उठा दी जाती, मिर्ज़ाजी रूठकर अपने घर चले आते, मीर साहब अपने घर में जा बैठते। पर रात-भर की निद्रा के साथ सारा मनोमालिन्य शांत हो जाता था। प्रातः काल दोनों मित्र दीवान-ख़ाने में आ पहुँचते थे।

एक दिन दोनों मित्र बैठे शतरंज की दलदल में ग़ोते खा रहे थे कि इतनेमें घोड़े पर सवार एक बादशाही फ़ौज का अफ़सर मीर साहब का नाम पूछता हुआ आ पहुँचा। मीर साहब के होश उड़ गए! यह क्या बला सिर पर आई! यह तलबी किस लिये हुई! अब ख़ैरियत नहीं नज़र आती! घर के दरवाज़े बन्द कर लिये। नौकरों से बोले—"कह दो घर में नहीं हैं।"

सवार—घर में नहीं, तो कहाँ हैं?

नौकर—यह मैं नहीं जानता। क्या काम है?

सवार—काम तुझे क्या बताऊँ? हुज़ूर में तलबी है—शायद फ़ौज के लिये कुछ सिपाही माँगे गये हैं। जागीरदार हैं कि दिल्लगी! मोरचे पर जाना पड़ेगा, तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जायगा!

नौकर—अच्छा, तो जाइये, कह दिया जायगा।

सवार—कहने की बात नहीं है। मैं कल ख़ुद आऊँगा। साथ ले जाने का हुक्म हुआ है।

सवार चला गया। मीर साहब की आत्मा काँप उठी। मिर्ज़ाजी से बोले—कहिए जनाब, अब क्या होगा?

मिर्ज़ा—बड़ी मुसीबत है। कहीं मेरी भी तलबी न हो।

मीर—कम्बख़्त कल फिर आने को कह गया है!

मिर्ज़ा—आफ़त है, और क्या! कहीं मोरचे पर जाना पड़ा, तो बेमौत मरे।

मीर—बस, यही एक तदबीर है कि घर पर मिलो ही नहीं।

कलसे गोमती पर कहीं वीराने में नक्शा जमे। वहाँ किसे खबर होगी ? हज़रत आकर आप लौट जाँयगे।

मिर्ज़ा—वल्लाह, आपको खूब सूझी ! इसके सिवा और कोई तदबीर नहीं है।

इधर मीर साहब की बेगम उस सवार से कह रही थीं—"तुमने खूब धता बताई।" उसने जवाब दिया—"ऐसे गावदियों को तो चुटकियों पर नचाता हूँ। इनकी सारी अक्ल और हिम्मत तो शतरंज ने चर ली। अब भूल कर भी घर पर न रहेंगे।"

३

दूसरे दिन से दोनों मित्र मुँह-अंधेरे घर से निकल खड़े होते। बगल में एक छोटी-सी दरी दबाए, डिब्बे में गिलौरियाँ भरे गोमती-पार की एक पुरानी वीरान मसजिद में चले जाते, जिसे शायद नवाब आसिफ़ुद्दौला ने बनवाया था। रास्ते में तम्बाकू, चिलम और मदरिया ले लेते, और मसजिद में पहुँच, दरी बिछा, हुक्का भर कर शतरंज खेलने बैठ जाते थे। फिर उन्हें दीन-दुनिया की फ़िक्र न रहती थी। 'किश्त', 'शह' आदि दो एक शब्दों के सिवा उनके मुँह से और कोई वाक्य नहीं निकलता था। कोई योगी भी समाधि में इतना एकाग्र न होता होगा। दोपहर को जब भूख मालूम होती, तो दोनों मित्र किसी नानबाई की दूकान पर जाकर खाना खा आते, और एक चिलम हुक्का पीकर फिर संग्राम-क्षेत्र में डट जाते। कभी कभी तो उन्हें भोजन का भी ख़याल न रहता था।

इधर देश की राजनीतिक दशा भयंकर होती जा रही थी। कम्पनी की फ़ौजें लखनऊ की तरफ़ बढ़ी चली आती थीं। शहर में हलचल मची हुई थी। लोग बाल-बच्चों को ले-लेकर देहातों में भाग रहे थे। पर हमारे दोनों खिलाड़ियों को इसकी ज़रा भी फ़िक्र न थी। वे घर से आते, तो गलियों में होकर। डर था कि कहीं किसी बादशाही मुलाज़िम की निगाह न पड़ जाय, जो बेगार में पकड़ जायँ। हज़ारों रुपये सालाना की जागीर मुफ़्त में ही हज़म करना चाहते थे।

एक दिन दोनों मित्र मसजिद के खँडहर में बैठे हुए शतरंज खेल रहे थे। मीर की बाज़ी कुछ कमज़ोर थी। मिर्ज़ा साहब उन्हें किश्त-पर-किश्त दे रहे थे। इतने में कम्पनी के सैनिक आते हुए दिखाई दिए। यह गोरों की फ़ौज थी जो लखनऊ पर अधिकार जमाने के लिये आ रही थी।

मीर साहब बोले—अँगरेज़ी फौज आ रही है, ख़ुदा ख़ैर करे।

मिर्ज़ा—आने दीजिए, किश्त बचाइए। लो यह किश्त!

मीर—तोपख़ाना भी है। कोई पाँच हज़ार आदमी होंगे। कैसे जवान हैं। लाल बंदरों के से मुँह हैं। सूरत देख कर ख़ौफ़ मालूम होता है।

मिर्ज़ा—जनाब, हीले न कीजिए। ये चकमें किसी और को दीजिएगा—यह किश्त!

मीर—आप भी अजीब आदमी हैं। यहाँ तो शहर पर आफ़त आई हुई है, और आपको किश्त की सूझी हुई है! कुछ

इसकी भी खबर है कि शहर घिर गया, तो घर कैसे चलेंगे ?

मिर्ज़ा—जब घर चलने का वक्त आवेगा, तो देखी जायगी—यह किश्त ! बस, अब की शह में मात है।

फ़ौज निकल गई। दस बजे का समय था फिर बाज़ी बिछ गई।

मिर्ज़ा बोले—आज खाने की कैसे ठहरेगी ?

मीर—अजी, आज तो रोज़ा है। क्या आपको ज्यादा भूख मालूम होती है ?

मिर्ज़ा—जी नहीं। शहर में न-जाने क्या हो रहा है।

मीर—शहर में कुछ न हो रहा होगा। लोग खाना खा-खा कर आराम से सो रहे होंगे। हुज़ूर नवाब साहब भी ऐशगाह में होंगे।

दोनों सज्जन फिर जो खेलने बैठे तो तीन बज गए। अब की मिर्ज़ाजी की बाज़ी कमज़ोर थी। चार का गजर बज ही रहा था कि फ़ौज की वापसी की आहट मिली। नवाब वाजिदअली शाह पकड़ लिए गए थे, और सेना उन्हें किसी अज्ञात स्थान को लिए जा रही थी। शहर में न कोई हलचल थी, न मार-काट। एक बूँद भी ख़ून नहीं गिरा था। आज तक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शांति से, इस तरह ख़ून बहे बिना न हुई होगी। यह वह अहिंसा न थी, जिस पर देवगण प्रसन्न होते हैं। यह वह कायरपन था, जिसपर बड़े-से-बड़े कायर भी आँसू बहाते हैं। अवध के विशाल देश का नवाब बंदी बना चला

जाता था, और लखनऊ ऐशकी नीद में मस्त था। यह राजनीतिक अध:पतन की सीमा थी।

मिर्ज़ा ने कहा—हुज़ूर नवाब साहब को ज़ालिमों ने क़ैद कर लिया है।

मीर—होगा, यह लीजिए शह !

मिर्ज़ा—जनाब ज़रा ठहरिए। इस वक्त इधर तबीयत नहीं लगती। वेचारे नवाब साहब इस वक्त ख़ून के आँसू रो रहे होंगे।

मीर—रोया ही चाहें, यह ऐश वहाँ कहाँ नसीब होगा यह किश्त !

मिर्ज़ा—किसी के दिन बराबर नहीं जाते। कितनी दर्दनाक हालत है।

मीर—हाँ, सो तो है ही—यह लो फिर किश्त ! बस अब की किश्त में मात है, बच नहीं सकते।

मिर्ज़ा—ख़ुदा की क़सम, आप बड़े वेदर्द हैं। इतना बड़ा हादसा देखकर भी आपको दुख नहीं होता। हाय, ग़रीब वाजिदअली शाह !

मीर—पहले अपने बादशाह को तो बचाइए, फिर नवाब साहब का मातम कीजिएगा। यह किश्त और मात। लाना हाथ !

बादशाह को लिए हुए सेना सामने से निकल गई। उनके जाते ही मिर्ज़ा ने फिर बाज़ी बिछा दी। हार की चोट बुरी होती है। मीर ने कहा—"आइए, नवाब साहब के मातम में एक मरसिया कह डालें।" लेकिन मिर्ज़ाजी की राजभक्ति अपनी हार के

साथ लुप्त हो चुकी थी, वह हार का बदला चुकाने के लिये अधीर हो रहे थे।

४

शाम हो गई। खँडहर में चमगादड़ों ने चीख़ना शुरू किया। अबाबीलें आ-आकर अपने-अपने घोसलों में चिमटीं। पर दोनों खिलाड़ी डटे हुए थे, मानो दो ख़ून के प्यासे सूरमा आपस में लड़ रहे हों। मिर्ज़ाजी तीन बाज़ियाँ लगातार हार चुके थे, इस चौथी बाज़ी का रंग भी अच्छा न था। वह बार-बार जीतने का दृढ निश्चय करके सभँलकर खेलते थे, लेकिन एक-न-एक चाल ऐसी बेढब आ पड़ती थी, जिससे बाज़ी ख़राब हो जाती थी। हर बार हार के साथ प्रतिकार की भावना और भी उग्र होती जाती थी। उधर मीर साहब मारे उमंग के ग़ज़लें गाते थे, चुटकियाँ लेते थे, मानो कोई गुप्त धन पा गए हों। मिर्ज़ाजी सुन-सुनकर झुँझलाते और हार की झेंप मिटाने के लिये उनकी दाद देते थे। पर ज्यों-ज्यों बाज़ी कमज़ोर पड़ती थी, धैर्य हाथ से निकलता जाता था। यहाँ तक कि वह बात-बात पर झुँझलाने लगे—"जनाब आप चाल न बदला कीजिए। यह क्या कि एक चाल चले, और फिर उसे बदल दिया। जो कुछ चलना हो एक बार चल लीजिए। यह आप मुहरे पर ही हाथ क्यों रखे रहते हैं? मुहरे को छोड़ दीजिए। जब तक आप को चाल न सूझे, मुहरा छूइए ही नहीं। आप एक-एक चाल आध-आध घंटे में चलते हैं। इसकी सनद नहीं। जिसे एक चाल चलने में पाँच

मिनट से ज्यादा लगे, उसकी मात समझी जाय। फिर आप ने चाल बदली ! चुपके से मुहरा वहीं रख दीजिए।"

मीर साहब का फ़रज़ी पिटता था। बोले—मैंने चाल चली ही कब थी ?

मिर्ज़ा—आप चाल चल चुके हैं। मुहरा वहीं रख दीजिए—उसी घर में।

मीर—उस घर में क्यों रक्खूँ ? हाथ से मुहरा छोड़ा कब था।

मिर्ज़ा—मुहरा आप क़यामत तक न छोड़ें, तो क्या चाल ही न होगी ? फ़रज़ी पिटते देखा, तो धाँधली करने लगे !

मीर—धाँधली आप करते हैं। हार-जीत तक़दीर से होती है, धाँधली करने से कोई नहीं जीतता।

मिर्ज़ा—तो इस बाज़ी में आपकी मात हो गई ?

मीर—मुझे क्यों मात होने लगी।

मिर्ज़ा—तो आप मुहरा उसी घर में रख दीजिए, जहाँ पहले रक्खा था।

मीर—वहाँ क्यों रक्खूँ ? नहीं रखता।

मिर्ज़ा—क्यों न रखिएगा ? आप को रखना होगा।

तकरार बढ़ने लगी। दोनों अपनी-अपनी टेक पर अड़े थे। न यह दबता था न वह। अप्रासंगिक बातें होने लगीं। मिर्ज़ा बोले—किसी ने खानदान में शतरंज खेली होती, तब तो इसके क़ायदे जानते। वे तो हमेशा घास छीला किए, आप शतरंज

क्या खेलिएगा। रियासत और ही चीज़ है। जागीर मिल जाने ही से कोई रईस नहीं हो जाता।

मीर—क्या! घास आपके अब्बाजान छीलते होंगे! यहाँ तो पीढ़ियों से शतरंज खेलते चले आते हैं।

मिर्ज़ा—अजी जाइए भी, ग़ाज़िउद्दीन हैदर के यहाँ बावर्ची का काम करते-करते उम्र गुज़र गई, आज रईस बनने चले हैं। रईस बनना कुछ दिल्लगी नहीं।

मीर—क्यों अपने बुज़ुर्गों के मुँह में कालिख लगाते हो—वे ही बावर्ची का काम करते होंगे। यहाँ तो हमेशा बादशाह के दस्तरख़्वान पर खाना खाते चले आए हैं।

मिर्ज़ा—अरे चल चरकटे, बहुत बढ़-बढ़ कर बातें न कर।

मीर—ज़बान सँभालिए, वर्ना बुरा होगा। मैं ऐसी बातें सुनने का आदी नहीं हूँ। यहाँ तो किसी ने आँखें दिखाई कि उसकी आँखें निकालीं। है हौसला?

मिर्ज़ा—आप मेरा हौसला देखना चाहते हैं, तो फिर आइए, आज दो दो हाथ हो जाँय, इधर या उधर।

मीर—तो यहाँ तुमसे दबने वाला कौन है?

दोनों दोस्तों ने कमर से तलवारें निकाल लीं। नवाबी ज़माना था, सभी तलवार, पेशकब्ज़, कटार वग़ैरह बाँधते थे। दोनों विलासी थे पर कायर न थे। उनमें राजनीतिक भावों का अधः-पतन हो गया था। बादशाहत के लिए क्यों मरें? पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था। दोनों ने पैतरे बदले, तलवारें चमकीं,

छपाछप की आवाज़ें आईं। दोनों जख़्म खाकर गिरे, और दोनों ने वहीं तड़प-तड़प कर जानें देदीं। अपने बादशाह के लिए जिनकी आँखों से दो बूँद आँसू न निकला, उन्हींने शतरंज के वज़ीर की रक्षा में प्राण दे दिए।

अँधेरा हो चला था। बाज़ी बिछी हुई थी। दोनों बादशाह अपने-अपने सिंहासनों पर बैठे मानो इन दोनों वीरों की मृत्यु पर रो रहे थे।

चारों तरफ़ सन्नाटा छाया हुआ था। खँडहर की फूटी हुई मेहराबें, गिरी हुई दीवारें और धूलि-धूसरित मीनारें इन लाशों को देखती और सिर धुनती थीं।

प्रसाद और प्रेमचन्द की कहानियाँ

'गुंडा' प्रसाद की सिद्ध रचना है और 'शतरंज के खिलाड़ी' प्रेमचन्द की पहुँची हुई कहानी है। कला की दृष्टि से दोनों पूर्ण हैं। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, वर्णन, भाषा, शैली, प्रयोजन आदि की दृष्टि से वे पूर्ण हैं। अनुभूति और कला का योग दोनों में पूरा है। हृदय की कसौटी पर भी दोनों खरी उतरती हैं। सहृदय पाठक उन्हें बार बार पढ़कर भी अतृप्त ही रहता है। उनमें वह निरपेक्ष रमणीयता है जिससे एकान्त में अपने आप पढ़ने से भी वे उतनी ही मधुर लगती हैं जितनी किसी सुरीले और शिक्षित कण्ठ से पढी जाने पर। उनमें वह शुभेच्छा और सद्भावना भी पूरी मात्रा में है जो किसी भी सहृदय में सत्त्वोद्रेक कर सकती है। इस प्रकार दोनों में बहुत समानता है। इतना ही नहीं, दोनों के क्षेत्र भी समान हैं। दोनों इतिहास के आधार पर चलती हैं, दोनों चरित्र-प्रधान हैं। दोनों अंग्रेजी राज्य के प्रारंभिक युग से संबंध रखती हैं। दोनों में दो बड़े नगरों के चित्र हैं और

साथ ही दोनों में उन गिरते दिनों की एक मानसिक झाँकी है—मनुष्यत्व, वीरत्व और व्यसन की एक मर्मस्पर्शी झलक।

इतनी अधिक समता होनेपर भी दोनों में विषमता भी इतनी है कि वे दो भिन्न स्कूलों की कृति कही जा सकती हैं। प्रसाद-स्कूल 'कला के लिए कला' मानता है, उसके लिए कला का मुख्य उद्देश्य आनन्दानुभव है, रसानुभूति है, इसीसे वह देश, काल, व्यक्ति, वस्तु, गति, व्यंजना, शैली और प्रयोजन आदि सब को गौण मानता है, उनकी आत्मा को—उनमें से झलकते हुए व्यङ्ग्य को सर्वस्व मानता है। इसीसे इस स्कूल का विद्यार्थी तटस्थ होकर एक किनारे बैठा रहता है, अपने ध्यान में मग्न रहता है, जब कभी किसी घटना से उसका ध्यान-भंग होता है, हृदय छू जाता है, वह लाचार होकर अपने भाव को प्रकट करता है। यही भावाभिव्यक्ति कहानी बन जाती है। प्रेमचन्द-स्कूल इससे सर्वथा भिन्न है। वह आत्मपरिष्कार और लोकसंग्रह को कहानी साहित्य का उद्देश्य मानता है। उसके अनुसार कहानी में ये तीन गुण अवश्य होने चाहिएँ—१. आध्यात्मिक या नैतिक उपदेश (२) अत्यन्त सरल भाषा, और (३) स्वाभाविक वर्णन-शैली। इन्हीं तीन सिद्धान्तों के कारण यह स्कूल बड़ा लोकप्रिय रहा है और लोकमंगलकारी भी।

यद्यपि दोनों कहानियों में हृदय स्पर्श करने की क्षमता है—अनुभूति की पूरी मात्रा है, तथापि दोनों में भेद स्पष्ट है। एक में गुणों की ओर दृष्टि है, दूसरी में दोष देखकर सुधारने की सदिच्छा। एक में कला की उदारता है—दूसरी में मनोरंजन और स्वाभाविकता की सीमा है। गुंडा कहानी का कोई उपदेश नहीं है—चाहे कोई संदेश हो। उसकी भाषा प्राञ्जल हिन्दी है और शैली पूर्ण रूप से नाटकीय। ये ही तो कलापूर्ण कहानी के लक्षण हैं। और

'शतरंज के खिलाड़ी' में तो ऊपर के तीनों सिद्धान्तों का पूर्ण निर्वाह हुआ है। नैतिक उपदेश की प्रवृत्ति तो कहीं मात्रा से अधिक प्रकट हो गई है। उदाहरण के लिए 'इस संप्रदाय के लोगों से दुनिया अब भी ख़ाली नहीं है'। 'यह राजनीतिक अधःपतन की सीमा है' आदि के समान वाक्य व्यंग्य को खोलकर रस का अपकर्ष कर देते हैं। हाँ, बहुत साधारण पाठकों के लिए बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है।

अन्त में सब प्रकार से देख लेने पर भी दोनों कहानी अपने अपने ढंग की बेजोड़ चीज़ हैं, नमूने की रचनाएँ हैं।

Rajshekhar

XI E

'जोग' की झाँकी

हिमालय, विन्ध्य, सह्याद्रि जैसे पहाड़, गंगा, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र जैसे नदी-नद, ऊलर-मंचर जैसे सरोवर, जिस देश में हों, उसमें अगर महान् और भीषण जल-प्रपात न हों, तो प्रकृति माता कृतार्थ कैसे हो ? दक्षिण में उत्तर-कानड़ा ज़िला और मैसूर राज्य की सरहद पर एक ऐसा जल-प्रपात है, जो दुनिया में सर्वप्रथम नहीं, तो सर्वश्रेष्ठ में से एक अवश्य है। अंग्रेज़ी किताबों में उसका नाम है, 'गोरसप्पा फाल्स,' लेकिन हमारे देश का उसका नाम है 'जोग'।

लार्ड कर्ज़न जब भारत आया, तब 'जोग' का प्रपात देखने के लिए वह इतना लालायित था कि भारत आते ही उसने 'जोग' जाने की तैयारी कर दी और अपनी यात्रा से उस प्रपात की प्रतिष्ठा बढ़ाई। जिस स्थान पर खड़े होकर उसने 'जोग' के अद्भुत

दृश्य का अपने नयनों से आकंठ पान किया, मैसूर राज्य ने उसका नाम 'कर्ज़न-सीट' कर दिया है।

मैसूर राज्य ने उसी स्थान के नज़दीक एक अतिथिशाला बनवा दी है, जिसके विज़िटर्स-बुक में देशविदेश के रसिक और प्रकृति-प्रेमी यात्रियों ने अपने आनन्द-उद्गार लिख रखे हैं। अगर उद्गारों का एक संग्रह छपा दिया जाय, तो वह एक असाधारण प्रकृति-काव्य-संग्रह बन जाय। यह सब काव्य उच्च कोटि के हैं; पर 'जोग' का प्रत्यक्ष दर्शन उन काव्यों की अपूर्णता ही प्रमाणित करता है, और एकदम मुख से निकल पड़ता है-"एतवान् अस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः। (इतनी बड़ी उसकी महिमा ! और वह इससे भी बड़ा !)

छोटी सी शरावती नदी के तीन नाम हैं—पहले उसका नाम होता है भारंगी या वराहगंगा, बीच में शरावती और जहाँ वह समुद्र से मिलती है, वहाँ उसे कहते हैं बालनदी। शरावती के प्रवाह में 'जोग' अपने प्रपात से एक रोमांचकारी दृश्य नहीं दिखाता, तब भी वह अपने सौन्दर्य से मनुष्य का मन अवश्य हरण करती। किन्तु तब वह भारत की अन्यान्य नदियों में से एक नदी रह जाती–अखिल-भारतीय विशेषता नहीं पाती। इस प्रपात के कारण शरावती भारत की एक अद्वितीय नदी हो गई है।

जब मैं 'जोग' देखने पहले पहल चला, तब महात्मा जी के साथ दक्षिण की खादी-यात्रा पर था। हम 'शिमोगा-सागर' तक पहुँचे थे। सागर में मैंने पूज्य बापूजी से कहा–'यहाँ से १५

मील पर 'गोरसप्पा' का प्रपात है। आप देखने चलें।" बापूजी ने कहा—"मैं कैसे जा सकता हूँ ? मैं अगर ऐसी स्वच्छन्दता करने लगूँ तो स्वराज्य का काम कौन करेगा ?...तुम जाओ। तुम शिक्षा-शास्त्री हो। वहाँ हो आकर विद्यार्थियो को कुछ न कुछ दे सकोगे। मेरा वहाँ जाना तो स्वच्छन्दता होगी।" मैंने कहा—"लेकिन 'गोरसप्पा' ९६० फीट की ऊँचाई से गिरता है। लार्ड कर्ज़न ख़ास कर इसे देखने आया था।" बापूजी ने अक्षुब्ध भाव से कहा—"आकाश का पानी इससे भी अधिक ऊँचाई से गिरता है।" एक बात में हार कर मैंने दूसरा मंसूबा बाँधा—"आप न सही तो कम से कम महादेव भाई को 'गोरसप्पा' जाने की इजाज़त दे दीजिए।" मैं जानता था कि उस दिन महादेव भाई को बहुत काम था। बापूजी की आज्ञा बिना वे आ नहीं सकते थे। बापूजी ने यहाँ भी ठंढा सा जवाब दे दिया—"महादेव नहीं जायगा। मैं ही उसका 'गोरसप्पा' हूँ। तुम और राजा जी जाओ। अन्त में उन दोनों को छोड़ कर राजा जी, मैं तथा कई मित्रगण 'जोग' का अलौकिक दृश्य देखने चल पड़े। वह दर्शन क्या था—मानो विराट् का विभूति-दर्शन।

उस प्रसंग का वर्णन मैंने गुजराती में लिखा है, और मेरे 'लोक-माता' नामक ग्रंथ में यह प्रकट भी हो चुका है। वह अद्‌भुत दृश्य देखकर एक कुतूहल तो तृप्त हुआ, लेकिन यह नदी इतनी ऊँचाई से कूदने के बाद आगे कहाँ जाती है, कैसे जाती है, कैसे दीख पड़ती है, सरित्पति के साथ उसका संगम कैसा होता है-यह

सब देखने की और शरावती के वक्षस्थल पर बच्चों की भाँति नौका-विहार करने की इच्छा तीव्र वेग से जागृत हुई। सत्य-संकल्प अन्तरात्मा ने उस इच्छा को आशीर्वाद दिया, और बारह बरस के बाद 'जोग' के दुबारा दर्शन का सौभाग्य मिल गया। पहली बार नदी के उद्गम से हम प्रपात की ओर गए थे। अब की बार नदी के मुख से प्रवेश करके किश्ती में प्रतीप सफर करते हम प्रपात की तरफ गये, और जहाँ नौका ठहर गई, वहाँ तैल-वाहन (मोटर) के सहारे पहाड़ की घाटी पर चढ़कर राजा प्रपात के सिर तक पहुँच गये।

शरावती के इस अर्धचन्द्राकार दर्रे में चार प्रपात हैं। दाहिनी ओर 'राजा प्रपात' ऊपर से जो गिरता हैं, तो एक दम कहीं भी रुके बिना ९६० फीट की गहराई में कूद पड़ता है। सच-मुच यह राजा है। उसकी जल-राशि उसका उन्माद और उसकी हिम्मत जगत् के सम्राट्-की-सी ही है। उसी की बाईं ओर महा-रुद्र की जैसी गर्जना करता हुआ रुद्र (Roarer) प्रपात राजा के चरणों में आ गिरता है। रुद्र की गर्जना मीलों तक उस घाटी और उसके आस पास की पहाड़ियों को निनादित कर देती है। उसकी ध्वनि को न हम मेघ–गम्भीर कह सकते हैं न सागर-गम्भीर। मेघ-गर्जन आकाश-विद्रावी होते हुए भी क्षण-जीवी होता है; और सागर की सनातन घोषणा में ज्वार-भाटा का आन्दोलन होता है। रुद्र की ध्वनि अविरत, अखंड और धारावाहिक होती है। उसका नशा कुछ अजीब क़िस्म का होता है।

राजा और रुद्र दुनियां में कहीं भी सम्राट् की पदवी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन 'जोग' का वैभव तो वीरभद्र के अनेक रूप से आकाश में उड़ते उसके सफेद जटा-जाल के कारण है। वीरभद्र का प्रपात हाथी के कुंभस्थल के सदृश एक चट्टान पर जैसे ही गिरता है कि उसमें से आतिशबाज़ी के बाण के जैसे अनगिनत फ़व्वारे फूट पड़ते हैं और वे ऊंचे-ऊंचे उड़ते ही जाते हैं। क्या यह शिव जी का तांडव नृत्य है? या सूर्य-बिम्ब के पृष्ठभाग से निकलनेवाली सर्वसंहारकारिणी किन्तु कल्पनामनोहर ज्वालाएँ हैं? या भूमि माता के वात्सल्य की स्तन्य-धार के फ़ुहारे फूट निकले हैं? सचमुच बीरभद्र, देखनेवाली आँखों को, पागल बना देता है?

बीरभद्र (Rocket) की बाईं ओर कर्पूरगौरी, तन्वंगी तथा अनुदरा पर्वतकन्या पार्वती (Lady) अपने लावण्य से हर किसी को आह्लादित करती है। इन चारों प्रपातों का मानों रक्षण करने के लिये ही बाईं और दाहिनी ओर दो बड़े बड़े पहाड़ खड़े हुए हैं। खड़े खड़े दूसरा और कर ही क्या सकते हैं। इसलिए प्रपातों की अखंड गर्जना को प्रतिपल प्रतिध्वनित करते रहना, उनके इन्द्र धनुओं को धारण करना और छोटी मोटी बनस्पति को अंग में लगाए रोमांचित होना—यही उनका अखिल उद्योग-सा हो गया है।

अब की बार जब हम गये, गर्मी के दिन थे। भारंगी का जल बहुत कुछ कम हो गया था। बीरभद्र की जटाएँ भी देखते

में नहीं आती थी। रुद्र की फलागें भी कुछ छोटी हो गई थीं। पार्वती ने भी विरहिणी का रूप धारण कर लिया था। हमारी आशा थी कि कम से कम राजा का वैभव तो पहले जैसा होगा; किन्तु विश्वयज्ञ करने के बाद कोई सम्राट् जैसा अकिंचन हो जाता है और उसी से अपना वैभव व्यक्त करता है, वैसी ही दशा हमारे इस राजा प्रपात की हो गई थी।

उस दफे जब हम 'जोग' देखने गए थे, तब पहले मैसूर-बाजू पर गए; और वहाँ की अतिथि -शाला में ठहरे थे। इस बार ठहरना तो था नहीं; इस लिए उत्तर-बाजू से दर्शन के लिए हम प्रस्थित हुए और जहाँ से राजा की धारा गिरती थी, दौड़ते दौड़ते वहाँ जा पहुँचे। कड़ी धूप और ठंढी फुहार–दोनो कें बीच हमारी जो स्थिति हुई, उसका वर्णन क्या किया जाय? हम राजा के मुकुट तक पहुच गये थे। गरम गरम पत्थरों के ऊपर सोकर वहाँ से हमने नीचे की घाटी में झाँका, तो कभी ख्वाब में भी नहीं आया था कि ऐसा दृश्य हमने कहीं देखा। ऊपर से राजा की धारा जो गिरती थी, वह नीचे ज़मीन तक पहुँचती ही न थी। ऊपर हम देखते थे कि मस्त हाथी की सूंड़ जैसी एक बड़ी जल धारा गिर रही है। नीचे गिरते गिरते शतधा विदीर्ण होकर उसकी सहस्र धाराएँ बन गई। कुछ और नीचे जाते ही उन धाराओं के बड़े बड़े जल बिन्दु बनकर मौक्तिक-माला की शोभा धारण करने लगे। ये मौक्तिक भी चूर्ण होकर मोटे मोटे कण हो गए। अब तो इन्होंने सीधा नीचे जाना छोड़कर कुछ

स्वच्छन्द विहार शुरू कर दिया। कण भी भिन्न होकर शीकर पुंज में परिणत हो गए और बादलोंके जैसे बिचरने लगे। लेकिन इतने से ही प्रकृति-माता को सन्तोष नहीं हुआ। इन बादलों का भी धुआँ बन गया, और आते हुए पवन के साथ उड़-उड़ कर ये सारी हवा को शीतल बनाने लगे। आश्चर्य तो यह था कि इतनी बड़ी जलधारा की एक छोटी बूंद भी ज़मीन तक नहीं पहुँचती थी। नीचे की ज़मीन गरम और ऊपर की हवा ठंडी–ऐसी स्थिति देख मुझे तो राजाओं के दान का स्मरण हो आया। प्रजा को दुष्काल-पीडित देख कर राजा जब उदार हाथों से धन वितरण करता है, तब उसके जय जयकार से दिशायें निनादित हो उठती हैं, किन्तु प्रजा के—गरीब जनता के—मुँह तक अनाज का एक कण तक नहीं पहुँचता !

किन्तु इन्द्रधनुओं की शोभा तो अलकेश्वर के मन में भी ईर्ष्या पैदा करनेवाली थी। लेकिन ये इन्द्रधनु भी स्थायी नहीं थे। पवन की लहरें जैसे दिशा बदलती थीं, सीकर-पुंज भी उसी भाँति अपना स्थान बदल देते थे, और ये इन्द्रधनु—पार्वती के साथ जैसे शंकर नाचें—इधर–से–उधर दौड़ते फिरते थे, क्षण में क्षीण हो जाते थे और क्षण में मयासुर के प्रासाद की शोभा धारण करते थे। कर्म के साथ उसका फल जैसे आता ही है, वैसे ही हरएक धनुष के साथ उसका प्रतिधनु अपना वर्णक्रम उलट कर उपस्थित रहता ही था। उसने अपना स्थान बदल दिया तो इन सुरधनुओं ने भी तुरन्त अपना स्थान बदल दिया। सुरधनु का

यह खेल हम बहुत देर तक देखते रहे। जितना अधिक देखते थे, देखने की प्यास उतनी ही बढ़ती जाती थी। हम घंटे-दो-घंटे के ही मेहमान हैं। हम जानते थे कि हमारा पुण्य क्षीण हो रहा है, और हम थोड़े ही समय में मर्त्यलोक में वापस जानेवाले हैं। स्वर्ग के लोभी देवता जिस विषाद के साथ स्वर्ग-सुख का अनुभव करते हैं, पराक्रमी पुरुष अपने यौवन के उत्तरार्द्ध में अपने संकल्प की पूर्ति के लिये जैसा अधीर हो उठता है, वैसे ही हमलोग उस गन्धर्व-नगरी का आंख कान नाक और सारी त्वचा से सेवन करने लगे और साथ ही अपनी कल्पना द्वारा उस आनंद को शतगुणित भी करते रहे।

हनारे साथ दो तीन लड़कियाँ भी थीं। रात को उनके लिये हमने एक अलग किश्ती मँगाई थी। हम पुरुषों की दो किश्तियाँ दोनों बाजू से चल रही थीं। लड़कियों की किश्ती बीच में थी। जब ये लड़कियाँ गाने लगीं, तब शान्त प्रकृति माता का अञ्चल लहरा उठा। चन्द्रमा ऊपर से हँसता था। नारियल और सुपारी के वृक्ष-पुंज अपना ऊँचा सिर नज़दीक ला-ला कर संगीत के आलापों का पान कर रहे थे। दूसरे दिन उन आलापों का स्मरण कर वे किस मस्ती से झूम उठते थे! चन्द्रमा अस्त हुआ। अनन्त तारिकाएँ आस-पास की पहाड़ियों को ताकने लगीं और बालाओं का गीत शान्त होकर अनन्त शान्ति में विलीन हो गया। सुबह उठते ही अपनी किश्ती से उन्होंने पुकार पुकार कर हमें जगाया। यह जलविहार सात्विक शान्तिमय एवं प्रसन्न यौवनमय था।

किन्तु प्रपात का दर्शन तो अद्भुत भीषण चमत्कारी था। उन बालाओं के मुह पर अब प्रातःकालवाली वह प्रसन्नता नहीं थीं। ऐसा अद्भुत दृश्य कैसे सम्भव हो सका! क्या सचमुच हम पृथ्वी पर हैं या स्वप्नसृष्टि में विहार कर रहे हैं—ऐसा विस्मय उनके मुख पर स्पष्ट दीख पड़ता था। वे एक दूसरे की आँखों में देख-देख कर अपना विस्मय बढ़ा रही थीं, और उनका वह विस्मय देखकर हमें ऐसा अभिमान होता था, मानो हमी इस काव्यमय सृष्टि के जनक हों।

वर्षों से चर्चा चली आ रही है कि गोरसप्पा के प्रपात से बिजली पैदा की जाय या नहीं। अगर शरावती के पानी को एक बाजू लेकर बड़े-बड़े नल के द्वारा, ऊपर से नीचे छोड़ा जाय और उसकी सहायता से बिजली पैदा की जाय, तो सारे मैसूर राज्य में सस्ती से सस्ती बिजली मिलने लग जाय। उत्तर और दक्षिण कानड़ा को भी उसी से सहायता पहुँचाई जा सके। साथ ही लोगों का बड़ा लाभ भी हो। किन्तु ऐसा करने से यह अद्भुत रम्य प्राकृतिक दृश्य हमेशा के लिये नष्ट हो जायगा। अभी तक यह निश्चित नहीं हो पाया है कि इन दोनों में से कौन सी चीज वांछनीय है? हजारों लाखों लोगों को पेटभर खाना मिल सकेगा; सैकड़ों महात्वाकांक्षी नवयुवकों को अपनी योग्यता सिद्ध करने का मौका मिल सकेगा और हजारों जानवरों का दुःख दूर हो सकेगा, साथ ही एक जगह इस तरह का कल-कारखाना सफलता-पूर्वक चल जायगा, तो भारत के सारे प्रपातों से ऐसा ही काम

लिया जायगा, और इस तरह देशको एक महान् से महान् अलौकिक शक्ति प्राप्त हो जायगी। तो क्या केवल एक अद्भुत रम्य दृश्य के लोभ से हम लाखों लोगों का दुःख दूर न करें? कला के शौक की भी तो एक मर्यादा होनी चाहिये। अपनी रानी को हँसाने के लिये अपनी राजधानी जलानेवाले बादशाह नीरो में और हमारी इस कला-भक्ति में तत्वत: कौन-सा फ़र्क है?

इसके जवाब में जो कुछ कहा जाता है, उसका उल्लेखकरने के पहले एक छोटा-सा विषयान्तर यहाँ जरूरी है। यूरोप में जब महायुद्ध शुरू हुआ और वहाँ के लाखों नवयुवक तोप और बन्दूकों के चारा बन गये, तब साहित्यशिरोमणि रोमाँ-रोलाँ की भूत-दया द्रवित हो उठी, और उन्होंने घायलों की सेवा के लिए कुछ थोड़ा-सा प्रबन्ध भी किया। लेकिन जब उभयपक्ष के शत्रुओं ने एक दूसरे की कला-पूर्ण इमारतों पर बम की वर्षा शुरू कर दी, तब तो रोमाँ-रोलाँ की कलात्मा पुण्य प्रकोप से भभक उठी, और उन्होंने अपनी आवाज़ बुलन्द करके सारे यूरोप से अपील की—ऐ कमबख़्तो! एक दूसरे को मारते हो, मारो; मिट जाना चाहते हो, मिट जाओ; किन्तु ये कलाकृतियाँ हैं। कम से कम इनका नाश तो न करो। यूरोप की आत्मा ने रोमाँ-रोलाँ की यह आर्ष वाणी सुन ली, और वे कला कृतियों के नाश करने से बाज़ भी आए।

तो क्या सचमुच ही कलाकृतियाँ मनुष्य की आत्मा की द्योतक या प्रेरक हैं? या उच्च अभिरुचि से आच्छादित विलासिता की ही साधन-सामग्रियाँ हैं? कला का जिसे सच्चा ख़याल है, वह

तुरन्त कह उठेगा कि कला और विलासिता के बीच वही अन्तर होता है, जो आसमान या जमीन के बीच है। कलाकृतियों के द्वारा जो निरतिशय आनन्द मनुष्य को होता है: वह सच ही सोती हुई आत्मा को जागरित कर देता है। करोड़ों वोल्ट बिजली पैदा करके लाखों लोगों को खिलाने-पिलाने की व्यवस्था करना कोई बुरी बात नहीं है; किन्तु कला के द्वारा जो आनन्द और संस्कारिता मानव को मिलती है, वह तो आत्मा का ही खाद्य है।

और यहाँ (जोग) तो मनुष्य-कृत कोई कला-कृति है नही। यह तो कलाकारों को भी भव्यता एवं रम्यता की एक साथ ही दीक्षा देने वाली प्रकृति-माता की विलक्षण विभूति है। इसे बिगाड़ने के पहले हजारों दफे सोचना चाहिये। 'जोग' का प्रपात केवल इसी युग की सम्पत्ति नहीं है। हमारे अनेक ऋषि-पूर्वजों ने इसके सामने बैठकर भगवान् का ध्यान किया होगा और हमारे वंशजों के वंशज भी इसे देख कर अपने जीवन के अज्ञात एवं सुप्त पहलू का साक्षात्कार करेंगे।

उपयोगितावाद की शरण लेकर 'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्' वाले पंडित-मूर्ख हम न बनें। इस प्रपात को आबाद रख कर अगर इससे कुछ लाभ उठाया जाय, तो अवश्य उठावें। मानव-बुद्धि के लिए यह बात असम्भव तो नहीं होनी चाहिए, किन्तु इस जोग-तांडव के दर्शन से मनुष्यजाति को वंचित करने का धर्मतः अधिकार तो किसी को नहीं है। मन्दिरों में हम मूर्ति को स्थापना करते हैं। कुदरत ने भी इसी भगवान की यह ऐसी

भव्य-विभूतियाँ हमारे सामने खड़ी कर दी हैं। यहाँ केवल दर्शन, ध्यान और उपासना के लिए ही आना चाहिए और अगर हृदय में कुछ संबल हो तो तदाकार बन जाना चाहिए।

राजशेखर

जोग की झाँकी।

प्रकृति की अद्‌भुत विभूति के साक्षात्कार से जिस संभ्रम का उदय होता है उससे कुछ दर्शकों की अन्तर्वृत्तियाँ तो इतना सहम जाती हैं कि वे मूक होकर देखते ही रह जाते हैं, आगे या पीछे उनसे कुछ कहते नहीं बनता। कुछ ऐसे होते हैं जो दृश्य का पहले तो 'आकण्ठ पान' करते हैं और पीछे अवकाश से समुदित संस्कार को ऐसी भावप्रधान भाषा में व्यक्त करते हैं जो दृश्य की चमत्कारिणी एक विराट्‌मूर्ति तो सामने लाती है, पर एक एक ब्यौरे का ऐसा पता नहीं देती कि पाठक की आंखों में वह चित्र झूलने लगे जिसकी एक एक रेखा के अवस्थान, परिप्रेक्षा, प्रतियोग और वर्णभेद अंकन की सजीवता का दम भर रहे हों। कुछ ऐसे भी होते हैं जिनमें दृश्य की साङ्गोपाङ्ग समष्टि को सामने खड़ा कर देने की तो क्षमता होती है, किन्तु अद्भुत दृश्य के साथ अपनी भावुकता की मन्त्रणा से, वे अपना ऐसा तादात्म्य कर लेतै हैं कि उनका द्रष्टृत्व बहुत कुछ आच्छादित हो जाता है। अर्थात् उनकी-सी अवस्था में द्रष्टा दृश्य की दृष्टि से देखता है अपनी दृष्टि से नहीं। पर कुछ, और कुछ ही, ऐसे विशिष्ट दर्शक देखने में आते हैं जो दृश्य के विष्वक् सौन्दर्य की वास्तविक चर्वणा करते हुए भी अपने परिच्छेदक व्यक्तित्व को दृश्य की मोहिनी अनुभूति में घुल नहीं जाने देते, किन्तु अपनी उस दिव्य दृष्टि से प्रकृति के विराट् वैभव का साक्षात्कार करते और अपनी अनुपम कला से औरों को उसका रसास्वाद कराते हैं।
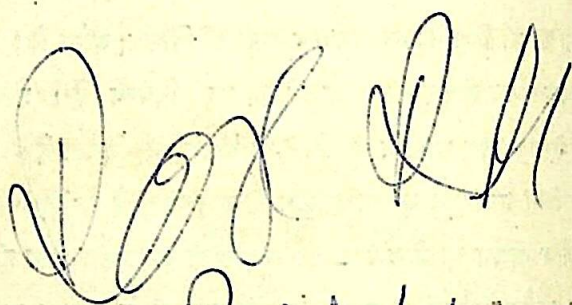
जोग की झांकी दिलानेवाला सचमुच वैसा ही विशिष्ट दर्शक है। उसका यह प्रपात-वर्णन वर्णन होकर भी उत्कृष्ट श्रेणी का निवन्ध है। प्रज्ञा और भावुकता का ऐसा सुन्दर सहयोग कदाचित् ही देखने को मिलता है। उसकी उपमायें कालाश्रित होती हुई भी तात्कालिक-सी जान पड़ती है। संस्कृत-साहित्य का परिपक्व ज्ञान अलग ही वोल रहा है। गान्धीजी का प्रसंग वैसा ही कटु-सरस है जैसा शर्वत में मिर्च का स्वाद। उसमें—दृश्य की मनोरमता स्वतःसिद्ध तथ्य नहीं है द्रष्टा की दृष्टि पर ही वह वहुत कुछ आश्रित रहती है—इस दार्शनिक तत्त्व की व्यञ्जना बड़े अच्छे ढंग से की गई है।

यद्यपि विहार-योजना और उपभोगसामग्री प्रपात और सरिता की अतुल रमणीयता की माँग पूरा-पूरा पूरी कर रही थी, तथापि वह 'जलविहार सात्त्विक शान्तिमय एवं प्रसन्न यौवनमय था। क्योंकि वासना के पङ्क से मलिन न होकर वह निष्काम था, उसके वर्धमान उत्तरोत्तर उत्कर्ष का कोई अपकर्षक नहीं था, वह व्यक्ति-सम्बन्ध के कारण परिच्छिन्न न होकर अपरिच्छिन्न था, सरस था।

विशुद्ध कला के मार्मिक पारखी लेखक ने कला के पैरों में से उपयोगिता की वेड़ियाँ कटवा देने की जो ज़बरदस्त वकालत की है वह उसका पक्षपात नहीं सूचित करता, बल्कि कला और उपयोगिता की कबसे उलझी गाँठ को सुगमता से सुलझाने का एक नया रास्ता बतलाता है।

भाषा भावानुरूप होकर भी सरल है। वक्रता लाने का प्रयत्न नहीं किया गया है। कहीं कहीं सरलता लाने की जो बोलती चेष्टा है उसने भाषासौष्ठव को विगाड़ा नहीं वनाया ही है। लेखक की प्रगतिशीलता और राजनीतिक चेतना इस प्रपात-वर्णन में भी अनुपस्थित नहीं है।

फूलवालों की आखिरी सैर

पिछले जाड़े में मिर्ज़ा रौशनबख़्त परलोक सिधार गए। सन् १८४३ की पैमाइश थी। दिल्ली के अंतिम सम्राट् बहादुर शाह के चहेते बेटे शाहरुख ने एक डोमनी को घर में डाल दिया था। रौशन मिर्ज़ा उसके ही पेट से थे।

सच पूछो तो अब दिल्ली का नाम ही नाम है। वह दिल्ली तो अब सपनापुरी हो गई, जहाँ कभी भारत के सिरताजों ने कंचन लुटाया था। अगर ईंट, पत्थर और गारे के ढेरों का नाम दिल्ली है, तो वह अब भी मौजूद है। पर, अगर दिल्ली हमारे वैभव और गौरव का स्मृतिस्तम्भ और हिंदू-मुसलिम का मिलन-मंदिर थी, तो अब वह मिट चुकी। इतिहास के कुछ अस्त-व्यस्त पन्ने और कुछ चलचलाव की तैयारी करने वाले बूढ़े, उस दिल्ली की यादगार हैं। मिर्ज़ा रौशनबख़्त उस टिम-

टिमाते हुए दीपक के दाग थे, जो बहादुर शाह के साथ ठंढा हो गया। इसमें शक नहीं कि जब उन्होंने होश संभाला, तो मुगल राजवंश के सूरज का तेज ढल चुका था; तो भी उन्होंने वे दिन देखे थे, जब हिन्दुस्तान बेजान न हुआ था, और उसकी आत्मा 'दिल्ली' में बसती थी।

मुझे मिर्जा साहब से मिलने का सौभाग्य कई बार प्राप्त हुआ। शाम को कुदसिया बाग के खंडहरों में टहला करते थे। ८७-८८ वर्ष की अवस्था थी, भौएँ तक सफेद हो गई थीं; मगर पुरानी हड्डियाँ थीं। बाल बाँका न हुआ था। हाथ में जामुनी लाठी लिए, चौगोसिया टोपी पहने, दो बन्दी अँगरखा उठाये, मजे में चल फिर लेते थे।

दिल्ली की उतरती कला का चित्र मिर्जा साहब के दिल पर खुदा हुआ था। मैं सलाम करके चुपचाप उनके पास जा बैठता। किसी सुननेवाले की देर थी, फिर मिर्जा किसके रोके रुकते। किसी भी विषय पर बातचीत आरम्भ हो वे उसे खींचकर बहादुर शाह और किले तक ले जाते और वहीं खतम करते थे। शेर-शायरी का चर्चा छिड़ा, और उन्होंने 'जफ़र' की कसक-कहानी सुनाकर ख़ुद रोना और दूसरों को रुलाना शुरु किया। संगीत का नाम आया तो उन्होंने तानरस खाँ के गाने और मिर्जा काले के सितार की तारीफ के पुल बाँधे; गरज़, दिल्ली क्या थी, बूढ़े मिर्जा के लिए गुणों की खान थी, जहाँ फरिश्ते बसते थे और जिसका हर मकान तिलस्म से कम न था।

एक दिन मिर्ज़ा साहब को मैंने बहुत उदास पाया। बहुत जब्त करने पर भी, धुँधली आँखें आँसुओं का भेद न छिपा सकीं। मैंने पूछा तो पहले तो उन्होंने उड़ाना चाहा, फिर कहा—मियाँ, आज आगा मिर्ज़ा कुछ लोगों के साथ, 'फूलवालों की सैर' के लिए राजा साहब से चंदा माँगने गए थे। मुझे मालूम हुआ तो दिल पर गहरी चोट लगी। आज हम ऐसे हो गये कि मामूली रईसों के आगे हाथ फैलाते फिरें !"

मैं सन्नाटे में आ गया; मिर्ज़ा साहब भी ठंडी साँस भरकर चुप हो रहे—मगर कब तक ? पान की डिबिया से एक बीड़ा निकाल कर मुँह में रख लिया, और कहा—"मियाँ, फूलवालों की सैर का तुमने बड़ा नाम सुना होगा। अब उसमें क्या धरा है; हाँ, उसके भी कोई दिन थे। आज मैं तुम्हें गदर के दो साल पहलेवाली सैर का हाल सुनाता हूँ। अब हम भी कमर कसे बैठे हैं, मालूम नहीं कब कूच का परवाना आ जाय। फिर यह बातें सुनाने वाला शायद ही कोई मिले,

ज़माना बड़े शौक़ से सुन रहा था,
हमीं सो गये दास्तां कहते-कहते।"

मिर्ज़ा साहब अब इस संसार में नहीं हैं, तो भी उनकी भर्राई हुई आवाज़ मेरे कानों में गूँज रही है और वह शब्द-चित्र आँखों के आगे है। आज यह धरोहर पाठकों की भेंट करता हूँ।

बहादुरशाह और उनके बाप में बड़ी नोक झोंक रहती थी। दोनों एक दूसरे की आँख में खटकते थे। अकबर शाह ने बड़े

यत्न किये कि उनके चहेते बेटे मिर्ज़ा जहाँगीर, उनके बाद गद्दी के वारिस हों, और बहादुर शाह यों ही रह जाँय, मगर एजेन्ट मि० स्टीन ने उनकी एक न चलने दी। न्याय का दामन हाथ से न जाने दिया। मिर्ज़ा जहाँगीर बड़े मुँहफट और ठेठ उजवक थे। स्टीन साहब की अड़ंगा नीति से आग बबूला हो गये, और भरे दरबार में उन्हें "लूलू है वे !" कहकर तमंचा चला दिया। एजेन्ट ने उन्हें बँधवा कर इलाहाबाद भिजवा दिया। इस पर मिर्ज़ा की माँ मुमताजुन्निसा बेगम ने कुतुब साहब की दरगाह में एक मानता मानी कि अगर मेरा बेटा वापस आ गया तो चादर और फूलों की छपरखट चढ़ाऊँगी उनकी कामना पूरी हुई, मिर्ज़ा जहाँगीर बंधन-मुक्त होकर लौट आये। बेगम ने मानता की चादर कुतुब भिजवाई; बड़े ठाट-ठस्से रहे। दिल्लीवाले एक तो ऐसे ही रँगीले ठहरे, इसी बहाने मेला रचलिया। महरौली में हिंदू-मुसलमानों की ऐसी रेल पेल हुई कि कभी देखी न सुनी। फूलों की मसहरी के साथ लोगों ने एक ऐसा मनभावन फूलों का पंखा भी रख दिया, जो बादशाह को बहुत सुहाया। तब से यह दस्तूर हो गया कि भादों चढ़े मुसलमान दरगाह पर और हिंदू योगमाया के मंदिर पर फूलों का पंखा चढ़ाते थे। देखने में तो यह एक तमाशा था, पर वास्तव में हिंदू-मुसलिम एकता की यह भी एक सीढ़ी थी। मेले-ठेले के बहाने हिंदू-मुसलमान एक दूसरे से मिलते हँसते-खेलते और दुख-दर्द में शरीक होते। एक मंदिर के आगे शीश नवाता, तो दूसरा दरगाह के आगे झुकता। अक-

बर ने सांस्कृतिक एकता का जो सोता बहाया था, और अबुल-फ़ज़ल, सरमद व दाराशिकोह ने जिसे अपने ख़ून से पनपाया था, उसकी एक लहर अब भी बह रही थी। 'फूलवालों की सैर' इसी का दिग्दर्शन था।

जब बहादुर शाह सिंहासन पर विराजे, तो हिंदू-मुसलमानों का नाता और भी मजबूत हुआ। अभागे सम्राट् के शरीर में अक-बर और दारा की आत्मा प्रकाशमान थी। बहादुर शाह की माँ किसी रजपूत की लड़की थी, जिसका नाम 'लाल बाई' था। इसीलिए दोनों जातियाँ, उसकी दोनों आँखें थीं। होली और दिवाली में लाल किले में वैसी ही चहल-पहल रहती थी, जैसे ईद और शबेरात में। 'फूलवालों की सैर' उस पावन प्रेम का मधुर सम्मिलन था; इसीलिए किसी त्योहार में ऐसे ठाट न रहते थे। आज हम उसी सैर का अंतिम दृश्य देखेंगे।

सन् १८५५ का सावन न भूलेगा। मेंह ऐसा बरसा कि जल-थल एक हो गये। या तो बरसता ही न था, और जो बरसा तो ऐसा कि जल-प्रलय की याद ताजी हो गई। फिर भादों आया। फुहार थी या रुई के गाले, मतवाले बादल हाथियों जैसे झूमते थे। इन्हीं दिनों 'सैर' की तारीख का ढिंढोरा शहर में पिटा। दिल्लीवालों के दिल की कली खिली। तैयारियाँ तो महीनों से हो रही थीं; अब लोगों ने जोड़े तोड़े का हिसाब ठीक किया।

इधर लाल किले की चहल-पहल का ठिकाना न था। पूर्णिमा को पंखा चढ़ेगा; आज एकादशी थी। कम से कम तीन दिन

पहले किलेवाले निकलें तो मजा आये। फिर शहर वाले आ जायँगे तो रंग में भंग हो जायगा।

बहादुरशाह तसबीह-खाने में बैठे थे कि राजदुलारियों और शाहजादों ने आकर घेर लिया। नजराने गुजारे, और दबी आवाज़ में पौ फटते कूच की अनुमति माँगी। बादशाह ने हँसते-हँसते हामी भर दी। हाँ, कहने की देर थी; फिर तो आमोद की नदी ऐसी उमड़ी कि कुछ न पूछिए। इधर चूड़ीवालियों ने रातो रात कलाइयों को सँवारा, उधर रंगरेजियों ने दुपट्टे रँग दिये, कढ़ाइयाँ चढ़ गईं, मालिनों ने गजरे बनाये। अन्ना ने कामिनी मूरतों को सिंगारदान के आगे बिठलाया। बाँदियों ने पोर-पोर मेंहदी रचाई। किसी शाहजादी ने बांदी को झिड़ककर कहा—"आग लगे। मेरे हाथ में चूर डाल दिये। लो बुआ, देखना, मेरे हाथ तो कच्चे लहू हो गये।"

दूसरी ने मुँह बिचका कर कहा—"बाजी ! जरा इनकी बातें सुनो। हाथ बीर बहूटी हो गये, फिर भी इन्हें चैन नहीं।"

तीन का गजर बजा होगा कि सवारी का बिगुल बजा। लाहोरी दरवाजे के आगे पालकियाँ, डोलियाँ, सुखपाल और रथ मोतीमहल के आगे आ खड़े हुए। अब इस महल का निशान तक बाकी नहीं; गदर के बाद नींव तक खुद गई। हाँ, तो तुरकिनों और गुजरनों ने रास्ते बंद कर दिये। बेगमें और राजकुमारियाँ सवार हुईं। अब यह समाँ है कि हर सवारी के साथ हबशिनों और तुरकिनों के झुण्ड, मोटे-मोटे होंठ, लाल लाल दीदे,

सातों हथियार बांधे, सिर पर आड़े मुँडासे, घोड़ों पर सवार रवाना हुईं। सबसे पीछे अरदाबेगनियों की पलटनें मशाले और पनशाखे लिये, यामिनी में दामिनी की जोति जगाती हुई साथ-साथ हैं। बेगमों का यह हाल है कि गेंदई, धानी, सुरमई या गुलनारी जोड़ा भारी दाम का पहने, आबेरवाँ या शबनम के दुपट्टे, जिन पर मोतियों या सलमे-सितारे की लोई टकी हुई। ज़ीनतमहल के सुखपाल के साथ गुजरनें मोरछल और चँवर लिये अदब से "निगाह रूबरू हज़रत बादशाह बेगम सलामत" कहती दौड़ रही हैं। हर डोली या पालकी के साथ 'अल्लाह अमान" का शोर उठता है।

अभी ऊषा ने अरुणकुमार के बंधन खोले ही होंगे कि दीवाने-खास से बादशाह की सवारी निकली। बहादुरशाह खुद हवादार में सवार हैं। दो चोबदार छत्र और सूरजमुखी लिये दौड़ रहे हैं। पीछे युवराज और दो तीन चहेते राजकुमार ताम-झाम और तख्तरवाँ पर बैठे हैं। दिल्ली दरवाजे तक सिपाहियों के परे नंगी तलवारें लिये खड़े हैं। अब जुलूस का नक़्शा ऐसा रहा कि सबके आगे निशान का हाथी, उस पर शाही झंडा, फिर नक्कारे का ऊंट और तुर्क सवारों की पल्टन, रिसाले के बाद रौशनचौकी, फिर राजकुमारों के घोड़े पीछे बादशाह का हवादार और फ़ौज का परा। बाद में किले के नौकर-चाकर और मशालची।

बाज़ारों और सड़कों पर आधी रात से लोगों के ठठ के

ठठ जमा थे। पनवाडियों ने तोरन बाँधकर छिड़काव कर दिया था। महरौली तक हरकारों की डाक बैठी हुई थी। घोड़ों पर गंगा-जमनी साज़, पुट्ठों पर पाखरें, पाँव में झाँझन, सिर पर सुनहरी कँलगी पड़ी हुई,—"हटो! बचो! महाबली बादशाह सलामत" की आवाज़ लगाते हैं। इधर ख़ासबरदार, शोरे की सुराहियाँ लिए, कहार पंखा, आफ़ताबो संभाले, साथ-साथ दौड़ रहे हैं। सोने की थालियों में रुपये भरे हुए हैं, जिन्हें बादशाह मुट्ठियाँ भर-भर कर लुटाते हैं, यहाँ तक कि कंगाल मालामाल हो गए। दोनों तरफ़ से स्त्रियाँ आशीष देती हैं, तो बादशाह हिन्दुओं को हाथ जोड़कर और मुसलमानों को झुककर जवाब देते हैं।

जुलूस हुमायूँ के मक़बरे और निज़ामउद्दीन औलिया होते हुए झरना पहुँचा।

झरना का ज़िक्र करो, तो दिल में टीस-सी उठती है। यह भी महरौली का एक टुकड़ा था। चारों तरफ़ शाही इमारतें; उधर अमराई, इधर झरने में जैसे अमृत छलक रहा है। फ़ौवारे चल रहे हैं, हरियाली ऐसी छाई है कि जैसे आकाश की नीलिमा प्रकृति ने चुरा ली हो। अब तो झरना सूख गया; सूखे ठुंड रह गये, महल खंडहर हो गये। जहाँ कभी श्यामा और पपीहे बसते थे, अब उल्लुओं का बसेरा है।

सवारियों का ठहरना था कि राजकुमारियाँ झपाझप उतर पड़ीं। हरी बनातें पड़ी हैं और बछेरा पलटन के नन्हे नन्हे सिपाही अंदर पहरा दे रहे हैं। इधर मालिनें फूलों के कंठे गूँध रही हैं,

बगीचा मधुमालती और मौलश्री की सुगन्ध से महक रहा है। उधर ऊदे-ऊदे बादल उमड़ उमड़ कर आते हैं। बुलबुलों की चहक, कोयलों की कूक और मयूरों की झनकार—फिर अलबेली राजकुमारियाँ कब चुप बैठतीं ? अमराई में डाल-डाल पर रेशमी झूले पड़ गये। उधर पेंगे बढ़ीं, इधर पेड़ों के नीचे अलाव बना कर पकवान बनने शुरू हुए। बाँदियों ने अन्दरसों और फुलकियों के मज़े दिखाये; वहाँ शाहज़ादियों ने पैर जोड़कर ऐसे लम्बे लम्बे झोंके भरे कि बिरहियों के हृदय की धड़कन भी बंद हो जाये। बहादुरशाह भी एक ही रसिक थे। कहा—"दिलदार ख़ानम और टेढ़मुँही ख़ानम को बुला लाओ !" वह बेचारियाँ पानी में शराबोर कपड़े निचोड़ती, कनियाती-कतराती आ पहुँचीं उस समय इन्होंने संगीत में बड़ा नाम निकाला था। समय-काल को खूब पहचानती थीं। मत्त मयूरों की तरफ देखकर ऐसा मलार अलापा कि प्रकृति संगीतमय हो गई। फिर शाहज़ादियों ने अपनी रसीली तानें मिलाईं, तो गजब ही हो गया—

"झूला किन डारो रे अमरियाँ–झूला किन डारो रे अमरियाँ
रैन अँधेरी, ताल किनारे, मोर झँकारे, बादर कारे,
बरसन लागी बुंदियाँ, फुइयाँ फुइयाँ।
दो सखी झूले दो ही झुलाएँ, चार मिल गइयाँ, भूल भूलइयाँ
झूला किन डारो।"

पत्ते-पत्ते से, कंन-कन से "झूला किन डारो" की आवाज़ आने लगी।

झूला बंद हुआ तो शाहज़ादियाँ अमराई पर टूट पड़ीं। अब यह हाल है कि कुछ खाती हैं, कुछ फेंकती हैं, किसी को काँटा चुभा, कोई धम से नीचे आ पड़ी। अन्नाएँ बिलबिलाते हुए पीछे हैं, कहती हैं—"मैं वारी! कीड़े मकोड़ों का डर है, कहीं चोटी-वाला न छिपा हो। नहीं तो इस बुढ़ौती में उलटे उस्तरे से यह सफेद चोंड़ा मुड़जाये"! मगर यहाँ अठखेलियों, ठठोलियों से किसे फ़ुरसत है। कोई कहती है, 'बुआ! क्या लकाफक सुनहरी जोड़ा निकाला है, काली गोट से कलेजी फेफड़ा किया है! अलम-बरदार की क़सम! वह डुपट्टा सदके का है।' किसी अनेली को हमजोलियाँ नक्कू बना रही हैं। कहीं गुठलियों की फेंकाफेंक हो रही है। थोड़ी देर में कपड़ों की रंगत बदल गई।

शाम हुई तो धमाधम झरने में कूद पड़ीं। कोई डुबकी खाती हैं तो कोई तैरती हैं। पानी किसी के कमर भर है, तो किसी के गले-गले। कोई कीचड़ में लथपथ है, तो कोई कलाबाज़ियाँ खाती है। फिर सबने बाहर निकल कर जोड़े बदले, बनाव सिंगार किया।

इतने में सूर्यास्त की तोप दगी, रात के खाने की पुकार हुई दस्तरख़ान के चारों ओर मक्खियों से बचने के लिए बारीक जाली का परदा तान दिया गया। बीच में चंदन-चौकी बिछी, जिसपर बहादुर बिराजे। अहल्ल-पहल्लू शाहजादियाँ और बेगमें बैठीं, आमने सामने शाहजादे बैठे। गुलाबपाशों से केसर और केवड़े की लपट उठ रही है। बाबरचीखाने की चौधराइन बैठी सोने चाँदी

के थालों की मुहरें तोड़ सब पकवानों को निहार रही है। सबकी आँखें नीची हैं क्या मजाल जो पलकें उभरें ! बादशाह कभी अपने सामने से किसी राजकुमार को 'अलश' देते, तो वह सहमा सहमा आगे आता; और मुजरा करता। किसी राजकुमारी को हिस्सा मिलता, तो वह लजाई चितवनों को दाएँ-बाएँ फेंकती आदाब बजा लाती। पकवानों के नाम कहूँ, तो घंटे बीत जायँ। पुलाव कई किस्म के थे—इरानी, नूरमहली, नरगिसी, मोती और जाने क्या क्या। रोटियों में हवाई चपातियों से लेकर नान-तुनक और नान-गुलज़ार तक की भरमार है; आमों और कढ़ावचढ़ों से ही सब सेर हो चुके थे, अब पेट में जगह कहाँ थी, चुप मुँह झुठलाकर उठ गये।

अब रात की बहार कुछ न पूछो। शम्सी तालाब के किनारे लाल-लाल कँवल जगमगा रहे हैं। पेड़ पौधों में कुमकुमे जुगनू जैसे जगर मगर कर रहे हैं, वह देखो, रोशनचौकी का गश्त इस ठाट से निकला है, जैसे तानाशाह की बारात हो। कहीं तान-रसखाँ अलाप ले रहे हैं, तो कहीं 'बुलबुलहजारदास्ताँ' की चहक दिल में चुटकी लेती है, इधर कुछ ढीठ राजकुमारियाँ चंदन की नौकाओं पर बैठी पानी में उतरीं तो मालूम होने लगा कि वरुण-कुमारियाँ जलक्रीडा कर रही हैं। कहीं कहानी हो रही है, तो कहीं आँखमिचौनी या पहेलियाँ बूझी जा रही हैं। सारांश यह कि दो दिन इसी राग-रंग में काटे। दूसरे दिन शाम को कन-कव्वे उड़े। जान पड़ता था, इन्द्रधनुष के टुकड़े हवा में उड़ रहे

हैं। कोई कलेजाजली उड़ाता है, तो कोई कलचढ़ी, दोपन्नी या तुक्कल। किसी की पतंग ठुमकियाँ भरती है, कोई हत्थे पर से उखड़ गई, कोई चकरा रही है। इसके बाद तालाब पर तैराकों का मेला लगा। कोई कुरसी बनाये तैरता है, तो कोई पलथी मारे हुक्का गुड़गुड़ाता है। किसीने जोगिया आसन मारा, तो कोई मेढ़क बना मल्लाही तैरता है। ऐसे ऐसे कमाल दिखाये कि बादशाह भी फड़क उठे, और जी खोलकर रुपया लुटाया।

तीसरा दिन सैर का आया। दो दिन पहले से ही दिल्ली खाली होने लगी थी, और आज तो वहाँ कोई मरदुवा देखने में न आता था। अजमेरी दरवाजे से लेकर कुतुबसाहिब तक दाएँ बाएँ दूकानें लग गईं, और ऐसी भीड़ हुई कि खावे से खावा छिले। रईसों की पालकियाँ, जवानों के घोड़े और नरतकियों के रथों ने अजीब तमाशा दिखाया। रथों पर सुनहरी कलस, कलाबत्तू के डोरे और ज़रदोज़ी के फूल, जिनमें नागौरी पासे फँदे हुए, घोड़े गंगाजमनी गहने पहने, गुँधी हुई अयालें बिद-काते, रेशमी बागडोर के साथ टाप मिलाते चले जाते हैं। और महरौली के बाजार का हाल न पूछो। दुकानें दुलहन बनी हुई हैं। गमलों में गेंदा, सूरजमुखी और मदनमस्त पड़े मँहक रहे हैं। हिंदुओं ने कदली-खम्भों के शामियाने तान दिये हैं। एक तो दिल्ली के दूकानदार आवाज़ लगाने में यों ही उस्ताद होते हैं, और आज तो उन्होंने आसमान सिर पर उठा रखा है। कोई ककड़ी की तारीफ में कहता है,—"लैला की पसलियाँ हैं, मजनूं

की उंगलियाँ हैं।" कोई जामुन को दिखला कर कहता है,—"काले भौंराले नून के बताशे हैं जी!" एक बेर वाले ने तो सितम ढा रखा है, कहता है—"प्यारी लाडो ने तोड़े हैं बेर! घूंघटवाली ने तोड़े हैं बेर!"

तीसरे पहर पलटनों ने पहराबंदी कर दी। बाजार में हल्ला हुआ कि बादशाह फातिहा को दरगाह जाते हैं। इतने में तोप-खाने ने सलामी उतारनी शुरू की, शाही जुलूस निकला। आगे आगे निशान के दोनों हाथी सूंड़ से लोगों को सलाम करते जाते हैं। कारचोबी की झूल और गंगाजमुनी सेहरा जगमगा रहा है। पीछे कई हाथियों पर मुगल सम्राटों की विजय-पताकाएँ लहरा रही हैं। बाद में ऊँटों पर नौबत बज रही है। घुड़सवार दो दो की कतार बनाए नंगी तलवारें लिए चले जा रहे हैं। बहादुरशाह ज़रबफ़्त की मसनद पर हवादार में सवार हैं, अंदर पंखा भी खिंच रहा है। बादशाह मोतियों का कंठा और हीरे व माणिक की माला गले में डाले हैं, हीरे के भुजबंद, नौरत्नों की सुमरन और चौरासी मणियों का मुकुट सूरज की आँखों को चौंधिया रहा है। सवारी के पीछे सैकड़ों खवास, नक़ीब और चोबदार एक-सी वरदी पहने, 'हटो-बचो' की आवाज़ लगाते चले आते हैं। बाद में राजा रईसों की सवारी बड़े आनबान के साथ चली आती है। यह जुलूस बाजारों में होता हुआ दरगाह पहुँचा, और वहाँ से फिर 'झरना' लौट आया, जहाँ सब लोग पंखे का तमाशा देखने के लिए शाही महलों में बैठ गये।

झुटपुटे के समय शाही पंखा निकला। यह सोने का बना हुआ है, नीचे सच्चे मोतियों की झालर है, ऊपर सोने का मोर है, जिसकी दुम में रंग बिरंगे जवाहिरात जड़े हुए हैं। ऊपर फूलों की चादर है, और सामने फूलों की छड़ियाँ हैं। आगे शहनाई बजती है। साथ ही भिश्ती ताल मिला कर इस ढब से कटोरे बजाते हैं कि जलतरंग का धोखा होता है। आतिशबाज़ी छूट रही है, और केवड़ा-जल व गुलाबजल का छिड़काव ऐसी बहुतायत से हो रहा है, जैसे गुलशन जुलूस पर साया करते हवा में उड़ा जाता हो।

इतने में शहरवालों के पंखे आने शुरू हुए। आगे आगे ढोलताशेवाले, पीछे सुनहरे फरेरे लहरा रहे हैं, जिनके सिर पर अबरक के दीपक जगमगा रहे हैं। पीछे पुलिस के जवान, छाती फुलाए चले जाते हैं। इनके पीछे नौबतखाना और अखाड़ों के पट्ठे हैं। बाँके तिरछे जवान, मछलियाँ फड़काते, डंड निकालते, गदका-फरी और तलवार व बिनवट के हाथ दिखलाते जा रहे हैं। अब पीछे आँखें डालो तो भाँति भाँति के बाजे वायु-तरंगों को अपने इशारों पर नचा रहे हैं। उधर कटोरों की छन छन के जवाब में डंडवाले खट-खटाखट की गत मिला रहे हैं। पीछे नर्तकियों के झुंड तख्तेरवाँ पर खड़े नाच रहे हैं। आखिर में फौजी सिपाहियों ने घेरा डाल लिया है, मगर सैलानियों की ऐसी अटूट भीड़ है कि थाली सिर-ही-सिर चली जाय। सभी निराली सजधज बनाए, ठेलम ठेला करते टूटे पड़ते हैं। दूकानों और

छज्जों पर ऐसी भीड़ कि मकानों की चूल ढीली पड़ गई हैं। चारों ओर से फूलों की लपट उठती है, जिधर देखिए फूलों के बारह आभरन महक रहे हैं। सबके पीछे फूलों का अनोखा पंखा देख कर यह गुमान होता है कि कुसुमबेल की बारात निकली हो। सारे बाजार में ऐसा प्रकाश जगमगा रहा है; जैसे सोने की लंका जल रही हो। प्रकाश, संगीत, सौंदर्य—इन तीनों के मेल ने ऐसी त्रिवेणी बहाई है कि इन्द्रलोक पर भी ओस पड़ जाय।

किसी रसिक को देखकर बाजेवाले एक घड़ी खड़े होकर अपना कमाल दिखलाते हैं, तो वह मुट्ठियाँ भर-भरकर इनाम देता है। इस प्रकार जुलूस धीरे धीरे शाही दरवाजे के आगे आ खड़ा हुआ। बेगमों और राजकुमारियों के लिए चिकें पड़ गईं। बादशाह बारहदरी में आकर बैठ गये। अब हर कोई जान तोड़ कर अपने करतब दिखाने लगा। मिर्जा गौहर के शागिर्दों ने सितार पर 'दरबारी' की ऐसी गत बजाई कि समाँ बँध गया, हर तरफ से 'वाह वाह' की आवाज़ आने लगी। बादशाह ने मोती की माला उतारकर दे दी। कटोरेवालों ने ऐसी मुबारकबाद बजाई कि सब लोग लोट गये; वह भी अशरफियों के तोड़े पाकर निहाल हो गये। अखाड़ेवालों ने भी ऐसे हुनर दिखाये कि सब दंग हो गये। एक लठैत पर चारों तरफ से पत्थर पड़ रहे हैं, मगर उसने लकड़ी से ऐसा चक्कर बनाया कि सब टकराकर उचट पड़ते हैं। कोई रेशमी रूमालों को तलवार की काट से टुकड़े टुकड़े कर देता है। किसी को दुशाला मिला, तो किसी को सुनहले

रुपहले कड़े। इतने में पंखा सामने आया तो शहर के रईसों ने मुजरा किया। सबको इत्र-पान मिला, गुलाब छिड़का गया। युवराज ने पुष्पहार पहनाकर सबको विदा किया। पंखा आगे बढ़ा, तो राजघराने के लोग साथ साथ हो गये। मुसलमानों का पंखा दरगाह गया, हिन्दुओं का पंखा योगमायाजी के मंदिर पहुँचा। आधे राजकुमार इसके साथ, आधे उसके साथ। बादशाह किसी के साथ न गए, क्योंकि दरगाह जाते तो हिंदू बुरा मानते, और मंदिर जाते तो मुसलमान बिगड़ते। मुसलमानों ने हठ की तो बादशाह ने साफ कह दिया, "अमाँ! यह कैसे होगा! तुम्हारे हिंदू भाई यही कहेंगे कि मुसलमान था, मुसलमानों के पंखे में शरीक हुआ। हमें गैर समझा। ना, अमाँ, ना, जैसा एक के साथ करना वैसा दूसरों के साथ करना। आतिशबाजी में हिंदू-मुसलमान दोनों आते हैं तो हम भी चले चलेंगे।"

आधी रात तक दोनों पंखे चढ़ाकर हिंदू-मुसलमान सीधे शम्सी तालाब पहुँचे। थोड़ी देर में बादशाह आये और राजा रईसों के साथ महताबी में जुलूस किया। सैलानी तालाब को घेर कर बैठ गए। पानी में सैकड़ों बजरे और डोंगे पहले से तैर रहे थे। अब शाही आतिशबाज़ और शहर के आतिशबाज़ आमने सामने आ खड़े हुए, और जल-युद्ध आरम्भ हो गया।

थोड़ी देर में आकाश पर रंग बिरंगे तारे झिलमिलाने लगे। वायुमंडल में सैकड़ों चाँद और सूरज तैरने लगे। हवाइयाँ, लट्टू, छल्ले और बान इस जोर से उड़ते थे कि कान सुन्न हो गए।

इधर पानी में बारूद के जहाज छूटे। उनमें अनार, महताबियाँ और छछून्दर उड़ते, तो अनूठा दृश्य दिखाई देता था। इस चमक-दमक और धूएँ के बादलों को देखकर दावानल का संदेह होता था। फिर दोनों दल एक दूसरे से सट गये, और अपनी अपनी कारीगरी दिखाई। ऐसे ऐसे अनार छूटे, जैसे हरे पेड़ों में आग लगी हो, और वह जल-जलकर हवा में कूदते और फिर गिर पड़ते हों। नसरी ऐसी छोड़ी कि सौ सौ बार मरकर उठे, और रह रहकर साँस ले। दो बजे तक यही सिलसिला रहा, तब कहीं मन-माना इनाम पाकर सब लोग प्रभात वेला अपने-अपने ठिकाने लौटे।

जब आँखें खोलीं तो मेला बिछड़ चुका था। फूल वालों की सैर का अन्त हो गया था।

× × × ×

वह दिल्ली क्या हुई; वह धनवैभव, वह भाईचारा, वह सहानुभूति, वह समवेदना कहाँ गई; वह हँसते हुए मुखड़े, वह प्रेम की उमंगें, वह हर्ष की तरंगें कहाँ हैं?

फूलवालों की सैर अब भी होती है, दूकानें अब भी लगती हैं, लोगों का जमाव अब भी होता है। भादों की बौछार अब भी आती है। काले बादल अब भी गुदगुदी करते हैं, अमराई में कोयल की कूक से अब भी दिल में हूक उठती है। मगर अब वह प्रेरणा, वह भावना कहाँ है, जिसने फूल वालों की सैर को सच्ची राष्ट्रीयता की झाँकी बना दिया था? वह फूल कहाँ हैं, जो हिंदू मुसलमानों को एक माला में गूँथ देते थे? वह बिजन कहाँ है,

जो भारत-माता के जख़्मी दिल को ठंडा करता था ? वह 'झरना' कहाँ है, जो भारत की सांस्कृतिक एकता का सोता था ? वह 'जफ़र' कहाँ है, जिसकी छत्रछाया में राष्ट्रीयता का पौधा खिलते-खिलते हठात् मुरझा गया।

वह फूल मुरझा गये, वह गलहार क्षत-विक्षत हो गया, वह सोता सूख गया, वह 'ज़फर' अनन्त निद्रा में लीन है।

अरे ओ बेख़बर 'फूलों की चादर' क्यों चढ़ाता है;
तमन्ना फूटकर रोई थी जिसपर यह वो तुरबत है !

राजशेखर
[illegible]

RH

RH

फूलवालों की आखिरी सैर

अख़्तरहुसैन रायपुरी की यह रचना सफल निबंध है। सफल निबंध शुद्ध साहित्य के भीतर आता है। इस निबंध में साहित्यसुलभ भावों की रमणीयता और बरबस मन को लुभालेनेवाली भाषा की लुनाई दोनों हैं। इसमें चुभन इतनी अधिक है कि 'समझदार' के दिलपर गहरी चोट लगती है। भाषा में ऐसा जादू है कि अतीत का चित्र सा खिंच जाता है।

सफल साहित्यिक निबंध भी दो प्रकार का होता है एक काव्यमय और दूसरा आलोचनामय। काव्यमय निबंध ही सच्चा निबंध है। ऐसे निबंध का यह पहला लक्षण है कि उसमें ऐसी विविध और बारीक जानकारी की बातें रहें जिनसे हृदय का कुतूहल भी शान्त हो और आनन्द की अनुभूति भी हो। जिस प्रकार दो मित्रों की स्नेहभरी बातचीत में किसी निर्दिष्ट विषय का अभाव रहने पर भी ज्ञातव्य बातों की बहुलता रहती है, असंबद्धता में भी एक संबंध सूत्र चला करता है और उल्लास उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है; उसी

प्रकार काव्यमय निबंध में ज्ञातव्यों की विविधता के साथ रमणीयता रहनी ही चाहिए। कहानी में जो स्थान घटना का है निबंध में वही स्थान जानकारी के विस्तार का है। इस निबंध में यह गुण पर्याप्त मात्रा में है। यह मज़ेदार बातों की 'खान' है, इसकी हर एक बात तिलस्म से कम नहीं है।

अच्छे निबन्ध का दूसरा गुण है शैली और भाषा की रोचकता। सौम्य और समर्थ शैली के बिना निबंध प्रभावक हो ही नहीं सकता। प्रस्तुत निबंध की शैली में इसीलिए इतना प्रभाव है, क्योंकि वह बड़ी अनुरूप, सरल, सौम्य और प्रवाहमय है। सब बातें सीधे हृदय तक पहुँच जाती हैं। भाषा की नफ़ासत भी वैसी ही है जैसा उसका दिलकश मज़मून। ऐसी शैली और भाषा पर मुग्ध होकर ही आलोचक कह बैठते हैं—रीतिरात्मा काव्यस्य। शब्द एव काव्यम्। शैली ही साहित्य की आत्मा है। भाषा ही साहित्य है।

बातों की लड़ियाँ ऐसी गुथी हुई हैं कि उनके बीच के अलंकार-उत्प्रेक्षाएँ और उपमाएँ—शाही ज़माने के इलाक़ेबन्दों की याद दिलाते हैं। कही कहीं तो भाषा ऐसी संगीतमय है कि उससे अर्थ की प्रतिध्वनि निकलती है। प्रसंग और रस की ढाल पर उतरती हुई भाषा सहृदय पाठक को मस्त कर देती है। उसमें बनाव सिंगार क़ाफ़ी है पर बनावट तनिक भी नहीं।

वर्णनीय में और वर्णनशैली में ऐसा चमत्कार है कि आँखों के आगे खिंच गये चित्र पर आँखें तरस की दो बूँदें बिना ढाले मुँदती ही नहीं। मुँदती भी हैं तो बहुत देर तक उन्हीं बीते दिनों की कहानी कानों में गूँजा करती है।

निबंध की तीसरी विशेषता है व्यङ्ग्य और विनोद की देन। निबंध में विनोदशीलता तो पर्याप्त है ही, आदि से अंत तक एक छिपा हुआ व्यङ्ग्य भी है। भारत के मुसलमानों पर, साम्प्रदायिकता पर, और दिल्ली की उतरती

हुई दशा पर। मिर्ज़ा के चित्रण में व्यङ्ग्य की रेखा साफ साफ देख पड़ती है।

निबंध का चौथा गुण है आत्मीय राग। निबंध में लेखक की आत्मीयता और निजी छाप होनी चाहिए। इस निबंध को पढ़ने से ऐसा मालूम पड़ता है मानो हम रायपुरी जी से हिल मिलकर बातें कर रहे हैं। वे हमसे दूर नहीं हैं, हमारे पास ही बैठे हैं। यही आत्मीयता का गुण तो इस निबन्ध का आकर्षण है।

निबन्ध की पाँचवीं और सबसे बड़ी विशेषता है प्रभाव की गम्भीरता। निबन्ध में ऐसा प्रभाव होना चाहिए कि वह सामयिक न होकर चिरस्थायी हो। इस निबन्ध में यह गुण भी है। यह जब कभी पढ़ा जायगा तब इसकी अभिनवता और रमणीयता ज्यों की त्यों बनी रहेगी। इसमें मानव हृदय का चित्र है, कला के शृङ्गार का वह इतिहास है जो देश और काल के परे की चीज़ है। अतीत सौभाग्य की स्मृति वर्तमान अभाव की अनुभूति को इतना तीव्र कर देती है कि करुणा हृदय को बिना रुलाये नहीं छोड़ती।

इस निबन्ध के विशेष अध्ययन के लिए इसकी तुलना दूसरे निबन्ध से करनी चाहिए। 'वे दिन कहाँ' में जो मार्मिक टीस है वही इस निबन्ध का स्थायी भाव है, वही सहृदयों को लोट पोट कर देता है। अन्य बातें रीति, भाषा, वृत्ति, अलंकार आदि भी सबके सब रसानुरूप हैं यही निबन्ध की पूर्णता का रहस्य है।

बनारसीदास चतुर्वेदी

17

हमारे आराध्य देव

इक्का वृन्दावन से मथुरा चला जा रहा था। सड़क टूटी-फूटी थी, पर उसकी ओर हमारा ध्यान नहीं था, क्योंकि हम आचार्य गिड्वानी की स्फूर्तिमय वाणी सुन रहे थे। वे 'प्रेम' का डिक्लेरेशन दाखिल करने के लिये मथुरा जा रहे थे, और साथ में मुझे भी ले लिया था। इक्के में चढ़ते समय मैंने स्वप्न में भी यह ख्याल नहीं किया था कि आज मेरा परिचय एक ऐसे व्यक्ति से कराया जायगा, जो वर्षों तक मेरे हृदय में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करेगा, पर आचार्य गिड्वानी जी ने वही किया। बात चीत के सिलसिले में गिड्वानी जी ने कहा—"मेरे अनेक मित्रों ने मुझसे कहा है कि मैं वास्वानीजी की तरह कोई आश्रम क्यों नहीं स्थापित करता। आप भी शिकायत करते हैं कि मैं वृन्दावन-जैसी अस्वास्थ्यकर जगह में क्यों आया हूँ। आपलोगों के लिये मेरा उत्तर

यही है कि 'हमारा कर्तव्य-स्थल वही है, जहाँ हम हैं, न कि वहाँ, जहाँ हम रहना चाहते हैं' और आपने यहाँ का सूर्यास्त तो देखा ही नहीं। जमनाजी की रेती में से देखने से बड़ा सुन्दर प्रतीत होता है, और वह मेरी अस्वस्थता की क्षतिपूर्ति कर देता है। इसके सिवा बापू (महात्माजी) का कहना है कि आदमी थोड़ी सी सावधानी और भोजन में यथोचित परिवर्तन कर देने से चाहे जैसी आबहवा में स्वस्थ रह सकता है। रही आश्रम क़ायम करने की बात, सो मैं जल्दी में नहीं हूँ। मैं किसी की नक़ल नहीं करना चाहता। एमर्सन ने एक जगह कहा है—

'There is a time in every man's education when he arrives at the conviction that envy is ignorance; that imitation is suicide; that he must take himself for better, for worse, as his portion; that though the wide universe is full of good, no kernel of nourishing corn can come to him but through his toil on that plot of ground which is given to him to till.'

—'प्रत्येक मनुष्य की शिक्षा में एक ऐसा समय आता है, जब वह इस दृढ़ विश्वास पर पहुँच जाता है कि किसी से ईर्ष्या करना अज्ञान का सूचक है, और किसी की नक़ल करना मानो आत्मघात करना है। तब उसे यकीन हो जाता है कि चाहे बुरे हों या भले, हमारे भाग्य में हमीं बदे थे, और भले ही दुनिया में अच्छी से अच्छी चीज़ों का अखंड भंडार पड़ा हो, पर पुष्टिकारक

अन्न का एक भी दाना तब तक हमें नहीं मिल सकता, जब तक हम उस भूमिखंड को, जो हमें मिला है, अपने परिश्रम से जोतें बोएँ नहीं।' मैंने एमर्सन का नाम तक नहीं सुना था; पर उपर्युक्त बात इतने अच्छे ढंग पर कही गई थी कि वह मेरे मन में प्रवेश कर गई। इसके बाद बातचीत में ही गिड्वानी जी ने फिर एमर्सन का नाम लिया, और कहा—"An institution is the lengthened shadow of one man." 'संस्था किसी एक मनुष्य की विस्तृत छाया का नाम है।' संस्था की इतनी सच्ची परिभाषा मैंने पहले कभी नहीं सुनी थी। तुरन्त ही मन में ख्याल आया कि बात बड़े पते की कही है। साबरमती-आश्रम महात्मा जी की विस्तृत छाया है, शान्ति-निकेतन कवीन्द्र की और हिन्दू-विश्वविद्यालय मालवीयजी की। अबकी बार मुझसे न रहा गया, और मैं पूछ ही बैठा—"एमर्सन कौन थे?"

गिड्वानीजी ने उत्तर दिया—"एमर्सन को नहीं जानते? वे अमेरिका के सर्वश्रेष्ठ लेखक थे—Greatest contribution of America to world civilisation. (संसार की सभ्यता के लिये अमेरिका का सर्वश्रेष्ठ दान) प्रत्येक भारतीय नवयुवक को उनका निबन्ध 'Self-reliance' (आत्म-निर्भरता) अवश्य पढ़ना चाहिये।"

वृन्दावन से लौटकर आगरे में मैंने एमर्सन के निबन्ध तलाश किये, और 'स्काट-लाइब्रेरी' नामक पुस्तक माला की 'राइटिंग आफ एमर्सन' नामक पुस्तक मुझे मिल गई। घर पहुँच कर मैंने 'आत्म-निर्भरता' पढ़ना शुरू किया। ऐसे अवसर पर जब कि मुझ में

आत्मविश्वास की बहुत कमी थी, एमर्सन के इस निबन्ध ने बड़ी सान्त्वना दी और बहुत हिम्मत बँधाई। यह बात सन् १९२६ की है, और पिछले नौ वर्षों में बहुत ही कम दिन ऐसे बीते होंगे, जब मैंने प्रातःकाल में एमर्सन का सत्संग घण्टे-डेढ़ घण्टे के लिये न किया हो। उन्होंने निराशा की अन्धकारपूर्ण निशाओं में विद्युत् का काम किया है, दुर्घटनाओं में सान्त्वना दी है, थकने पर उनके निबन्ध सबसे बड़े 'टानिक' साबित हुए हैं, और जीवन में उत्साह लाने के लिये उनके विचारों ने वही काम किया है, जो क्षय के रोगियों के लिए कोई सुन्दर सेनेटोरियम करता है। इस बीच में मैंने अन्य लेखकों के भी ग्रन्थ पढ़े हैं, पर सूत्ररूप में आध्यात्मिक बातों को इतनी ख़ूबी के साथ कहनेवाला कोई दूसरा लेखक नहीं मिला, इसलिए वे मेरे हृदय में सर्वोच्च स्थान रखते हैं। यदि कोई दूसरा उनसे योग्यतर व्यक्ति मिल जायगा, तो एमर्सन की जगह उसे दे दूँगा। एमर्सन का कोई भी प्रेमी कभी किसी का अन्धभक्त नहीं हो सकता---स्वयं एमर्सन का भी नहीं! वह अपने दिमाग के द्वार प्रकाश के लिये सदा खुले रखता है---यह प्रकाश चाहे जहाँ से आवे। सुना है कि जब महात्माजी भारत-सरकार के एक उच्च पदाधिकारी से बात-चीत ख़तम करके चलने लगे, तो उन्होंने कहा---"But Mr. Gandhi, you haven't been able to throw much light on these intricate problems."---'मि० गांधी आप गहन प्रश्नों पर अधिक प्रकाश नहीं डाल सके।' हाज़िरजवाब महात्माजी ने फ़ौरन ही कहा---"Your Lordship

should keep your mind open and there will be a flood of light."—'लाट साहब, आप अपने मस्तिष्क के कपाट खुले तो रखें, फिर वहाँ प्रकाश की बाढ़-सी आ जायगी।'

महात्मा जी का यह क़िस्सा कहाँ तक सत्य है, इसकी ग्यारंटी हम नहीं कर सकते; पर इन शब्दों में जो सत्यतापूर्ण संदेश छिपा हुआ है, उससे कौन इनकार कर सकता है?

एमर्सन का सन्देश आशा का सन्देश है, वह शक्ति-प्रद है, जीवनदाता है, और यदि आप आध्यात्मिक शराब पीना चाहते हैं, तो मैं कहूँगा कि वह एमर्सन की दूकान पर मिलती है, फ़र्क़ इतना ही है कि दुनयाबी शराब उतार के वक्त थकान लाती है, एमर्सन का सोमरस सर्वथा स्वास्थ्यप्रद ही है, क्योंकि उसमें गीता-रूपी कल्पवृक्ष की पत्तियों का रस बड़ी अच्छी मात्रा में विद्यमान है। जब इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध लेखक एडवर्ड कारपेन्टर अमेरिका पहुँच कर एमर्सन से मिलने गये थे, तो एमर्सन ने उन्हें बड़े प्रेमपूर्वक अपने पुस्तकालय में उपनिषदों के अनुवाद दिखाये थे और अपनी 'ब्रह्म' नामक कविता भी सुनाई थी। एमर्सन भारतीय विचारों से इतने ओतप्रोत थे कि एक पाश्चात्य लेखक ने तो यहाँ तक लिख दिया है—"अध्ययनशील पूर्व के साथ एमर्सन के विचार इतने मिलते-जुलते हैं और अपने विचारों की उड़ान में वे कभी-कभी इतने ऊँचे पहुँच जाते हैं कि हम उन्हें क़रीब-क़रीब ब्राह्मण कह सकते हैं; यहाँ तक कि कोई सुसंस्कृत हिन्दू उनके विषय में लिख सकता है—Emerson seems to us to have been a geogra-

phical mistake. He ought to have been born in India.' 'हमें ऐसा प्रतीत होता है कि एमर्सन भौगोलिक भूल थे। उनका जन्म तो भारतवर्ष में होना चाहिए था।"

साहित्यिकों के लिए एमर्सन का सन्देश

सबसे पहले इसी विषय को लेते हैं कि साहित्यिक आदमियों के लिए एमर्सन क्या सन्देश देते हैं। उनका American scholar, (अंमेरिकन विद्वान्) नामक भाषण जो सन् १८३७ में दिया गया था अमेरिका के साहित्यिक इतिहास में युगान्तरकारी कहा जाता है। डा० जे० टी० सण्डरलैण्ड ने अपनी पुस्तक Eminent Americans में इस भाषण के विषय में लिखाहै—"जब यह भाषण दिया गया था, उस समय उसका बड़ा प्रभाव पड़ा था। अमेरिका के साहित्यिक इतिहास में इस प्रकार के दूसरे भाषण का, जिसका इतना प्रभाव पड़ा हो और जिसने इतनी जागृति की हो नाम बतलाना मुश्किल है। यदि किसी ने एमर्सन के ग्रन्थ न पढ़े हों, और वह पढ़ना चाहते हों, तो मैं उनसे कहूँगा कि वे इस भाषण से प्रारम्भ करें।"

इस भाषण के कितने ही वाक्य-रत्न ऐसे हैं, जो स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं—"And man shall treat with man as a sovereign state with a sovereign state." 'एक मनुष्य का बर्ताव दूसरे मनुष्य के साथ वैसा ही होना चाहिए जैसा कि एक सर्वथा स्वाधीन राज्य का दूसरे सर्वथा स्वाधीन राज्य के प्रति होता है।'

यद्यपि इस उपदेश को पूर्णतया कार्य-रूप में परिणत करना उतना ही कठिन है, जितना पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य धारण करना; पर हम लोगों का—साहित्यिकों का—आदर्श यही होना चाहिए। इस ससार (असार नहीं) संसार में अनेक बीभत्स दृश्य देखे जाते हैं, पर यदि कोई हमसे पूछे कि संसार का सबसे अधिक बीभत्स दृश्य क्या है, तो हम यही उत्तर देंगे कि किसी सच्चे साहित्यिक पुरुष का वह पतन, जब वह पापी पेट के लिए (अस्य दग्धोदरस्यार्थे) किसी आदर्शहीन धनाढ्य के सामने झुकता है।

एमर्सन के मतानुसार प्रत्येक साहित्यिक के लिए सबसे जरूरी चीज़ है अपनी स्वाधीनता की रक्षा करना और अपना व्यक्तित्व अलग क़ायम रखना—

"Is it not the chief disgrace in the would, not to be an unit; not to be reckoned one character; not to yield that peculiar fruit which man was created to bear, but to be reckoned in the gross, in the hunderd, or the thousand, of the party, the section, to which we belong; and our opinion predicted geographically, as the north, or the south ? Not so, brothers and friends-please God, our shall not be so. We will walk on our own feet; we will work with our own hand; we will speak our own minds.

'क्या दुनिया में सब से बड़ी शर्म की बात यह नहीं है कि

आदमी एक इकाई न हो, यानी उसका व्यक्तित्व अलग न हो, उसकी गिनती एक पृथक् व्यक्तित्व के तौर पर न की जाय? प्रत्येक मनुष्य की रचना का उद्देश्य यही है कि वह वृक्षों की तरह अपना अलग ही फल दे। क्या यह शर्म की बात नहीं कि कोई मनुष्य अपने व्यक्तित्व को विचित्र रूप से सफल न बनावे? हमारे लिए क्या यह लज्जा का विषय नहीं है कि हम किसी पार्टी के सैकड़ों-हजारों अनुयायियों में एक गिने जायँ, और हमारी सम्मति को कोई पहले से उसी प्रकार बतला दे, जिस प्रकार भूगोल में उत्तर-दक्षिण बतला दिए जाते हैं? भाइयो और मित्रो! ईश्वर-कृपा से हम लोग इस प्रकार के नहीं बनेंगे। हम लोग अपने पैरों खड़े होंगे, अपने हाथों से काम करेंगे, और अपने ही विचारों को प्रकट करेंगे।

एक वाक्य और लीजिए—

"If the single man plant himself indomitably on his instincts, and there abide, the huge world will come round to him."

—'यदि अकेला एक आदमी भी दृढ़तापूर्वक जमकर बैठ जाय, और अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा के अनुसार काम करने लगे, तो यह विशाल संसार उसके निकट आ जायगा।'

एमर्सन का यह कथन था कि प्रत्येक मनुष्य को अपने प्रकाश से अपना मार्ग प्रकाशित करना चाहिए। भगवान् गौतमबुद्ध ने निर्वाण के समय अपने शिष्यों को 'आत्मदीप' अपना प्रकाश स्वयं

बनने का जो उपदेश दिया था, वह केवल भिक्षुओं के लिए ही नहीं था, सभी प्राणियों के लिए था, और लेखकों के लिए तो वह एक अनिवार्य चीज़ है।

Be content with a little light, so it be your own. Explore and explore. Be neither chided nor flattered out of your position of perpetual inquiry."

—'यदि प्रकाश थोड़ा ही हो, तो कोई मुज़ायका नहीं, अभी उसी से संतोष कर लो, बशर्ते कि प्रकाश तुम्हारा निजी हो। निरन्तर खोज करते रहो, खोज। चाहे कोई तुम पर कटाक्ष करे, चाहे कोई तुम्हारी खुशामद करे; पर निरन्तर जाँच करने की अपनी प्रवृत्ति को मत छोड़ो।

एमर्सन ने लिखा था—"यदि कोई मस्तिष्क अपने मार्ग का द्रष्टा स्वयं नहीं बनता, अपने सत्य को किसी दूसरी जगह से ग्रहण करता है—चाहे इस सत्य का प्रकाश धाराप्रवाह रूप से आवे—तो विना एकान्तवास, आत्मनिरीक्षण और विना आरोग्य-प्राप्ति के यह दूसरी जगह से प्रकाश का आना मस्तिष्क के लिए विघातक साबित होता है, प्रतिभा स्वयं प्रतिभा पर अत्यधिक प्रभाव डालने के कारण उसकी शत्रु बन जाती है। प्रत्येक राष्ट्र का साहित्य मेरे इस कथन का गवाह है। उदाहरणार्थ, अंगरेजी के नाटककार कवि दो सौ वर्ष से शेक्सपियर की नक़ल कर रहे हैं।

पुस्तकों के विषय में एमर्सन कहते हैं—"यदि पुस्तकों का सदुपयोग हो, तो वे सर्वोत्तम चीज़ हैं, यदि दुरुपयोग हो, तो वे

सब से ख़राब। पुस्तकों का मुख्य उद्देश्य है स्फूर्ति प्रदान करना, पर यदि कोई पुस्तक अपने आकर्षण से मुझे अपने निर्दिष्ट पथसे अलग फेंक दे, और मैं ग्रह-मंडल बनने के बजाय उसका उपग्रह बन जाऊँ—उसके आस पास चक्कर काटने लगूँ—तो इससे तो यही बेहतर होगा कि मैं उक्त पुस्तक को पढ़ूँ ही नहीं।"

एमर्सन लेखकों के जीवन में कार्यशीलता लाने के पक्षपाती थे। वे कहते थे कि यद्यपि लेखक का प्रधान कर्तव्य विचार करना है और कार्य करना उसके लिए गौण है, तथापि कार्य करना उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है। बिना कार्य किए वह पुरुष नहीं बन सकता। बिना कार्यशील बने उसके विचार पक कर सत्य नहीं बन सकते। अकर्म कायरता है। ······मुझ में उतनी ही ज़िन्दगी है, जितनी की मेरी अनुभूति है।

साहित्य-सेवियों के लिए उनका यही सन्देश था—'जो कुछ तुम्हें, केवल तुम्हें ही, ज्ञात है, वही लिखो। अपने अनुभव बत-लाओ; अपने व्यक्तित्व को प्रकट करो, अन्य किसी की प्रतिध्वनि मत बनो।'

उनके ये निम्नलिखित शब्द प्रत्येक आदर्शवादी साहित्यसेवी को अपने कमरे में लिखकर टाँग लेने चाहिए—

"Truth shall be policy enough for him. Let him open his breast to all honest inquiry and be an artist superior to tricks of art. Show frankly as a saint would do, your experience, methods, tools, and means.

Wellcome all comers to the freest use of the same. And out of this superior frankness and charity you shall learn higher secrets of your nature, which gods will bend and aid you to communicate."

अर्थात्—'सत्य ही उसके (साहित्यसेवी के) लिये पर्याप्त पालिसी होगी। साहित्यसेवी का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक ईमानदार जिज्ञासु के सामने अपना दिल खोलकर रख दे और कलाकारों की चालाकियों से ऊपर उठकर कलाकार बने। सन्त पुरुष की भाँति अपने अनुभव, अपने तौर तरीके, अपने अस्त्र-शस्त्र और साधनों को सबको दिखलाओ, और जो आदमी तुम्हारे पास जिज्ञासा के भाव से आवें, उन्हें इनका भरपूर प्रयोग करने दो। इस ऊँचे दर्जे की स्पष्टवादिता तथा उदारता से तुम्हें खुद अपनी प्रकृति की उच्चकोटि की भीतरी बातों का पता लग जायगा; और देवता लोग झुककर उन बातों के प्रकटीकरण में तुम्हारी मदद करेंगे।'

इसमें सन्देह नहीं कि एमर्सन के उपर्युक्त सिद्धान्त को प्रयोग में लाना ख़तरनाक है। आदमियों को पहचानना आसान नहीं। कौन आदमी धूर्त है और कौन 'ईमानदार जिज्ञासु' इसका पता लगाना आसान काम नहीं; पर जो साहित्यसेवी दर असल ऊँचे उठना चाहते हैं, उन्हें इन खतरों में पड़ना ही होगा।

यदि कोई आदमी धोखा दे भी दे तो उससे साहित्यसेवी

की वास्तविक हानि नहीं हो सकती। एमर्सन ने एक जगह लिखा है:—

"Every man takes care that his neighbour shall not cheat him. But a day comes when he begins to care that he do not cheat his neighbour. Then all goes well, he has changed his market-cart into a chariot of the sun."

—'हर एक आदमी इस बात की चिन्ता करता है कि मेरा पड़ोसी मुझे धोखा न दे दे; लेकिन एक दिन ऐसा भी आता है, जब वह इस बात की फ़िक्र करना प्रारम्भ करता है कि वह ख़ुद अपने पड़ोसी को धोखा न दे। तब सब बात ठीक बन जाती है, तब उसकी बाजारू गाड़ी सूर्य के रथ में परिवर्तित हो जाती है।'

एमर्सन क़े उपर्युक्त कथन की तुलना कबीर के निम्नलिखित दोहे से कीजिए—

"कबिरा आप ठगाइये और न ठगिये कोइ;
आप ठगें सुख ऊपजै और ठगें दुख होइ।"

साहित्यसेवी के लिये एमर्सन का एक और भी सन्देश है—
"Snares and bribes abound to mislead him; let him be true nevertheless." 'साहित्य-सेवी को पथभ्रष्ट करने के लिये जाल बिछेंगे और रिश्वतों की भी भरमार होगी; फिर भी उसे सत्य-पथ पर आरूढ़ रहना चाहिये।'

एमर्सन का लिखने का ढंग भी अजीब था। वे प्रकृति के

अत्यन्त प्रेमी थे। वे नित्यप्रति वन-उपवन की सैर करने के लिये जाया करते थे, और वहाँ पर जो विचार उनके मन में आया करते थे, उन्हें नोट कर लेते थे, और फिर इन्हीं विचारों को मिलाकर वे व्याख्यानों का रूप दे दिया करते थे। उन्होंने एक जगह लिखा है—'वन-उपवन को मैं इसलिए जाता हूँ कि वहाँ पर प्रकृति का सन्देश सुनूँ। इन विचारों का जन्मदाता मैं नहीं हूँ; वे मेरे पास आते हैं, और मैं तो केवल उनका रिपोर्टर हूँ। मेरी नोट की हुई चीजों में कोई शृङ्खला नहीं होती। उनसे किसी विशाल भवन का निर्माण नहीं होता; वह तो ईंटों का समूहमात्र है।" इस कथन से एमर्सन की नम्रता प्रकट होती है। हरएक आदमी तो वन-उपवन में जाकर इस प्रकार के सन्देश नहीं सुन सकता। इन सन्देशों को ग्रहण करने के लिये भी तो अद्भुत मस्तिष्क-रूपी यन्त्र की आवश्यकता है; और एमर्सन जैसा मस्तिष्क तो लाखों-करोड़ों में एक-आध को ही मिलता है। एक जगह एमर्सन ने लिखा था—

"I am born a poet—of a low class, no doubt, yet a poet. My singing, be sure, is very husky, and is for the most part in prose. Still I am a poet in the sense of a perceiver and dear lover of harmonies that are in the soul and in the matter and specially of the correspondences between these and those. A sun-set, forest, a snow-storm, a certain river-view, are more to me than many

friends, and do ordinarily divide my day with my books."

—'मैं जन्मतः कवि हूँ—हाँ, यह बात दूसरी है कि मैं निम्न-कोटिका कवि हूँ; पर कवि ज़रूर हूँ। मैं इस बात को मानता हूँ कि मेरा गाना बड़ा रूखा है, और उसका अधिकांश भाग गद्य में है; पर मैं अपने को कवि इस दृष्टि से मानता हूँ कि प्रकृति तथा आत्मा की एकता का मैं द्रष्टा तथा प्रेमी भी हूँ; और विशेषतः दोनों की समानताओं को मैं भली भाँति देख सकता हूँ। मेरे लिये सूर्यास्त, वन, हिमपात, नदी-तट के दृश्य आदि का महत्त्व मित्रों से कहीं अधिक है, और मेरा जितना समय पुस्तक पढ़ने में बीतता है, उतना ही उपर्युक्त प्राकृतिक सौन्दर्यों के निरीक्षण में।' ❀

कभी कभी तो एमर्सन के विचार पढ़ते-पढ़ते यह शक होने लगता है कि कहीं हम गीता की टीका तो नहीं पढ़ रहे हैं। निम्न-लिखित वाक्य लीजिए—

"The Buddhists say—'No seed will die, every seed will grow. Where is the service which can escape its remuneration? What is vulgar, and the essence of all

---

❀ मई सन् १९३२ के 'विशाल भारत' में हमने एमर्सन के विषय में एक निबन्ध लिखा था। उसमें उपर्युक्त बातों का प्रयोग किया गया था; पर हमें ये इतनी महत्त्वपूर्ण जँचीं कि इनका दुहराना उचित समझा। —लेखक

vulgarity, but the avarice of reward ? It is the difference of artisan and artist, of talent and genius, of sinner and saint. The man whose eyes are nailed not on the nature of his act, but on the wages—whether it be money, or office, or fame—is almost equally low."

यह 'कर्मण्येवधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' की विस्तृत व्याख्या नहीं है, तो क्या है ? Gita is an Empire of thought. (गीता विचारों का साम्राज्य है)' एमर्सन के इस वाक्य को श्री टी० एल० वास्वानी ने अपने एक लेख में उद्धृत किया था।

एमर्सन के निबन्ध खाँड़ की उस रोटी की तरह हैं, जो जहाँ से तोड़ो, वहाँ से मीठी निकलती है। एमर्सन का कथन था—"जो विचार आज आपकी समझ में आते हैं, उन्हें आज लिख दो; और यदि आज तथा कल के विचारों में परस्पर विरोध हो, तो कोई मुज़ायक़ा नहीं। इससे ग़लतफ़हमियाँ उत्पन्न होंगी, लोग तुम्हें कुछ-का-कुछ समझेंगे; पर इससे क्या हुआ ? क्या कुछ-का-कुछ समझा जाना कोई बड़ी ख़राब बात है ? पिथागोरस को लोगों ने कुछ-का-कुछ समझा, सुकरात को कुछ-का-कुछ समझा, और ईसा मसीह को, लूथर को, कापरनीकस, गैलिलियो और न्यूटन को लोगों ने ग़लत समझा। यही क्यों, प्रत्येक पवित्र तथा बुद्धिमान् शरीरधारी को लोगों ने कुछ-का-कुछ समझा है। महान् होने का अर्थ ही है कुछ-का-कुछ समझा जाना।"

'पहले हम यह बात कह चुके हैं, अब इसका विरोध कैसे

करें ? यह विचार अनेक आदमियों को तंग किया करता है ; पर एमर्सन को इसकी कुछ परवा नहीं । वे कहते हैं—"पहले जैसा हम कह चुके हैं, हमें तदनुसार ही करना चाहिये, किसी प्रकार उसका खंडन न करना चाहिए, यह मूर्खतापूर्ण भूत तो क्षुद्र मस्तिष्क वालों के ही सिर पर सवार होता है, और भिन्न-कोटि के राजनीतिक, दार्शनिक तथा धार्मिक पुरुष इस भूत की पूजा करते हैं, पर किसी महान् आत्मा को इस भूत से कुछ सरोकार नहीं । किसी महान् आत्मा के लिए यह विचार उतना ही महत्त्व रखता है, जितना दीवार पर उसकी छाया ।" ❀

---

* A foolish consistency is the hobgoblin of little minds, adored by little statesmen and philosophers and divines. With consistency a great soul has simply nothing to do. He may as well concern himself with his shadow on the wall. Speak what you think now in hard words, and to-morrow speak what to-morrow thinks in hard words again, though it contradict everything you said to-day. 'Ah, so you shall be sure to be misunderstood.' Is it so bad, then, to be misunderstood ? Pythagoras was misunderstood, and socrates, and gesus and Luther, and Copernicus, and Galileo, and Newton, and every pure and wise spirit that ever took flesh. To be great is to be misunderstood.

एमर्सन के विचार पढ़ते-पढ़ते आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है, और बार-बार मुँह से यह निकल पड़ता है—"ख़ूब ! बात तो हमारे मन में भी थी ; पर एमर्सन ने कितने बढ़िया ढंग से उसे कहा है।" किसी उर्दू कवि का वह पद्य हमें इस समय याद नहीं आ रहा है, जिसके अन्त में आता है—"गोया ये भी मेरे दिल में था।" यही एमर्सन की प्रतिभा का प्रमाण है। उन्होंने एक जगह लिखा है—"In every work of genius we recognise our own rejected thoughts." 'प्रतिभापूर्ण ग्रन्थों में हमें कितने ही विचार मिलते हैं, जो हमारे मस्तिष्क में भी आये थे ; पर जिनको हमने थोथा समझकर छोड़ दिया'।

एमर्सन को पढ़ने के बाद अन्य छोटे-मोटे उत्साहप्रद ग्रन्थ कुछ भी नहीं जँचते। जो लोग एमर्सन के प्रेमी हैं, वे इस बात के साक्षी हो सकते हैं। एमर्सन ने एक जगह लिखा है—

"Who hears me, who understands me, becomes mine—a possession for all time."

—'जो आदमी मेरा सन्देश सुनता है, जो मुझे समझता है, वह मेरा हो जाता है, सदा के लिये उसपर मेरा अधिकार हो जाता है।'

और सुनिए—"Let the soul be assured that somewhere in the universe it should rejoin its friend and it would be content and cheerful alone for a thousand years."

—'यदि किसी आत्मा को दृढ़तापूर्वक यह विश्वास दिला

दिया जाय कि इस विश्व में कहीं पर अपने पूर्व परिचित मित्र से उसका मिलन अवश्य हो जायगा, तो वह एकाकी अवस्था में एक हज़ार वर्ष तक प्रसन्न और सन्तुष्ट रह सकती है।'

पर एमर्सन अपने व्यक्तित्व के पूर्ण और स्वाधीनतायुक्त विकास के इतने अधिक पक्षपाती हैं कि वे मित्रों के मोह को उसके बीच में बाधक नहीं होने देना चाहते। वे कहते हैं कि जिस प्रकार वृक्षों में पुराने पत्तों की जगह नये पत्ते आते रहते हैं, उसी प्रकार प्रगतिशील मनुष्यों के मित्रों में परिवर्तन होता रहता है; हाँ, यदि मित्र भी उसी प्रकार प्रगतिशील हों, तब दूसरी बात है। जब आत्मा की पुकार आती है उस समय एमर्सन अपने माता-पिता, भाई-बहन, मित्र इत्यादि को छोड़कर उसकी ओर अग्रसर होते हैं। यदि कोई उनसे कहता है—"इससे तो आपके मित्रों को दुःख होगा।" तो वे जवाब देते हैं—"Yes, but I cannot sell my liberty and my power to save their sensibility." 'हाँ, पर मैं इसका क्या करूँ? उनकी भावुकता को बचाने के लिये मैं अपनी स्वाधीनता अथवा शक्ति को बेच थोड़े ही सकता हूँ।'

एमर्सन के अनुयायी को सर्वथा निर्मोही होना चाहिये। यदि एमर्सन का कोई मित्र उनके नैतिक तथा सत्य-सम्बन्धी धरातल पर नहीं है, तो वे उससे यही कहते हैं—"जनाब आप अपने रास्ते जाइये, मैं अपने मार्ग पर जाऊँगा। दम्भ करने से कोई फ़ायदा नहीं। यदि हम अपने मतानुसार सत्य मार्ग का अनु-

सरण करते रहें, तो कभी-न-कभी आगे चलकर मिल जायँगे।"

एमर्सन न अपने किसी मित्र की प्रतिध्वनि बनना चाहते हैं, और न वे किसी को अपनी प्रतिध्वनि बनाना चाहते हैं। एमर्सन कहते हैं—"हमें लोगों से मिलना जरूर चाहिये, पर अपनी शर्तों पर और क्षुद्र से क्षुद्र कारण पर किसी का प्रवेश या बहिष्कार करने का हमें अधिकार होना चाहिये।"

एमर्सन अपने प्रेमियों से मानो कहते हैं--"यदि अपने लक्ष्य पर जाने में तुम्हारे मित्र छूटते हैं, तो छूट जाने दो। उनसे बढ़िया मित्र तुम्हें आगे चलकर मिल जायँगे। ये पुरानी चीजों की मूर्ति-पूजा कैसी ? तुम समझते हो कि तुम्हारा भूतकाल बड़ा मनोहर था, पर मैं तुमसे कहता हूँ कि वर्तमान में वह शक्ति है कि तुम्हारा भविष्य उससे भी अधिक उज्ज्वल बना सके। इस पुराने खेमे में पड़े पड़े क्यों पछता रहे हो कि यहाँ पहले हमें भोजन मिला था आश्रय मिला था, और मिला था प्रेम ? क्यों इस बात पर विश्वास नहीं करते कि आत्मा में वह क्रियात्मक शक्ति है कि वह भविष्य में हमारा भरण-पोषण कर सकती है और हमें शक्ति प्रदान कर सकती है ? क्यों व्यर्थ ही पश्चात्ताप कर रहे हो कि भविष्य में हमें ऐसी प्यारी, ऐसी मधुर, शिष्ट चीज नहीं मिलेगी ? पर इस तरह बैठ कर रोना ठीक नहीं। यह बिल्कुल व्यर्थ ही है। सर्व शक्तिमान् का सन्देश है—'आगे बढ़े चलो, निरन्तर बढ़ते रहो।' छोड़ो जी, इन पुराने खंडहरों को पीछे मुड़कर क्यों देखते

हो ? बाज़ बाज़ राक्षसो की आँखें पीठ की ओर होती हैं। क्या तुम भी राक्षस हो ?"

अपनी गार्हस्थिक दुर्घटनाओं में हमें एमर्सन के Compensation (क्षति-पूर्ति) नामक निबन्ध से जितनी सान्त्वना मिली है, उतनी किसी दूसरी पुस्तक से नहीं। आकस्मिक दुःखों के कारण जिन महानुभावों की आत्मा सन्तप्त हो, उन्हें एमर्सन के निम्न लिखित वाक्यों पर ध्यान देना चाहिए --

"And yet compensations of calamity are made apparent to the understanding also, after long intervals of time. A fever a mutilation, a cruel disappointment, a loss of wealth, a loss of friends, seems at the moment unpaid loss, and unpayble. But the sure years reveal the deep remedial force that underlies all facts. The death of a dear friend, wife, brother, lover, which seemed nothing but privation, somewhat later assumes the aspect of a guide or genius; for it commonly operates revolution in our way of life, terminates an epoch of infancy or of youth which was waiting to be closed, breaks up a wonted occupation, or a household, or style of living, and allows the formation of new ones more friendly to the growth of character. It permits or constrains the formation of new acquaintances, and the reception of new influences

that prove of the first importance to the next years; and the man or woman who would have remained a sunny garden flower, with no room for its roots and too much sunshine for its head, by the falling of the walls and the neglect of the gardener, is made the banian of the forest, yielding shade and fruit to wide neighbourhoods of men"

इसका भावार्थ यह है—"मनुष्य के जीवन में जो दुर्घटनाएँ आती हैं, उनकी भी क्षतिपूर्ति होती है; पर वे बहुत दिनों बाद हमारी समझ में आती हैं। बुखार आना, अंग-भंग हो जाना, निर्दयतापूर्ण निराशा, धन की हानि, मित्रों का विनाश आदि दुर्घटनाएँ जब हमारे जीवन में घटती हैं, उस समय तो ऐसा मालूम होता है कि यह बिलकुल घाटा-ही-घाटा रहा, इस क्षति की पूर्ति कभी हो ही नहीं सकती। पर सब वास्तविक तथ्यों के बीच में एक स्वास्थ्य-प्रद शक्ति निहित रहती है, जिसका परिचय हमें वर्षों बाद लगता है, और निश्चयपूर्वक लगता है। जिस समय हमारे किसी प्रिय मित्र की, पत्नी की, भाई की अथवा प्रेमी की मृत्यु होती है, उस समय तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हम हमेशा के लिए वंचित कर दिए गये; लेकिन आगे चलकर यही दुर्घटना हमारे लिए स्फूर्तिदायक बन जाती है, हमारे रहनुमा का काम करती है। इस दुर्घटना के कारण हमारे जीवन में एक प्रकार की क्रान्ति आ जाती है। हमारे बचपन के अथवा बाल्यावस्था के युग का अन्त हो जाता है, हमारे चिर-अभ्यस्त कार्यक्रम का विच्छेद हो जाता है,

गृहस्थावस्था या जीवनक्रम टूट जाता है, और उसके परिणाम-स्वरूप नवीन जीवनक्रम का निर्माण होता है, जो हमारे चरित्र के निर्माण के लिए अधिक उपयुक्त साबित होता है। इन दुर्घटनाओं के कारण हमारा नवीन व्यक्तियों से परिचय होता हैं, हमारे जीवन में नवीन प्रभावों को ग्रहण करने की शक्ति आती है, ऐसे प्रभाव, जो आगामी वर्षों में हमारे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। और वह स्त्री या पुरुष, जो इस दुर्घटना के न आने पर उद्यान का एक कोमल पुष्प बना रहता (उसकी जड़ों को फैलने की जगह ही न होती और सूर्य का प्रकाश—वैभव-विलास—का उसे जरूरत से ज्यादा भाग मिलता), दीवारों के गिरजाने से या माली की उपेक्षा से वही कोमल पुष्प बन के वट वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, जो दूर-दूर तक मानव-समाज को फल और छाया प्रदान करता है।"

जिस प्रकार तुलसीदास जी की रामायण के प्रेमियों को समय-समय पर—दुःख में, सुख में—उसी से स्वान्त्वना मिलती है, सन्तोष मिलता है और शक्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार एमर्सन के भक्तों के लिए उनके ग्रन्थ रामायण का काम देते हैं।

किसी देश-विशेष ने ऋषित्व का पट्टा नहीं लिखा लिया है, और न इस संसार में देवदूतों का आना ही बन्द हो गया है। यदि दक्षिण-भारत हमें शंकराचार्य प्रदान कर सकता है, बंगाल रामकृष्ण और राममोहन, गुजरात दयानन्द तथा गांधी, तो अमेरिका हमें एमर्सन, रूस क्रोपाटकिन, टालसटाय और लेनिन

क्यों न प्रदान करें ? कठमुल्ले हैं वे, जो अपने दिमाग़ के द्वार को बन्द कर लेते हैं ।

जब हमारे एक सहयोगी को यह पता लगा कि हमारे आराध्य पुरुषों और प्रिय लेखकों में अधिकांश पश्चिम के हैं, तो उन्होंने कुछ व्यंगात्मक ढंग से कहा—"तुम तो बिलकुल पाश्चात्य हो ।"

मालूम नहीं कि इसे हम निन्दा समझें या प्रशंसा क्या ज्योति पर किसी देश-विशेष ने एकाधिकार जमा लिया है ? यद्यपि एमर्सन ने स्वयं ही कहा है-"Europe has always owed to oriental genius its divine impulses." 'यूरोप सदा से अपनी दैवी भावनाओं के लिए पूर्वीय देशों की प्रतिभा का ऋणी रहा है ।' तथापि नदी के स्रोत का जितना माहात्म्य है, उतना ही उसके आगे के तीर्थों का हो सकता है ।

यद्यपि गंगोत्री का जो निर्मल जल सुदूर हिमालय के दुर्गम स्थल में प्राप्य है, वह बनारस में नहीं मिल सकता; पर पुण्य-सलिला भागीरथीमें जो काशी तीर्थ में स्नान करते हैं, उन्हें क्या आप अपराधी कह सकते हैं ? वयोवृद्ध प्रिन्सिपल हेरम्ब-चन्द्र मित्र ने जो एमर्सन के बड़े भक्त हैं, हारवार्ड के एक मासिक पत्र में लिखा था--

I recognize a close affinity in the thought of Emerson and that of the orient. Emerson's teachings breathe a new life into our old faith. They assure its stability and its

progress, by incorporating with its precious new truths revealed or brought into prominence by the wider intelle-ctual and ethical outlook of the modern spirit.

—'मुझे एमर्सन के विचारों में और पूर्वीय देशों के विचारों में घनिष्ठ समता दीख पड़ती है। एमर्सन की शिक्षाएँ हमारे प्राचीन विश्वासों में नवीन जीवन का संचार करती हैं। उन शिक्षाओं के कारण हमारे ये विश्वास स्थिरता प्राप्त करते हैं और उन्नतिशील बनते हैं, क्योंकि एमर्सन की शिक्षाओं में वर्तमान काल के विस्तृत बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टिकोण के कारण नवीन सत्यों का या तो प्रकटीकरण हुआ है या वे महत्त्व धारण करके प्रकाश में आ गये हैं।'

मित्रवर गर्देजी ने हमें एक पत्र में लिखा था—'कभी-कभी गीता के समझने में हमें एमर्सन से मदद मिल जाती है।' निस्स-न्देह एमर्सन उपनिषदों के मौलिक टीकाकार हैं। एमर्सन के ग्रंथों का हिन्दी में भावानुवाद होना चाहिये, और शीघ्र ही होना चाहिये।

सुप्रसिद्ध भारत-हितैषी डा० जे० टी० सण्डरलैण्ड ने लिखा है—If you can read only one writer of the west, my word is, read Emerson.

—'यदि आप पश्चिम के केवल एक ही लेखक की रचना पढ़ना चाहते हैं, तो एमर्सन को पढ़िये।'

जब जर्मनी के सुप्रसिद्ध संस्कृतज्ञ विद्वान डाक्टर पाल ड्यूसन

भारत-यात्रा के लिए आये थे, तो उन्हें अयोध्या में किसी पुजारी ने भगवान् राम के मन्दिर में प्रवेश करने से रोक दिया था। उन्होंने बहुत समझाया कि वर्षों से मैं राम का भक्त हूँ, दिनरात संस्कृत पढ़ता हूँ, मुझे भीतर जाने दो, पर उस कठमुल्लेने न जाने दिया, न जाने दिया। उस समय वे यह कहकर चले गये— "क्रुद्धोऽस्मि।' आज उसी प्रकार एमर्सन हमारी राष्ट्र-भाषा के सरस्वती-मन्दिर के द्वार पर खड़े हैं। क्या हम उनका स्वागत न करके उस भूल को दुहरावेंगे?

हमारे आराध्य देव

सफल लेखनी का चमत्कार देखकर प्रयुक्त साहित्य का लोहा मानना पड़ता है। लोक-संग्रह और भोली रुचि के अनुकूल होने के कारण वह लोक-प्रिय तो होता ही है अपनी सचाई और सुन्दरता के कारण बड़ों का भी मनोहारी बन जाता है। कैसा भी विषय हो– बुद्धि का चाहे हृदय का–यदि उसका जीवन में अनुभव हुआ है तभी उसमें सचाई आ सकती है और सुन्दरता तो भाषा और शैली जानने वाले लेखक की सचाई का ही दूसरा नाम है। वह ठीक ठीक अपने विचारों और भावनाओं को सामने रख देता है और वे शेफाली के फूलों की भाँति जहाँ गिर पड़ते हैं वहीं अच्छे लगते हैं।

सामने का निबंध ऐसी ही विषयप्रधान मनोहर कृति है। उसमें आदि से अन्त तक उपदेश और प्रवचन है। उसका वाच्यार्थ है उपदेश, उसका व्यंग्यार्थ है उपदेश। जो सीखना चाहता है उसे शरीर, बुद्धि, मन और आत्मा सभी के लायक कुछ न कुछ मिल सकता है। यह पहुँचे हुए संत का वचनामृत-सा है। पर संतवानी का रूखा और तीखापन उसमें नहीं है। उसमें एक मिठास है, आकर्षण है, क्योंकि उसमें साहित्य की आत्मा जो है।

वह आत्मा और कुछ नहीं, आनन्द की अनुभूति है। लेखक ने जो कुछ लिखा है, उसमें पहले उसने आनंद का अनुभव किया और फिर उसे शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करके संगोतियों को आनंद चखाने का आनंद लिया है। उसने सुनी और सीखी बातें नहीं, देखी और बर्ती चीजें लिखी हैं। इसीसे उनमें आत्मकथा की निजी छाप है। यही आत्मीय राग अच्छे साहित्य का लक्षण है—निबंध का तो प्राण है।

दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि इस निबंध का अर्थ ही आदर्श और अनुकरणीय नहीं है उसकी भाषा और शैली के गुण भी आदर्श और अनुकरणीय हैं। मनोवैज्ञानिक भूमिका बाँधकर नाटकीय ढंग से कुतूहल और जिज्ञासा को जगा कर, किसी विषय या व्यक्ति का परिचय देना लिखने की कला है। इसी कला के कारण पाठक लंबी भूमिका की चिंता न करके उत्सुकता से पूछता है 'एमर्सन कौन हैं ? उत्तर में एमर्सन और उनके साहित्य का जो परिचय है उसमें संग्रह और त्याग की कला वर्त्तमान है और अन्त में 'क्रुद्धोऽस्मि' वाली ब्यूसन की चर्चा एक चित्र खींच देती है। निबंध पूरा करके हम अपने मानो नेत्रों से देखते हैं कि विश्वनाथजी के मन्दिर जैसे किसी मन्दिर के सामने एमर्सन यात्री-सुलभ वेषभूषा में खड़े हैं। इस प्रकार के आरंभ और उपसंहार के कौशल ने ही इस अनुकरणीय निबंध को आस्वाद्य बना दिया है।

आत्मा, प्राण और शरीर तीनों का विचार करने पर निश्चय होता है कि यह निबंध सुन्दर है, पर इसमें कुछ दोष भी हैं।

कलाजगत् और वस्तुजगत्

[१]

जब हम 'भारतवर्ष' नहीं, बल्कि 'भारतमाता' कहते हैं, तब इसमें हमारा क्या दृष्टिकोण रहता है? हम मानचित्र उठाकर देखते हैं तो नदियों, समुद्रों, पर्वतों और प्रदेशों का सीमा-विस्तार देख पड़ता है, कहीं कोई मूर्ति नहीं, यह तो एक नकशा है। किन्तु बाहर (वस्तुजगत् में) जो नकशा है, वही हमारे भीतर मातृभूमि की एक जीवित प्रतिमा भी रच देता है और हम गा उठते हैं—

नीलांबर प्रावार हरित पट पर सुंदर है;
सूर्य चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारा-मण्डल हैं;
बंदी विविध विहंग, शेष-फन सिंहासन है।

करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेश की।
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही, सगुण मूर्ति सर्वेश की ॥

इस प्रकार जब हम मातृभूमि की वंदना करते हैं तब घोर रियलिस्ट राजनीतिक होते हुए भी भावप्रवण हो जाते हैं, वस्तु-जगत् से काव्यजगत् में चले आते हैं। यही वस्तुजगत् और काव्यजगत् का पार्थक्य ज्ञात हो जाता है। मनुष्य जब जड़ की नहीं, बल्कि सजीवता की उपासना करता है तब वह कवि हो जाता है। हम स्वयं जड़ नहीं, एक जीवित प्राणी हैं; इसीलिये हम वस्तुजगत् को अपनी ही तरह एक व्यक्तित्व देकर देखने के आदी हैं। केवल हाड़-मांस का शरीर ही मनुष्य नहीं है। शरीर तो एक शव है, मनुष्य का एक नश्वर आकार; जैसे देश का नक़शा। उस आकार-प्रकार में मनुष्य की जो आत्मचेतना है, वही उसे जीवित प्राणी बनाती है, वही मातृभूमि को भी भारतमाता के रूप में उपस्थित कर देती है। उसी चेतना के कारण वस्तुजगत् रूप-रंग, रस-गंध और ध्वनिमय है। जड़-सृष्टि (वस्तुजगत्) में चेतना का अधिकाधिक सरस विकास ही कविता है। कवि जब कहता है—

'धूलि की ढेरी में अनजान
छिपे हैं मेरे मधुमय गान।'

तब मानो वह पार्थिव जगत् (वस्तुजगत्) में उसी आत्म-चेतना का, शरीर में आत्मा की भाँति आभास पाता है। इस प्रकार कविता, पार्थिव सूक्तियों (लौकिक क्षणों) में अलौकिक

चेतना की किरणद्युति है, वास्तविकता के बहिर्मुख पर अन्तर्मुख का 'आनन ओप उजास' है।

[२]

कविता का भी अपना एक विज्ञान है। वह केवल कपोल-कल्पना नहीं, बल्कि उसका भी वैज्ञानिक आधार है। हम देखते हैं कि कुम्हार के सामने वास्तविकता (पार्थिवता) की मिट्टी का एक ढेर लगा रहता है, इसे ही वह न जाने कितने आवर्त्तों से एक मंगलघट बना देता है। इस नये रूप में मूल वास्तविकता क्या से क्या हो जाती है। इसी प्रकार वस्तुजगत् को कलाजगत् में परिणत करने के लिये हमारे मन के भीतर भी न जाने कितने आवर्त्त चलते हैं--कुम्हार के घूमते हुए चाक से भी अधिक तीव्र गति से। हम आँखों से जिन प्रत्यक्ष दृश्यों को देखते हैं, उन्हें देखने के लिये, मन को कितनी फेरियाँ देकर आँखों तक पहुँचाना पड़ता है यह वैज्ञानिक जानते हैं। ऐसी ही क्रिया कविता में भी एक मनोवैज्ञानिक 'रोटेशन' है। कवि को अपनी कला की मूर्ति अंकित करने के लिये, मनोविज्ञान से भी आगे जाकर एक और सूक्ष्मतम विज्ञान की शरण लेनी पड़ती है, वह है भावविज्ञान। साहित्य का रस-शास्त्र वही भावविज्ञान है। काव्य को जब हम अलौकिक कहते हैं, तब हमारा अभिप्राय यह रहता है कि उसमें कवि केवल दृश्य (वस्तु) जगत् का दिग्दर्शक न रहकर कुछ आंतरिक क्षणों का रस-सिद्ध साधक भी रहता है।

[३]

वृन्त में कोई फूल गुलाब की भाँति अकेला खिलता है; कोई अपनी डाल में गुच्छ बनाकर। छायावाद के वर्तमान कवि अपने-अपने काव्य में एकान्तभाव से एकाकी खिले हैं, समुदाय को लेकर नहीं। छायावाद और वस्तुवाद अथवा भावजगत् और दृश्यजगत् की कविता विश्व-रंगमंच के अव्यक्त (स्वगत) और व्यक्त (लोकगत) कथन के समान है। इसे हम सबजेक्टिव और आबजेक्टिव भी कह लें। स्वगत में आत्मलीन किंवा अपने में खोये हुए क्षणों का उद्गार रहता है। सभी के जीवन में ऐसे एकाकी क्षण भी आते हैं, अतएव वे एकान्त उद्गार भी कहीं न कहीं, किसी न किसी क्षण, सहृदयों के संवेदन बन जाते हैं। सन् १९५६

कवि जब अपनी चेतना में वस्तुजगत् को ग्रहण करता है तब वह विचारप्रधान हो जाता है, जब कल्पनाजगत् को स्पर्श करता है तब रसप्रधान। एक में वह मनोवैज्ञानिक रहता है, दूसरे में भावुक। प्रबंधकाव्य में दोनों का सहयोग रहता है।

कवि वस्तुजगत् में तभी आता है जब वह समुदाय की मनोधारा में अवगाहन करना चाहता है। समुदाय के संगम पर खड़ा होकर वह स्वगत विचार भी करता है और समूहगत भी। किन्तु उसका स्वगत भी समूह की ओर ही प्रवाहित रहता है, यथा, गुप्तजी के 'द्वापर' में। वस्तुजगत् प्रायः प्रबन्धकाव्यों का क्षेत्र है। प्रबन्धकाव्य के मनोविज्ञान में वह भावुकक्षण भी

सम्मिलित रहता है, जहाँ व्यक्तिसमूह की विचारधारा से नहीं, बल्कि अपने ही रसस्रोत से अनुरंजित रहता है। दूसरे शब्दों में, वह कल्पना से ऊर्मिल रहता है। वस्तुजगत् और कल्पनाजगत् का यह संयोग गुप्तजी के 'साकेत' में है, जहाँ वे समूह के कवि के साथ ही छायावाद के भी कलाधर हैं।

हाँ तो, वर्तमान छायावादी अपने भाववृन्त में आत्म-व्यंजक हैं, गुप्तजी इत्यादि विश्वव्यंजक। दोनों का कविकर्म अलौकिक है—एक लोकोत्तर चित्र प्रदान करता है, दूसरा लोकोत्तर चरित्र। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में शोभन कलाकार हैं। किन्तु छायावाद की कला में भी लोकव्यंजना संभव है, जैसे पंतजी की इधर की रचनाओं में। अंतर सामाजिक दृष्टिकोण के प्रसार का है। द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि गुप्तजी मध्ययुग के उन आदर्शों के कवि हैं जो जनता में एक अभ्यासपूर्ण विश्वास बन गये हैं; किन्तु पंत आदर्शों की जनशोषक रूढ़ियों को तोड़कर उस समाज के कवि हैं, जहाँ नवमानव का त्राण है। छायावाद की नवीन लोक-व्यंजक कला भी भविष्य में कैसा सुविकास पायेगी, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता, तथापि इसका भी विकास तो होगा ही। अभी तो वह अपने रूखे-सूखे प्रयास में है।

[४]

भीतर की अपेक्षा, मनुष्य बाह्य प्रभावों को अधिक शीघ्रता से ग्रहण करता है, जैसे जलवायु और प्रकाश को। यह प्रभाव प्राकृतिक है। किन्तु भीतर से जो ग्रहण किया जाता है वह मार्मिक

होता है, प्राकृतिक जगत् के प्रभावबोध से भी अधिक स्पंदन-शील। छायावाद की कल्पना मिथ्या नहीं, वह तो अनुभूति को, स्पंदन को, अभीष्ट तक पहुँचाने में एक पोएटिक आकलन है--किसी रस को हृदयंगम कराने में जब वस्तुजगत् का कोई माप-दंड सहायक नहीं होता, तभी वहाँ कल्पना अग्रसर होती है।

जो वस्तुजगत् के सुख-दुःख की तीव्रता से भौगोलिक शीतोष्ण की भाँति अभ्यस्त हैं, वे छायावाद में भी उसी तीव्रता द्वारा सुख-दुख से अवगत होना चाहते हैं और निष्फल होने पर उसे मिथ्या कह देते हैं। सचमुच अबतक छायावाद ने वस्तुजगत् को व्यावहारिक जीवन के लिए ही छोड़ दिया। व्यावहारिक जीवन को जिस रस की आवश्यकता है, केवल उसे ही लेकर उसने अपने काव्य को सुस्निग्ध कर लिया। उसने कपास के बजाय रेशम दिया। उसे हृदयंगम करने के लिए वैसी ही स्निग्ध विदग्धता अपेक्षित है। किंतु इसके पूर्व ?--

आः, आज तो मनुष्य अपने निपीड़न में बाहर-भीतर दोनों ही जगह स्पंदनशून्य हो गया है। आज भी जिनकी चेतना शेष है, वे अपनी स्वल्पता में, अपनी सम्पन्नता के स्वास्थ्य में अनेकों के वंचित सुख को सूचित करते हैं।

[५]

देश का एक विचारक-समुदाय वह है जो काव्य को अति-वास्तविकता (उपयोगिता) के ही दृष्टिकोण से देखना चाहता है। उसकी उपयोगिता के जगत् में मनुष्य केवल उदरंभरि हो

न हो जाय, नवीन जागृति के कवियों को इसका ध्यान रखना होगा।

ध्यान रखना होगा कि रोटी का टुकड़ा यदि पेट के लिए उपयोगी है तो जीवन का गान हृदय के लिए। जो कुछ शरीर की पूर्ति करे वही उपयोगिता नहीं है। आज के संक्रान्ति-काल में यदि इसे ही उपयोगिता मानते हैं तो इसके मानी यह हैं कि जीवन का वाद्य-यंत्र कहीं टूट गया है और विना नवीन निर्माण हुए उससे कोई सुरीला स्वर नहीं निकाला जा सकता। किंतु नवीन निर्माण में लक्ष्य हमारा सुरीले स्वर का ही रहेगा, चाहे स्वरलिपियाँ (अब तक की रूढ़ नियम-नीतियाँ) बदल जाँय। शरीर ही जीवन नहीं है, शरीर के आधार से हम जो चरितार्थ करते हैं वही जीवन है। भावकाव्य उसी जीवन को ग्रहण करता है।

उपयोगिता की पूर्ति व्यावहारिक कार्यों में है, उसका क्षेत्र औद्योगिक है। उद्योग और भावयोग दोनों अपने अपने स्थान पर समीचीन हैं, इन दोनों का तुलनात्मक विभाजन कर एक को आवश्यक और दूसरे को व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। आवश्यकता पड़ने पर भावयोग की सीमा में उद्योग, शांतिनिकेतन में श्रीनिकेतन की भाँति, शोभित हो सकता है।

मनुष्य के भीतर जो भावयोग (काव्य) है, वही उद्योग को भी सहज कर देता है। यदि गान न रहे, यदि काव्य न रहे तो मनुष्य का श्रम अथवा जीवन की वास्तविकताएँ कितनी विक-

राल हो जायँ, यह खेत जोतता हुआ किसान और सड़क कूटता हुआ मजदूर भी बतला सकता है।

काव्य यदि उद्योग को सहज कर देता है तो अभाव में भी एक भाव बरसा देता है, वहाँ अकिंचन कृषकवधू कहती है—

टूटि-खाट घर टपकत टटिऔ टूटि।
पिय कै बाँह उसिसवाँ सुख कै लूटि॥

जो झोंपड़ी में रहता है, उसके लिए वही सब कुछ नहीं है। वह न केवल किसान है न केवल मजदूर, न अन्य श्रमजीवी, वह तो कोमल स्पंदनों का प्राणी भी है। झोंपड़ी का किसान भी केवल गाय-बैल की तरह आहार ग्रहण कर ही संतुष्ट नहीं हो जाता, वह कभी-कभी अपनी तान भी छेड़ता है, उसके भी कुछ स्वप्न रहते हैं। वह क्या गाता है, क्या गुनगुनाता है, इसके उदाहरण हमारे साहित्य के 'ग्रामगीत' हैं, जिनमें छायावाद और रहस्यवाद का अभाव नहीं। उन गीतों में तो हमारे चिरमूक गाय-बैल भी अपने हृदय के भाव कहते हैं, स्वयं मूक रहकर उन्होंने किसानों को ही अपनी भाषा दे दी है। मनुष्येतर जीवजगत् ने यही भाषा उन रहस्यवादी तपस्वियों को भी दे दी थी, जिन्होंने अपने आश्रम में खग-मृग इत्यादि को अपना पारिवारिक बना लिया था। जैसे परिवार के लोग उपयोगिता के नाम पर ही एक नहीं हैं, बल्कि 'अनेक' से 'एक' होने के कारण परस्पर पूरक हैं, उसी प्रकार हमारा पालित जीवजगत् भी। किंतु भारत के लिए जो कुछ स्वाभाविक एवं पारिवारिक है, वह पश्चिम के लिए व्यापारिक

है। हाँ, व्यापारिक जगत् ने आज जीवन में जो विषमता उत्पन्न कर दी है यदि हम उसकी ओर से आँख मूँद लेते हैं तो आज का शेष गान भी गाने को न रह जायगा। हम गान की रचना तो करें किंतु आसन्न समस्या की ओर से उदासीन भी न हों।

[६]

संसार में अगणित वास्तविकताएँ हैं, भारत ने सभी वास्तविकताओं को शोभन नहीं माना। जिन वास्तविकताओं से मानव जीवन को सुरस मिला, उसने उन्हीं की चाशनी में अपने स्वभाव को ढाला। वह ढली हुई स्वाभाविकता ही हमारे जीवन की कला है। हम यों क्यों न कहें कि वास्तविकता जब स्वाभाविकता बनती है, तभी वह कला हो जाती है। वास्तविकता और स्वाभाविकता में उतना ही अंतर है, जितना पश्चिम और भारत में अथवा व्यापारी और गृहस्थ में। व्यापारी और गृहस्थ की संकलन-बुद्धि में विज्ञान और काव्य का अंतर है। विदेशी व्यापारिक जगत् ने अपने रूखे सूखे विज्ञान की दूकान में वास्तविकता की इतनी ढेरी लगा दी है कि वह अपने ही बोझ से आप दबा जा रहा है। भारत ने जब अपनी स्वाभाविकता को अपनी कला बनाया तब उसने मानो वास्तविकता को कवित्व का मनोयोग दिया अथवा विज्ञान को सौन्दर्य प्रदान किया। विज्ञान में जो कुछ सत्य और शिव है उसे उसने सौन्दर्य द्वारा मनोरम बना लिया। इस प्रकार उसने वैज्ञानिक वास्तविकता को रूपांतरित कर साहित्यिक स्वाभाविकता को जन्म दिया।

जीवन की इसी स्वाभाविकता को सूचित करने के लिए हमारे यहाँ भित्तिचित्र-कला का जन्म हुआ था। उन चित्रों में एक विशेष भारतीय दृष्टिकोण निहित है, वह यह कि कला हमारे चारों ओर के भावमय जीवन से रूप रंग ग्रहण करती रही है। घर के भीतर रहने वाले अपने शरीर के भीतर (हृदय में) जो कुछ थे, उसीका प्रकाशन इन भित्तिचित्रों से हुआ। गृह को देखकर जिस प्रकार हम गृहपति को जानते थे उसी प्रकार इन भित्तिचित्रों द्वारा देह के भीतर रहने वाले देही को जानते थे; देह के न रहने पर भी देही अपने परिचय के लिए जीवित रहता था। हमारे चारोओर का जीवन जिस संस्कृति या स्वभाव के साँचे में ढला हुआ था, उसी के अनुरूप हमारी चित्रकला का रूप-रंग था। जिस प्रकार उन पौराणिक दीवालों पर विविध वर्ण-व्यंजक तूलिका दौड़ती रही, उसी प्रकार हमारे गृह जीवन में भी एक कला घूमती रहती थी। भारत का जीवन वास्तविकता की भित्ति पर एक काव्य (स्व-भाव) रहा है, मानो पृथ्वी पर हरियाली। उसकी 'स्वाभाविकता' में वास्तविकता, कविता के लिए आधार थी, आधेय या आराध्य नहीं। इस प्रकार भारत अपने जीवन में एक फ्रेस्को आर्ट का आर्टिस्ट रहा है।

व्यक्ति के मूर्त्त जीवन में एक अमूर्त्त कवित्व भी अगोचर है। और सच तो यह है कि वह अमूर्त्त कवित्त्व ही हमारे मूर्त्त जीवन का प्राण है, विकास है; उसीसे हम वास्तविकताओं की मिट्टी में भी एक जीवित प्रतिमा हैं। अन्यथा, जीवन हाड़-माँस

की ठठरियों के दुस्सह भार के सिवा क्या रह जाय? कला के बिना वास्तविकता मृत है, जीवित वास्तविकता ही मानवीय स्वाभाविकता है। काव्य, संगीत, चित्र तथा अन्यान्य कलाएँ हमारे जीवन्त-पोषक मनोरागों के साहित्यिक स्वरूप हैं, जिन्हें एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी, पूर्वजों की वसीयत के रूप में, पाती चली जाती है। इसीलिए कला की उपेक्षा कर, साहित्य को, जीवन को, एक मात्र शुष्क वास्तविकता पर ही केंद्रीभूत कर देना भावयोग का लक्ष्य नहीं हो सकता, उद्योग का हो सकता है। उद्योग ने आवश्यकता से अधिक वास्तविकता पर ध्यान दिया। (लौह-यंत्रों की भरमार इसका उदाहरण है।) अपने व्यावहारिक जीवन में जब हम कला को मूर्त्त करते हैं तब हमारा उद्योग भी केवल उद्योग न रह कर, भावयोग की एक कला हो जाता है, यन्त्रों की कला नहीं, बल्कि मानवीय श्रम की कला, जीवन की तन्मयता की कला, स्वाभाविक कला।

हाँ, आज का हमारा कला-प्रेम बहुत कुछ अस्वाभाविक हो गया है। केवल इसीलिए नहीं कि हम वास्तविकता पर आवश्यकता से अधिक ध्यान देने लगे हैं, बल्कि इसलिए भी कि कला हमारे लिए रूढ़ हो गई है। युग की हलचलों में जहाँ कला का बहिष्करण तथा वास्तविकता का नवीकरण (समाजवाद) मध्ययुग तथा आधुनिक युग की बिभीषिकाओं-द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों की खिन्नता को सूचित करता है, वहाँ नव चैतन्य-युग के प्रश्नों से आँख मूँद कर कला के संरक्षण का ढोंग भी एक फैशन-

सा लगता है। आज आर्टगैलरियों की कला मुट्ठीभर सम्पन्न व्यक्तियों के लिए एक ललित कौतुक जुटाती है। प्रदर्शनकारी उसे प्रदर्शित करते हैं, देखनेवाले देखते हैं और कला विद्युद्दीपों में ज्वलन्त हँसी हँस कर रह जाती है। वह 'दर्शन' नहीं, प्रदर्शन की वस्तु हो गई है। आज हमें प्रदर्शन को तो छोड़ना है, साथ ही नवीन वस्तुजगत् की वास्तविकता (अभाव-जगत्) को चिर-कुरूप भी नहीं हो जाने देना है।

कला-द्वारा इस वस्तुजगत् में भी भाव-जगत् उसी प्रकार शोभित होगा जिस प्रकार ईंट-मिट्टी के मकान के सामने स्वास्थ्य-कर उद्यान। भाव-जगत्, वस्तुजगत् का स्वास्थ्य है। वस्तुजगत् यदि शरीर है तो भाव-जगत् उसका जीवन।

[७]

मध्ययुग से लेकर आज के अवशेष-मध्यकाल तक हम ऐश्वर्य और सौन्दर्य की रंगीनी की उपासना करते आए हैं। जीवन की यह फैन्सी दिशा राजा-रईसों द्वारा परिचालित रही है। जिस प्रकार उनके शासन हमारे राजनीतिक नियम थे, उसी प्रकार उनकी रुचियाँ और प्रवृत्तियाँ भी हमारी पसन्द बन गई थीं। संसार दोज़ख़ बना हुआ था और उसी के मूर्छित स्वप्न-लोक में वैभव के स्तम्भों पर एक जन्नत बसी हुई थी। राजा रईसों ने महलों में बैठ कर स्वर्ग को प्रत्यक्ष पाया, साधारण लोगों ने झोपड़ों में कलप कर महलों का स्वप्न देखा। रईसी जीवन के इसी मॉडल में हमारा अबतक का जीवन ढँढ होता आया, फलतः कला ने भी

वही रंगत ली। इसके विरुद्ध हमारा असन्तोष तब जगा जब हमने होली के कच्चे रंग की तरह इन रंगीन स्वप्नों को फू होते देखा।

आज की विवर्ण परिस्थितियों में फैशन ने कला को बला बना रखा है—यहाँ आह भी ग्रामोफ़ोन में भरी जाती है। यह हृदय-हीन मनोरञ्जकता, यह संवेदन-हीन कला-प्रियता, मध्ययुग के स्व-भाव विशेष की एक नुमाइश दिखा कर विस्मृति के अन्धकार में विलीन हो जायगी।

आज कला के सामने वस्तुजगत् और भावजगत् ही नहीं हैं, बल्कि दोनों के बीच एक गहन-गर्त्त, अभाव जगत् के रूप में प्रकट हो गया है। वस्तुजगत् का जो दैन्य, भाव-जगत् के इन्द्रजाल को अपनी रंगीन छत बना कर आत्मविस्मृत था, आज वही इस इन्द्रधनुषी आकाश को लुप्त होते देख कर अपने अभाव-गह्वर में चीत्कार कर उठा है। देख रहा है कि कितनी गहरी ख़न्दक़ में वह जीवन-शून्य होकर पड़ा हुआ था। कला को, साहित्य को, समाज को, राजनीति को, आज सबको, इस अभावजगत् में भाव-जगत् लाने के लिए सहयोग करना है। वस्तुजगत् की मांस-लता में ही भावजगत् की कला-प्रतिमा रूपवान् (साकार) होगी। निरी वास्तविकता को प्रमुख बना देने के लिए नहीं, बल्कि भाव-जगत् को पुनर्जन्म देने के लिए, जीवन के विषम संगीत को सम पर लाने के लिए, यदि हम अभाव-जगत् को नव जीवन दे सकें, वस्तुजगत् को परिपूर्ण मनुष्य-समाज का स्वर दे सकें तो हमारा

भावजगत् (कला का मनोलोक) सचमुच ही स्वर्गीय हो जाय।

आज के अभावजगत् में भी हमारे कल्पक कलाकार चिर-अपेक्षित रहेंगे, किंतु उनसे निवेदन यह होगा कि सदियों की जो चेतना कुण्ठित होकर आत्मलिप्सु हो गई है, उसमें आत्मनिरीक्षण का संस्कार उत्पन्न करें। आज हमारे कलाजगत् को वर्ड्सवर्थ-जैसी आत्माएँ चाहिए।

Rajshekhar G. Hirema
XI
α

कलाजगत् और वस्तुजगत्

लिखने की एक कला होती है। जिसे इस कला का अभ्यास हो गया है उसका लिखा हुआ सभी कुछ मनोरम होता है--साहित्य के सम्मेलन में स्थान पाता है। प्रस्तुत रचना यद्यपि है तो आलोचना, विचार से रँगा हुआ सामयिक लेख पर भाषा और शैली के चमत्कार ने उसमें साहित्य के प्राण भर दिए हैं। वस्तु और कला का संवन्ध स्थिर करने में लेखक ने ऐसी सरस भाषा और लोकप्रिय व्यास शैली का प्रयोग किया है कि प्रत्येक साहित्यिक पाठक उसे पढ़ कर सुखी होता है। लेख का प्रारंभ ही ऐसा साहित्यिक और नाटकीय है कि पाठक का मन तुरंत उस विषय की ओर खिंच जाता है। फिर धीरे धीरे एक एक बात सामने आती है। लेखक ने प्रत्येक बात को नाप तौल कर प्रकरणों की संख्या सी गिना दी है।

इस निबंध का दूसरा गुण यह है कि उसके सुलझे विचार लेखक के मननशील अनुभव का परिचय देते हैं। ये विचार सूखे और तर्कप्रसूत नहीं, बल्कि ऐसे हरे और भावप्रसूत हैं कि उन्हें पढ़ने से आलोचना का नहीं, रचना का आभास मिलता है।

किन्तु लेखक ने अपनी भाषा को 'अन्तःसलिला सरस्वती' बनाने के फेर में कहीं कहीं भाव-प्रवाह से जो हाथ धो डाला है वह उसकी कलाजगत् की अतिभक्ति का सूचक है। लेखक के लिए जैसे अभ्यास की आवश्यकता होती है वैसे ही 'श्रुत' की भी।

दो बातें

मैंने 'बोलचाल' नामकी एक पुस्तक लिखी है। बाल से लेकर तलवे तक जितने अंग हैं, उन सब अंगों के कुल मुहाविरों पर, इसमें पैंतीस सौ से कुछ अधिक चौपदे हैं। अंगों के मुहाविरों के अलावा और भी बहुत से मुहाविरे काम पड़ने पर इसमें आ गये हैं। चौपदे बिल्कुल बोलचाल के रंग में ढले हैं, नमक मिर्च लगने पर बात चटपटी हो जाती है, गढ़ी और सीधी सादी बातें भी एक सी नहीं होतीं, चौपदे और बोलचाल की भाषा में कुछ भेद है तो इतना ही।

कोई दिन था कि हम कुछ थे, कुछ नहीं, बहुत कुछ थे। देवता हमारा मुँह जोहते थे, स्वर्ग में हमारी धूम थी, और धरती हमारे उधारने से ही उधरती थी। हम आसमान में उड़ते, समुद्र को छानते, जंगलों को खंगालते, और पहाड़ों को हिला देते थे। दुनिया

में हमारे नामलेवा थे। देस देस में हमारी धाक थी, दिशायें हमारी जोत से जगमगाती थीं और आसमान के तारे हमें आँख फाड़ फाड़ कर देखते थे। हम अन्धकार में उजाला करते थे, बन्द आँखों को खोलते थे, सोतों को जगाते थे और उकठे काठ को भी हरा बना देते थे। सूरमापन हमपर निछावर होता था, दिलेरी हमारे बाँट में पड़ी थी, बहादुरी हमपर दम भरती थी, और आन बान हमारा बाना था। हम बेजान में जान डालते थे, सूखी नसों में लहू भरते थे, बिगड़ों को बनाते थे, गिरों को उठाते थे, वे जड़ों की जड़ जमाते थे, और भूलों को राह पर लगाते थे। बड़े बड़े अठकपाली हमारे सामने अपना अठकपालीपन भूल जाते थे, हमारा तेवर बदलते ही बेतरह आँख बदलनेवाले राजा महाराजाओं का रंग बदल जाता था, और दुनियाँ में हवा बाँधने वालों के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगती थीं। आज ये बातें मुँह पर नहीं लाई जा सकतीं, अब हमारा रंग इतना बिगड़ गया है कि हम पहचाने भी नहीं जा सकते। हमी लोगों में ऐसे लोग हैं जो यह जानते ही नहीं कि हम क्या और कौन थे और अब क्या हो गये। इसमें न किसी का जादू काम कर रहा है और न किसी का टोना, न दैव हमारे पीछे पड़ा है, न बुरा भाग, जो कुछ हम भोग रहे हैं वे हमारी करतूतों के फल हैं, और आज भी वे हमें रसातल ले जा रही हैं।

आज दिन हमारे सिरधरों का ही सिर नहीं फिर गया है, आगे चलनेवाले भी आग लगा रहे हैं, भगवा पहनने वाले भी

भाँग खाये बैठे हैं। जिनको वीर होने का दावा है, वे भाइयों की मूछें उखाड़ कर मूँछ मरोड़ रहे हैं, दूसरों का घर मूस कर अपना घर भर रहे हैं, औरों के लहू से हाथ रंग कर अपना हाथ गरम कर रहे हैं, सगों का पेट काट कर अपना पेट पाल रहे हैं, और बेबसों के घर को जलाकर अपने घर में घी के दीये बाल रहे हैं। पूँजीवालों का पेट दिन दिन मोटा हो रहा है पर किसी सटे पेटवाले को देखते ही उनकी आँख पर पट्टी बँध जाती है। संडे मुसंडे डंडे के बल माल भले ही चाब लें, पर भूख से जिनकी आँखें नाच रही हैं उनको वे कानी कौड़ी भी देने के रवादार नहीं। जो हमारा मुँह देखकर जीते हैं, हम उन्हीं को निगल रहे हैं, और जो हमारे भरोसे पाँव फैलाकर सोते हैं हम उन्हीं को आँख बन्द करके लूट रहे हैं। हमी में डूब कर पानी पीने वाले हैं, आँख में उँगली करने वाले हैं, खड़े बाल निगलने वाले हैं, आग लगा कर पानी को दौड़ने वाले हैं, रंगे सियार हैं, भीगी बिल्ली हैं, और काठ के उल्लू हैं।

आज हमारे घरों में फूट पाँव तोड़ कर बैठी है, बैर अकड़ा हुआ खड़ा है, अनबन की बन आई है, और रगड़े-झगड़े गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। हम से लम्बी-लम्बी बातें सुन लो, लम्बी डगें भरने की कहानियाँ कहलवा लो, लेकिन लम्बी तान कर सोना ही हमें पसन्द है। आँख होते हमें सूझता नहीं, कान होते हम सुनते नहीं, हाथ होते हम बेहाथ हैं, और पाँव होते बेपाँव। समझ चल बसी, विचारों का दिवाला निकल गया, आस पर ओस पड़ गई,

कलाजगत् और वस्तुजगत्

लिखने की एक कला होती है। जिसे इस कला का अभ्यास हो गया है उसका लिखा हुआ सभी कुछ मनोरम होता है--साहित्य के सम्मेलन में स्थान पाता है। प्रस्तुत रचना यद्यपि है तो आलोचना, विचार से रँगा हुआ सामयिक लेख पर भाषा और शैली के चमत्कार ने उसमें साहित्य के प्राण भर दिए हैं। वस्तु और कला का संवन्ध स्थिर करने में लेखक ने ऐसी सरस भाषा और लोकप्रिय व्यास शैली का प्रयोग किया है कि प्रत्येक साहित्यिक पाठक उसे पढ़ कर सुखी होता है। लेख का प्रारंभ ही ऐसा साहित्यिक और नाटकीय है कि पाठक का मन तुरंत उस विषय की ओर खिंच जाता है। फिर धीरे धीरे एक एक बात सामने आती है। लेखक ने प्रत्येक बात को नाप तौल कर प्रकरणों की संख्या सी गिना दी है।

इस निवंध का दूसरा गुण यह है कि उसके सुलझे विचार लेखक के मननशील अनुभव का परिचय देते हैं। ये विचार सूखे और तर्कप्रसूत नहीं, बल्कि ऐसे हरे और भावप्रसूत हैं कि उन्हें पढ़ने से आलोचना का नहीं, रचना का आभास मिलता है।

किन्तु लेखक ने अपनी भाषा को 'अन्तःसलिला सरस्वती' बनाने के फेर में कहीं कहीं भाव-प्रवाह से जो हाथ धो डाला है वह उसकी कलाजगत् की अतिभक्ति का सूचक है। लेखक के लिए जैसे अभ्यास की आवश्यकता होती है वैसे ही 'श्रुत' की भी।

दो बातें

मैंने 'बोलचाल' नामकी एक पुस्तक लिखी है। बाल से लेकर तलवे तक जितने अंग हैं, उन सब अंगों के कुल मुहाविरों पर, इसमें पैंतीस सौ से कुछ अधिक चौपदे हैं। अंगों के मुहाविरों के अलावा और भी बहुत से मुहाविरे काम पड़ने पर इसमें आ गये हैं। चौपदे बिल्कुल बोलचाल के रंग में ढले हैं, नमक मिर्च लगने पर बात चटपटी हो जाती है, गढ़ी और सीधी सादी बातें भी एक सी नहीं होतीं, चौपदे और बोलचाल की भाषा में कुछ भेद है तो इतना ही।

कोई दिन था कि हम कुछ थे, कुछ नहीं, बहुत कुछ थे। देवता हमारा मुँह जोहते थे, स्वर्ग में हमारी धूम थी, और धरती हमारे उधारने से ही उधरती थी। हम आसमान में उड़ते, समुद्र को छानते, जंगलों को खंगालते, और पहाड़ों को हिला देते थे। दुनिया

में हमारे नामलेवा थे। देस देस में हमारी धाक थी, दिशायें हमारी जोत से जगमगाती थीं और आसमान के तारे हमें आँख फाड़ फाड़ कर देखते थे। हम अन्धकार में उजाला करते थे, बन्द आँखों को खोलते थे, सोतों को जगाते थे और उकठे काठ को भी हरा बना देते थे। सूरमापन हमपर निछावर होता था, दिलेरी हमारे बाँट में पड़ी थी, बहादुरी हमपर दम भरती थी, और आन बान हमारा बाना था। हम बेजान में जान डालते थे, सूखी नसों में लहू भरते थे, बिगड़ों को बनाते थे, गिरों को उठाते थे, वे जड़ों की जड़ जमाते थे, और भूलों को राह पर लगाते थे। बड़े बड़े अठकपाली हमारे सामने अपना अठकपालीपन भूल जाते थे, हमारा तेवर बदलते ही बेतरह आँख बदलनेवाले राजा महाराजाओं का रंग बदल जाता था, और दुनियाँ में हवा बाँधने वालों के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगती थीं। आज ये बातें मुँह पर नहीं लाई जा सकतीं, अब हमारा रंग इतना बिगड़ गया है कि हम पहचाने भी नहीं जा सकते। हमी लोगों में ऐसे लोग हैं जो यह जानते ही नहीं कि हम क्या और कौन थे और अब क्या हो गये। इसमें न किसी का जादू काम कर रहा है और न किसी का टोना, न दैव हमारे पीछे पड़ा है, न बुरा भाग, जो कुछ हम भोग रहे हैं वे हमारी करतूतों के फल हैं, और आज भी वे हमें रसातल ले जा रही हैं।

आज दिन हमारे सिरधरों का ही सिर नहीं फिर गया है, आगे चलनेवाले भी आग लगा रहे हैं, भगवा पहनने वाले भी

भाँग खाये बैठे हैं। जिनको वीर होने का दावा है, वे भाइयों की मूछें उखाड़ कर मूँछ मरोड़ रहे हैं, दूसरों का घर मूस कर अपना घर भर रहे हैं, औरों के लहू से हाथ रंग कर अपना हाथ गरम कर रहे हैं, सगों का पेट काट कर अपना पेट पाल रहे हैं, और वेबसों के घर को जलाकर अपने घर में घी के दीये बाल रहे हैं। पूँजीवालों का पेट दिन दिन मोटा हो रहा है पर किसी सटे पेटवाले को देखते ही उनकी आँख पर पट्टी बँध जाती है। संडे मुसंडे डंडे के बल माल भले ही चाव लें, पर भूख से जिनकी आँखें नाच रही हैं उनको वे कानी कौड़ी भी देने के रवादार नहीं। जो हमारा मुँह देखकर जीते हैं, हम उन्हीं को निगल रहे हैं, और जो हमारे भरोसे पाँव फैलाकर सोते हैं हम उन्हीं को आँख बन्द करके लूट रहे हैं। हमी में डूब कर पानी पीने वाले हैं, आँख में उँगली करने वाले हैं, खड़े बाल निगलने वाले हैं, आग लगा कर पानी को दौड़ने वाले हैं, रंगे सियार हैं, भीगी बिल्ली हैं, और काठ के उल्लू हैं।

आज हमारे घरों में फूट पाँव तोड़ कर बैठी है, वैर अकड़ा हुआ खड़ा है, अनबन की बन आई है, और रगड़े-झगड़े गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। हम से लम्बी-लम्बी बातें सुन लो, लम्बी डगें भरने की कहानियाँ कहलवा लो, लेकिन लम्बी तान कर सोना ही हमें पसन्द है। आँख होते हमें सूझता नहीं, कान होते हम सुनते नहीं, हाथ होते हम बेहाथ हैं, और पाँव होते बेपाँव। समझ चल बसी, विचारों का दिवाला निकल गया, आस पर ओस पड़ गई,

सूझ को पाला मार गया, मगर कान पर जूँ तक नहीं रेंगती। बेटियाँ बिक रही हैं, माँ बहने लुट रही हैं, जोरू पिस रही है, मगर हमें दाँत पीसना भी नहीं आता। दूसरे धूल में फूल उगाते हैं, हमें फूल में भी धूल ही हाथ आती है। लोग काँटों में फूल चुनते हैं, हम काँटों में उलझ-उलझ मरते हैं। आबरू उतर गई, पतपानी चला गया, बड़ाई धूल में मिल गई, मगर हम धूल फाँकने ही में मस्त हैं।

हम आसमान के तारे तोड़ना चाहते हैं, मगर काम आँखों के तारे भी नहीं देते। हम पर लगा कर उड़ना चाहते हैं, मगर उठाने से पाँव भी नहीं उठते। हम पालसी पर पालिश करके उसके रंग को छिपाना चाहते हैं, पर हमारी यह पालसी हमारे बने हुए रंग को भी बदरंग कर देती है। हम राग अलापते हैं मेल जोल का, पर न जाने कहाँ का खटराग पेट में भरा पड़ा है। हम जाति जाति को मिलाते चलते हैं, मगर ताब अछूतों से आँख मिलाने की भी नहीं। हम जाति-हित की तानें सुनाने के लिये सामने आते हैं, मगर ताने दे दे कलेजा छलनी बना देते हैं। हम कुल हिन्दू जाति को एक रंग में रँगना चाहते हैं मगर जाति जाति के अपनी अपनी डफली और अपने अपने राग ने रही सही एकता को भी धता बता दिया है। हम चाहते हैं देश को उठाना, पर आप मुँह के बल गिर पड़ते हैं। हमें देश की दशा सुधारने की धुन है, पर आप सुधारने पर भी नहीं सुधरते। हम चाहते हैं जाति की कसर निकालना, मगर हमारे जी की कसर

निकाले भी नहीं निकलती। हम जाति को ऊँचे उठाना चाहते हैं, पर हमारी आँख ऊँची होती ही नहीं। हम चाहते हैं जाति को जिलाना, मगर हमें मर मिटना आता ही नहीं।

हिन्दू जाति अपनी भूलभुलैया में बेतरह फँसी है, इससे हमारा जी दुखी है, हमारा कलेजा चोट खा रहा है, दिल में फफोले पड़ रहे हैं। हमने 'बोलचाल' में दिल के फफोले फोड़े हैं, वे उसमें चौपदे की सूरत में फूटे हैं। उसमें वे बिखरे हुए हैं, इस पुस्तक में एक जगह जमा किये गये हैं; उसके छपने में अभी देर है, इधर देर की ताब नहीं। हमें जल्दी इसलिये है कि जितना ही जल्द हिन्दुओं की आँखें खुलें, उतना ही अच्छा। उनका जी दुखाना, उन्हें कोसना, उन्हें बनाना, उन्हें खिझाना, उनकी उमंगों को मिटियामेट करना पसन्द नहीं, अपने हाथ से अपने पाँव में कुल्हाड़ी कौन मारेगा; अपनी उँगलियों से अपनी आँखों को कौन कुचाले-गा। मगर अपनी बुराइयों, कमजोरियों, भूलचूकों, ऐबों, लापर-वाइयों और नासमझियों पर आँख डालनी ही पड़ेगी; बिना इसके निबाह नहीं। दवा कड़वी होती है, मगर उसको पीते हैं, फेंक नहीं देते। हमारे चौपदे कुछ कड़वे होवें, मगर वे हितजल के गडुवे हैं। अगर उन में से किसी एक के पढ़ने से भी जाति के कान खड़े हुए और उसकी आँखें खुलीं, हमारे माई के लाल सच्चे लाल बने, तो मेरे मुँह की लाली रह जावेगी और मैं समझूँगा कि मैंने बामन होकर भी चाँद को छू लिया।

ध्रुवस्वामिनी

द्वितीय अंक

(शकदुर्ग के भीतर सुनहले कामवाले खंभों पर एक दालान, बीच में छोटी-छोटी सीढ़ियां, उसी के सामने काश्मीरी कुराई का सुन्दर लकड़ी का सिंहासन। बीच के दो खम्भे खुले हुए हैं, उनके दोनों ओर मोटे-मोटे चित्र बने हुए तिब्बती ढंग के रेशमी पर्दे पड़े हैं। सामने बीच में थोड़ा-सा आँगन की तरह, जिसके दोनों ओर क्यारियां, उनमें दो-चार पौधे और लताएँ फूलों से लदी दिखलाई पड़ती हैं।)

कोमा—(धीरे-धीरे पौधों को देखती हुई प्रवेश करके) इन्हें सींचना पड़ता है, नहीं तो इनकी रुखाई और मलिनता सौंदर्य्य पर आवरण डाल देती है। (देखकर) आज तो इनके पत्ते धुले हुए भी नहीं हैं। इनमें फूल जैसे मुकुलित होकर ही रह गये हैं। खिलखिलाकर हँसने का मानों इन्हें बल नहीं।

(सोचकर) ठीक इधर कई दिनों से महाराज अपने सन्धि-विग्रह में लगे हुए हैं और मैं भी यहाँ नहीं आई, तो फिर इनकी चिन्ता कौन करता ? उस दिन मैंने यहाँ दो मञ्च और भी रख देने के लिए कह दिया था; पर सुनता कौन है ? सब जैसे रक्त के प्यासे ! प्राण लेने और देने में पागल ! वसन्त का उदास और अलस पवन आता है, चला जाता है। कोई उस स्पर्श से परिचित नहीं। ऐसा तो वास्तविक जीवन नहीं है ? (सीढ़ी पर बैठ कर सोचने लगती है) प्रणय ! प्रेम ! जब सामने से आते हुए तीव्र आलोक की तरह आँखों में प्रकाश-पुञ्ज उड़ेल देता है, तब सामने की सब वस्तुएँ और भी अस्पष्ट हो जाती हैं। अपनी ओर से कोई भी प्रकाश की किरण नहीं। तब वही, केवल वही ! हो पागलपन, भूल हो, दुःख मिले। प्रेम करने की एक ऋतु होती है। उसमें चूकना, उसमें सोच समझ कर चलना दोनों बराबर हैं। सुना है दोनों ही संसार के चतुरों की दृष्टि में मूर्ख बनते हैं तब कोमा ! तू किसे अच्छा समझती है ?

(गाती है)

यौवन तेरी चंचल छाया।

इसमें बैठ घूँट भर पी लूँ जो रस तू है लाया।
मेरे प्याले में मद बनकर कब तू छली समाया।
जीवन वंशी के छिद्रों में स्वर बन कर लहराया।
पलभर रुकने वाले! कह तू पथिक! कहाँ से आया ?

(चुप होकर आँखें बन्द किये तन्मय होकर बैठी रहजाती है)

(शकराज का प्रवेश। हाथ में एक लम्बी तलवार लिये हुए चिन्तित भाव से आकर इस तरह खड़ा होता है जिससे कोमा को नहीं देखता।)

शकराज—खिंगल अभी नहीं आया, क्या वह बन्दी तो नहीं कर लिया गया ? नहीं, यदि वे अन्धे नहीं हैं तो उन्हें अपने सिर पर खड़ी विपत्ति दिखाई देनी चाहिए। (सोचकर) विपत्ति ! केवल उन्हीं पर तो नहीं है, हमलोगों को भी रक्त की नदी बहानी पड़ेगी। चित्त बड़ा चंचल हो रहा है, तो बैठ जाऊँ ? इस एकान्त में अपने बिखरे हुए मन को सँभाल लूँ ? (इधर-उधर देखता है, कोमा आहट पाकर उठ खड़ी होती है। उसे देखकर) अरे, कोमा ! कोमा !

कोमा—हाँ महाराज ! क्या आज्ञा है ?

शकराज—(उसे स्निग्धभाव से देखकर) आज्ञा नहीं, कोमा ! तुम्हें आज्ञा न दूँगा। तुम रूठी हुई सी क्यों बोल रही हो ?

कोमा—रूठने का सुहाग मुझे मिला कब ?

शकराज—आज-कल मैं जैसी भीषण परिस्थिति में हूँ, उसमें अन्यमनस्क होना स्वाभाविक है, तुम्हें यह न भूल जाना चाहिए।

कोमा—तो क्या आपकी दुश्चिंताओं में मेरा भाग नहीं। मुझे उससे अलग रखने से क्या वह परिस्थिति कुछ सरल हो रही है।

शकराज—तुम्हारे हृदय को उन दुर्भावनाओं में डाल कर मैं व्यथित नहीं करना चाहता। मेरे सामने जीवन-मरण का प्रश्न है।

कोमा--प्रश्न स्वयं किसी के सामने नहीं आते। मैं तो समझती हूँ कि मनुष्य उन्हें जीवन के लिये उपयोगी समझता है। मकड़ी की तरह लटकने के लिये अपने-आप ही जाला बुनता है। जीवन का प्राथमिक प्रसन्न उल्लास मनुष्य के भविष्य में मंगल और सौभाग्य को आमंत्रित करता है। उससे उदासीन न होना चाहिए महाराज!

शकराज--सौभाग्य और दुर्भाग्य मनुष्य की दुर्बलता के भय हैं। मैं तो पुरुषार्थ को ही सबका नियामक समझता हूँ। पुरुषार्थ ही सौभाग्य को खींच लाता है। हाँ, मैं इस युद्ध के लिये उत्सुक नहीं था कोमा, मैं ही दिग्विजय के लिये नहीं निकला था

कोमा--संसार के नियम के अनुसार आप अपने से महान् के सम्मुख थोड़ा सा विनीत बनकर इस उपद्रव से अलग रह सकते थे।

शकराज--यही तो मुझसे नहीं हो सकता।

कोमा—अभावमयी लघुता में मनुष्य अपने को महत्वपूर्ण दिखाने का अभिनय न करे तो क्या अच्छा नहीं है?

शकराज—(चिढ़कर) यह शिक्षा अभी रहने दो कोमा, मैं किसी से बड़ा नहीं हूँ तो छोटा भी नहीं बनना चाहता। तुम अभी तक पाषाणी प्रतिमा की तरह वहीं खड़ी हो, मेरे पास आओ।

कोमा—पाषाणी! हाँ, राजा! पाषाण के भीतर भी कितने मधुर स्रोत बहते रहते हैं; उनमें मदिरा नहीं, शीतल जल की धारा बहती है। प्यासों की तृप्ति—

शकराज—किन्तु मुझे तो इस समय स्फूर्ति के लिये एक प्याला मदिरा ही चाहिए।

कोमा—(स्थिर दृष्टि से देखती हुई) मैं ले आती हूँ। आप बैठिए। (कोमा एक छोटा सा मंच रख देती है और चली जाती है। शकराज मंच पर बैठ जाता है। खिंगल का प्रवेश)

शकराज—कहो जी, क्या समाचार है ?

खिंगल—महाराज ! मैंने उन्हें अच्छी तरह समझा दिया कि हमलोगों का अवरोध दृढ़ है। उन्हें दो में से एक करना ही होगा। या तो अपने प्राण दें अन्यथा मेरे सन्धि-नियमों को स्वीकार करें।

शकराज—(उत्सुकता से) तो वे समझ गये ?

खिंगल—दूसरा उपाय ही क्या था ? यह छोकड़ा रामगुप्त, समुद्रगुप्त की तरह दिग्विजय करने निकला था। उसे इन बीहड़ पहाड़ो घाटियों का परिचय नहीं मिला था। किन्तु सब बातों को समझ कर वह आपके नियमों को मानने के लिये बाध्य हुआ।

शकराज—(प्रसन्नता से उठकर उसके दोनों हाथ पकड़ लेता है) ऐं, तुम सच कहते हो ? मुझे तो आशा नहीं। क्या मेरा दूसरा प्रस्ताव भी रामगुप्त ने मान लिया ?

(स्वर्ण के कलश में मदिरा लेकर कोमा चुपके से आकर पीछे खड़ी हो जाती है)

खिंगल—हाँ, महाराज ! उसने माँगे हुए सब उपहारों को देना स्वीकार किया और ध्रुवस्वामिनी भी आपकी सेवा में शीघ्र

ही उपस्थित होती है। (कोमा चौंक उठती है और शकराज प्रसन्नता से खिंगल के हाथों को झकझोरने लगता है।)

शकराज—खिंगल! तुमने कितना सुन्दर समाचार सुनाया! आज देवपुत्रों की स्वर्गीय आत्मायें प्रसन्न होंगी। उनकी पराजयों का यह प्रतिशोध है। हम लोग गुप्तों की दृष्टि में जंगली, बर्बर और असभ्य हैं, तो फिर मेरी प्रतिहिंसा भी बर्बरता के ही अनुकूल होगी। हाँ, मैंने अपने शूर-सामन्तों के लिये भी स्त्रियाँ माँगी थीं।

खिंगल—वे भी साथ ही आवेंगी।

शकराज—तो फिर सोने की झाँझवाले नाच का प्रबन्ध करो। इस विजय का उत्सव मनाया जाय। और मेरे सामन्तों को भी शीघ्र बुला लाओ।

(खिंगल का प्रस्थान। शकराज अपनी प्रसन्नता में उद्विग्न-सा इधर-उधर टहलने लगता है। और कोमा अपना कलश लिये हुये धीरे-धीरे सिंहासन के पास जाकर खड़ी हो जाती है। चार सामन्तों का प्रवेश। दूसरी ओर से नर्तकियों का दल आता है। शकराज उनकी ओर ही देखता हुआ सिंहासन पर बैठ जाता है। सामन्त लोग उसके पैरों के नीचे सीढ़ियों पर बैठते हैं। नर्तकियाँ नाचती हुई गाती हैं।)

गाना

अस्ताचल पर युवती सन्ध्या की
खुली अलक घुँघराली है।

लो, मानिक मदिरा की धारा
अब बहने लगी निराली है।
भर ली पहाड़ियों ने अपनी
झीलों की रत्नमयी प्याली।
झुक चली चूमने वल्लरियों
से लिपटी तरु की डाली है।
यह लगा पिघलने मानिनियों का
हृदय प्रणय मृदु रोष भरा।
वे हँसती हुई दुलारभरी
मधु लहर उठाने वाली हैं।
भरने निकले हैं प्यार भरे,
जोड़े कुंजो की झुरमुट से।
इस मधुर अँधेरी में अब तक,
क्या इनकी प्याली खाली है?
भर उठीं प्यालियाँ, सुमनों ने,
सौरभ मकरन्द मिलाया है।
कामिनियों ने अनुरागभरे,
अधरों से उन्हें लगाया है।
वसुधा मदमाती हुई उधर
आकाश लगा देखो झुकने
सब झूम रहे अपने सुख में
तूने क्यों बाधा डाली है?

एक सामन्त—श्रीमान! इतनी बड़ी विजय के अवसर पर इस सूखे उत्सव से संतोष नहीं होता, जब कि कलश सामने भरा हुआ रखा है।

शकराज--ठीक है, इन लोगों को केवल कहकर ही नहीं; प्यालियाँ भरकर भी देनी चाहिएँ।

(सब पीते हैं और नर्तकियाँ एक एक को सानुरोध पान कराती हैं।)

दूसरा सामन्त--श्रीमान् की आज्ञा मानने के अतिरिक्त दूसरी गति नहीं। उन्होंने समझ से काम लिया; नहीं तो हम लोगों को इस रात की कालिमा में रक्त की लाली मिलानी पड़ती।

तृतीय सामन्त—क्यों, बक-बक करते हो? चुपचाप इस बिना परिश्रम की विजय का आनन्द लो। लड़ना पड़ता तो सारी हेकड़ी भूल जाती।

दूसरा सामन्त—(क्रोध से लड़खड़ाता हुआ उठता है) हमसे ?

तीसरा—हाँ जी तुमसे !

दूसरा सामन्त--तो फिर आओ तुम्हीं से निपट लें। (सब परस्पर लड़ने की चेष्टा कर रहे हैं। शकराज खिंगल को संकेत करता है। वह उन लोगों को बाहर लिवा जाता है। तूर्यनाद)

शकराज—रात्रि के आगमन की सूचना हो गई। दुर्ग का द्वार अब शीघ्र ही बन्द होगा। अब तो हृदय अधीर हो रहा है। खिंगल !

(खिंगल का पुनः प्रवेश)

खिंगल—दुर्ग-तोरण में शिविकायें आ गई हैं।

शकराज—(गर्व से) तब विलम्ब क्यों ? उन्हें अभी ले आओ।

खिंगल—(सविनय) किन्तु रानी की एक प्रार्थना है।

शकराज—क्या ?

खिंगल—वह पहले केवल श्रीमान् से ही सीधे भेंट करना चाहती हैं। उनकी मर्यादा........

शकराज—(ठठाकर हँसते हुए) क्या कहा—मर्यादा ! भाग्य ने झुकने के लिए जिन्हें विवश कर दिया है उन लोगों के मनमें मर्यादा का ध्यान और भी अधिक रहता है। यह उनकी दयनीय दशा है।

खिंगल—वह श्रीमान् की रानी होने आ रही हैं।

शकराज—(हँस कर) अच्छा, तुम मध्यस्थ हो न ? तुम्हारी बात मानकर मैं उससे एकान्त में ही भेंट करूँगा। जाओ।

(खिंगल का प्रस्थान)

कोमा—महाराज ! मुझे क्या आज्ञा है ?

शकराज (चौंककर) अरे, तुम अभी यहीं खड़ी हो ? मैं तो जैसे भूल ही गया था। मेरा हृदय चंचल हो रहा है। मेरे समीप आओ कोमा।

कोमा—नई रानी के आगमन की प्रसन्नता से ?

शकराज—(सँभलकर) नई रानी का आना क्या तुम्हें अच्छा नहीं लगा कोमा ?

कोमा—(निर्विकार भाव से) संसार में बहुत सी बातें विना अच्छी हुए भी अच्छी लगती ही हैं, ओर बहुत सी अच्छी बातें बुरी मालूम पड़ती हैं।

शकराज—(झुँझला कर) तुम तो आचार्य मिहिरदेव की तरह दार्शनिकों की-सी बातें कर रही हो !

कोमा—वे मेरे पिता-तुल्य हैं, उन्हीं की शिक्षा में मैं पली हूँ। हाँ ठीक है, जो बातें राजा को अच्छी लगें वे ही मुझे भी रुचनी चाहिएँ।

शकराज—(अव्यवस्थित होकर) अच्छा, तुम इतनी अनुभूतिमयी हो, यह मैं आज जान सका।

कोमा—राजा, तुम्हारी स्नेह-सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर आलापों ने जिस दिन मन के नीरस और नीरव शून्य में संगीत की, वसन्त और मकरन्द की सृष्टि की थी, उसी दिन से मैं अनुभूतिमयी बन गई हूँ। क्या वह मेरा भ्रम था ? कह दो—कह दो कि वह तेरी भूल थी। (उत्तेजित कोमा सिर उठाकर राजा की आँखों से आँख मिलाती है।)

शकराज—(संकोच से) नहीं कोमा, वह भ्रम नहीं था। मैं सचमुच तुम्हें प्यार करता हूँ।

कोमा—(उसी तरह) तब भी यह बात ?

शकराज—(सशंक) कौन सी बात ?

कोमा--वही जो आज होने जा रही है ! मेरे राजा ! आज तुम एक स्त्री को अपने पति से विच्छिन्न कराकर अपने गर्व की तृप्ति के लिये कैसा अनर्थ कर रहे हो ?

शकराज--(हँसकर बात उड़ाते हुये) पागल कोमा ! वह मेरा राजनीति का प्रतिशोध है।

कोमा--(दृढ़ता से) किन्तु, राजनीति का प्रतिशोध, क्या एक नारी को कुचले बिना पूरा नहीं हो सकता ?

शकराज--जो विषय न समझ में आवे उस पर विवाद न करो ।

कोमा--(खिन्न होकर) मैं क्यों न करूँ ? (ठहर कर) किन्तु नहीं, मुझे विवाद करने का अधिकार नहीं। यह मैं समझ गई। (वह दुखी होकर जाना चाहती है कि दूसरी ओर से मिहिरदेव का प्रवेश)

शकराज (संभ्रम से खड़ा होकर) धर्मपूज्य ! मैं वन्दना करता हूँ ।

मिहिरदेव—कल्याण हो ! (कोमा के सिर पर हाथ रखकर) बेटी ! मैं तो तुझको ही देखने चला आया। तू उदास क्यों है ? (शकराज की ओर गूढ़ दृष्टि से देखने लगता है)

शकराज--आचार्य ! रामगुप्त का दर्प दलन करने के लिये मैं ने ध्रुवस्वामिनी को उपहार में भेजने की आज्ञा उसे दी थी। आज रामगुप्त की रानी मेरे दुर्ग में आई है। कोमा को इसमें आपत्ति है।

मिहिरदेव (गंभीरता से) ऐसे काम में तो आपत्ति होनी ही चाहिए राजा ! स्त्री का सम्मान नष्ट करके तुम जो भयानक अपराध करोगे, उसका फल क्या अच्छा होगा ? और भी, यह अपनी भावी पत्नी के प्रति तुम्हारा अत्याचार होगा।

शकराज (क्षोभ से) भावी पत्नी ?

मिहिरदेव—अरे क्या तुम इस क्षणिक सफलता से प्रमत्त हो जाओगे ? क्या तुमने अपने आचार्य की प्रतिपालिता कुमारी के साथ स्नेह का सम्बन्ध नहीं स्थापित किया है ? क्या इसमें भी संदेह है ? राजा ! स्त्रियों का स्नेह-विश्वास भंग कर देना कोमल तंतु को तोड़ने से भी सहज है; परन्तु सावधान होकर उसके परिणाम को भी सोच लो।

शकराज—मैं समझता हूँ कि आप मेरे राजनीतिक कामों में हस्तक्षेप न करें तो अच्छा हो।

मिहिरदेव—राजनीति ? राजनीति ही मनुष्यों के लिए सब कुछ नहीं है। राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो, जिसका विश्व-मानव के साथ व्यापक संबन्ध है। राजनीति की साधारण छलनाओं से सफलता प्राप्त करके क्षण भर के लिए तुम अपने को चतुर समझ लेने की भूल कर सकते हो; परन्तु इस भीषण संसार में एक प्रेम करने वाले हृदय को खो देना, सबसे बड़ी हानि है। शकराज ! दो प्यार करने वाले हृदयों के बीच में स्वर्गीय ज्योति का निवास है।

शकराज—बस, बहुत हो चुका ! आपके महत्त्व की भी एक

सीमा होगी। अब आप यहाँ से नहीं जाते हैं तो मैं ही चला जाता हूँ। (प्रस्थान)

मिहिर देव—चल कोमा। हम लोगों को लताओं, वृक्षों, और चट्टानों से छाया और सहानुभूति मिलेगी। इस दुर्ग से बाहर चल।

कोमा—(गद्‌गद कंठ से) पिताजी ! (खड़ी रह जाती है)

मिहिरदेव—बेटी ! हृदय को सँभाल। कष्ट सहन के लिये प्रस्तुत हो जा। प्रतारणा में बड़ा मोह होता है। उसे छोड़ने का मन नहीं करता। कोमा ! छल का बहिरंग सुन्दर होता है—विनीत और आकर्षक भी; पर दुखदायी और हृदय को बेधने के लिए। इस बन्धन को तोड़ डाल।

कोमा—(सकरुण) तोड़ डालूँ पिता जी ! मैंने जिसे अपने आँसुओं से सींचा, वही दुलारभरी बल्लरी, मेरे आँख बन्द कर के चलने में मेरे ही पैरों से उलझ गई है। दे दूँ एक झटका—उसकी हरी-हरी पत्तियाँ कुचल जायँ और वह छिन्न होकर धूल में लोटने लगे ? ना, ऐसी कठोर आज्ञा न दो।

मिहिर देव—(निश्वास लेकर आकाश को देखते हुए) यहाँ तेरी भलाई होती, तो मैं चलने के लिए न कहता। हम लोग अखरोट की छाया में बैठेंगे, झरनों के किनारे दाख के कुंजो में विश्राम करेंगे। जब नीले आकाश में मेघों के टुकड़े मानसरोवर जाने वाले हंसों का अभिनय करेंगे, तब तू अपनी तकली पर ऊन कातती हुई कहानी कहेगी और मैं सुनूँगा।

कोमा--तो चलूँ ? (एक बार चारों ओर देखकर) एक घड़ी के लिए मुझे........

मिहिरदेव--(ऊब कर आकाश की ओर देखता हुआ) तू नहीं मानती ? वह देख, नील-लोहित रंग का धूमकेतु अविचल भाव से इस दुर्ग की ओर कैसा भयानक संकेत कर रहा है !

कोमा--(उधर देखते हुए) तब भी एक क्षण मुझे......

मिहिरदेव--पागल लड़की ! अच्छा, मैं फिर आऊँगा। तू सोच ले, विचार कर ले। (जाता है)

कोमा--जाना ही होगा ? तब यह मन की उलझन क्यों ? अमंगल का अभिशाप, अपनी क्रूर हँसी से इस दुर्ग को कँपा देगा, और सुख के स्वप्न विलीन हो जायँगे। मेरे यहाँ रहने से उन्हें अपने भावों को छिपाने के लिये बनावटी व्यवहार करना होगा; पग पग पर अपमानित होकर मेरा हृदय उसे सह न सकेगा। तो चलूँ ? यही ठीक है। पिता जी ! ठहरिए, मैं आती हूँ।

शकराज--(प्रवेश करके) कोमा !

कोमा--जाती हूँ राजा !

शकराज--कहाँ ? आचार्य के पास ? मालूम होता है कि वे दुखी होकर चले गये हैं।

कोमा--धूमकेतु को दिखा कर उन्होंने मुझसे कहा है कि तुम्हारे दुर्ग में रहने से अमंगल होगा।

शकराज--(भयभीत होकर उसे देखता हुआ) ओह भयानी पूँछ वाला धूमकेतु ! आकाश का उच्छृङ्खल पर्यटक ! नक्षत्र

लोक का अभिशाप ! कोमा ! आचार्य को बुलाओ। वे जैसा आदेश देंगे वैसा ही मैं करूँगा ? इस अमंगल की शान्ति होनी चाहिए।

कोमा--वे बहुत चिढ़ गये हैं। अब उनको प्रसन्न करना सहज नही है। वे मुझे अपने साथ लिवा जाने को मेरी प्रतीक्षा करते होंगे।

शकराज—कोमा ! तुम कहाँ जाओगी ?

कोमा--पिता जी के साथ।

शकराज—और मेरा प्यार ! मेरा स्नेह सब भुला दोगी ? इस अमंगल की शान्ति करने के लिये आचार्य को न समझाओगी !

कोमा—(खिन्न होकर) प्रेम का नाम न लो। वह एक पीड़ा थी जो छूट गई। उसकी कसक भी धीरे-धीरे दूर हो जायगी। राजा, मैं तुम्हें प्यार नहीं करती। मैं तो दर्प से दीप्त तुम्हारी महत्वमयी पुरुषमूर्ति की पुजारिन थी, जिसमें पृथ्वी पर अपने पैरों से खड़े रहने की दृढ़ता थी। इस स्वार्थ-मलिन कलुष से भरी मूर्ति से मेरा परिचय नहीं। अपने तेज की अग्नि में जो सब कुछ भस्म कर सकती हो, उस दृढ़ता का, आकाश के नक्षत्र कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकते। तुम आशंका-मात्र से दुर्बल-कम्पित और भयभीत हो !

शकराज—(धूमकेतु को बार बार देखता हुआ) भयानक ! कोमा, मुझे बचाओ !

कोमा—जाती हूँ महाराज ! पिता जी मेरी प्रतीक्षा करते

होंगे। (जाती है। शकराज अपने सिंहासन पर हताश होकर बैठ जाता है।)

प्रहरी—(प्रवेश करके) महाराज ! ध्रुव स्वामिनी ने पूछा है कि एकान्त हो तो आऊँ।

शकराज—हाँ, कह दो कि यहाँ एकान्त है। और देखो यहाँ दूसरा कोई न आने पावे।

(प्रहरी जाता है। शकराज चंचल होकर टहलने लगता है। धूमकेतु की ओर दृष्टि जाती है तो भयभीत होकर बैठ जाता है)

शकराज—तो इसका कोई उपाय नहीं ? न जाने क्यों मेरा हृदय घबरा रहा है। कोमा को समझा-बुझाकर ले आना चाहिये। (सोचकर) किन्तु इधर ध्रुवस्वामिनी जो आ रही है ! तो भी देखूँ यदि कोमा प्रसन्न हो जाय······। (जाता है)

(स्त्री-वेश में चन्द्रगुप्त आगे पीछे ध्रुवस्वामिनी स्वर्णखचित उत्तरीय में सब अंग छिपाये हुए आती है। केवल खुले हुए मुह पर प्रसन्न चेष्टा दिखलाई देती है।)

चन्द्रगुप्त—तुम आज कितनी प्रसन्न हो।

ध्रुवस्वामिनी—और तुम क्या नहीं ?

चन्द्रगुप्त—मेरे जीवन-निशीथ का ध्रुव नक्षत्र इस घोर अन्धकार में अपनी स्थिर उज्ज्वलता से चमक रहा है। आज महोत्सव है न ?

ध्रुवस्वामिनी—लौट जाओ, इस तुच्छ नारी जीवन के लिये इतने महान् उत्सर्ग की आवश्यकता नहीं।

लोक का अभिशाप ! कोमा ! आचार्य को बुलाओ। वे जैसा आदेश देंगे वैसा ही मैं करूँगा ? इस अमंगल की शान्ति होनी चाहिए।

कोमा--वे बहुत चिढ़ गये हैं। अब उनको प्रसन्न करना सहज नही है। वे मुझे अपने साथ लिवा जाने को मेरी प्रतीक्षा करते होंगे।

शकराज—कोमा ! तुम कहाँ जाओगी ?

कोमा--पिता जी के साथ।

शकराज—और मेरा प्यार ! मेरा स्नेह सब भुला दोगी ? इस अमंगल की शान्ति करने के लिये आचार्य को न समझाओगी !

कोमा—(खिन्न होकर) प्रेम का नाम न लो। वह एक पीड़ा थी जो छूट गई। उसकी कसक भी धीर-धीरे दूर हो जायगी। राजा, मैं तुम्हें प्यार नहीं करती। मैं तो दर्प से दीप्त तुम्हारी महत्वमयी पुरुषमूर्ति की पुजारिन थी, जिसमें पृथ्वी पर अपने पैरों से खड़े रहने की दृढ़ता थी। इस स्वार्थ-मलिन कलुष से भरी मूर्ति से मेरा परिचय नहीं। अपने तेज की अग्नि में जो सब कुछ भस्म कर सकती हो, उस दृढ़ता का, आकाश के नक्षत्र कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकते। तुम आशंका-मात्र से दुर्बल-कम्पित और भयभीत हो !

शकराज—(धूमकेतु को बार बार देखता हुआ) भयानक ! कोमा, मुझे बचाओ !

कोमा—जाती हूँ महाराज ! पिता जी मेरी प्रतीक्षा करते

होंगे। (जाती है। शकराज अपने सिंहासन पर हताश होकर बैठ जाता है।)

प्रहरी—(प्रवेश करके) महाराज ! ध्रुव स्वामिनी ने पूछा है कि एकान्त हो तो आऊँ।

शकराज—हाँ, कह दो कि यहाँ एकान्त है। और देखो यहाँ दूसरा कोई न आने पावे।

(प्रहरी जाता है। शकराज चंचल होकर टहलने लगता है। धूमकेतु की ओर दृष्टि जाती है तो भयभीत होकर बैठ जाता है)

शकराज—तो इसका कोई उपाय नहीं ? न जाने क्यों मेरा हृदय घबरा रहा है। कोमा को समझा-बुझाकर ले आना चाहिये। (सोचकर) किन्तु इधर ध्रुवस्वामिनी जो आ रही है ! तो भी देखूँ यदि कोमा प्रसन्न हो जाय……। (जाता है)

(स्त्री-वेश में चन्द्रगुप्त आगे पीछे ध्रुवस्वामिनी स्वर्णखचित उत्तरीय में सब अंग छिपाये हुए आती है। केवल खुले हुए मुंह पर प्रसन्न चेष्टा दिखलाई देती है।)

चन्द्रगुप्त—तुम आज कितनी प्रसन्न हो।

ध्रुवस्वामिनी—और तुम क्या नहीं ?

चन्द्रगुप्त—मेरे जीवन-निशीथ का ध्रुव नक्षत्र इस घोर अन्धकार में अपनी स्थिर उज्ज्वलता से चमक रहा है। आज महोत्सव है न ?

ध्रुवस्वामिनी—लौट जाओ, इस तुच्छ नारी जीवन के लिये इतने महान् उत्सर्ग की आवश्यकता नहीं।

चन्द्रगुप्त—देवि ! यह तुम्हारा क्षणिक मोह है। मेरी परीक्षा न लो। मेरे शरीर ने चाहे जो रूप धारण किया हो; किन्तु हृदय निश्छल है !

ध्रुवस्वामिनी—अपनी कामना की वस्तु न पाकर यह आत्म-हत्या जैसा प्रसंग तो नहीं है ?

चन्द्रगुप्त—तीखे वचनों से मर्माहत करके भी आज कोई मुझे इस मृत्यु-पथ से विमुख नहीं कर सकता। मैं केवल अपना कर्तव्य करूँ इसीमें मुझे सुख है।

(ध्रुवस्वामिनी संकेत करती है। शकराज का प्रवेश। दोनों चुप हो जाते हैं। वह दोनों को चकित होकर देखता है।)

शकराज—मैं किसको रानी समझूँ ? रूप का ऐसा तीव्र आलोक! नहीं, मैंने कभी नहीं देखा था। इसमें कौन ध्रुव-स्वामिनी है ?

ध्रुवस्वामिनी—यह मैं आ गई हूँ।

चन्द्रगुप्त—(हँसकर) शकराज को तुम धोखा नहीं दे सकती हो। ध्रुवदेवी कौन है ? यह एक अन्धा भी बता सकता है।

ध्रुवस्वामिनी—(आश्चर्य से) चन्द्रे ! तुमको क्या हो गया है ? यहाँ आने पर तुम्हारी इच्छा रानी बनने की हो गई है ? या मुझे शकराज से बचा लेनेके लिए यह तुम्हारी स्वामिभक्ति है।

(शकराज चकित होकर दोनों की ओर देखता है)

चन्द्रगुप्त—कौन जाने तुम्हीं ऐसा कर रही हो ?

ध्रुवस्वामिनी—चन्द्रे ! तुम मुझे दोनों ओर से नष्ट न करो।

यहाँ से लौट जाने पर भी क्या मैं गुप्तकुल के अन्तःपुर में रहने पाऊँगी ?

चन्द्रगुप्त—चन्द्रे कहकर मुझको पुकारने से तुम्हारा क्या तात्पर्य है ? यह अच्छा झगड़ा तुमने फैलाया। इसीलिये मैंने एकान्त में मिलने की प्रार्थना की थी।

ध्रुवस्वामिनी—तो क्या मैं यहाँ भी छली जाऊँगी ?

शकराज—ठहरो, (दोनों को ध्यान से देखता हुआ) क्या चिन्ता यदि मैं दोनों को ही रानी समझ लूँ।

ध्रुवदेवी—ऐं........

चन्द्रगुप्त—हैं.........

शकराज—क्यों इसमें क्या बुरी बात है ?

चन्द्रगुप्त—जी नहीं, यह नहीं हो सकता। ध्रुवस्वामिनी कौन है पहले इसका निर्णय होना चाहिए।

ध्रुवस्वामिनी—(क्रोध से) चन्द्रे ! मेरे भाग्य के आकाश में, धूमकेतु सी अपनी गति बन्द करो।

शकराज—(धूमकेतु की ओर देखकर भयभीत-सा) ओह, भयानक ! (व्यग्रभाव से टहलने लगता है)

चन्द्रगुप्त—(शकराज की पीठ पर हाथ रखकर) सुनिए—

ध्रुवस्वामिनी—चन्द्रे !

कन्द्रगुप्त—इस धमकी से तो कोई लाभ नहीं।

ध्रुवस्वामिनी—तो फिर मेरा और तुम्हारा जीवन-मरण साथ ही होगा।

चन्द्रगुप्त—तो डरता कौन है ? (दोनों ही शीघ्र कटार निकाल लेते हैं ।)

शकराज—(घबरा कर) हैं, यह क्या ? तुम लोग यह क्या कर रही हो ? ठहरो । आचार्य ने ठीक कहा है—आज शुभ मुहूर्त नहीं । मैं कल विश्वासनीय व्यक्ति को बुला कर इसका निश्चय कर लूँगा । आज तुम लोग विश्राम करो ।

ध्रुवस्वामिनी—नहीं इसका निश्चय तो आज ही होना चाहिए।

शकराज—(बीच में खड़ा होकर) मैं कहता हूँ न ।

चन्द्रगुप्त—बाह रे कहने वाले !

(ध्रुवस्वामिनी मानो चन्द्रगुप्त के आक्रमण से भयभीत होकर पीछे हटती है और तूर्यनाद करती है । शकराज आश्चर्य से उसे सुनता हुआ सहसा घूमकर चन्द्रगुप्त का हाथ पकड़ लेता है । ध्रुवस्वामिनी झटके से चन्द्रगुप्त का उत्तरीय खींच लेती है और चन्द्रगुप्त हाथ छुड़ा कर शकराज को घेर लेता है ।)

शकराज—(चकित-सा) एँ, यह तुम कौन प्रवंचक !

चन्द्रगुप्त—मैं हूँ चन्द्रगुप्त, तुम्हारा काल ! मैं अकेला आया हूँ; तुम्हारी वीरता की परीक्षा लेने ! सावधान !

(शकराज भी कटार निकाल कर युद्ध के लिए अग्रसर होता है । युद्ध और शकराज की मृत्यु । बाहर दुर्ग में कोलाहल । 'ध्रुवस्वामिनी की जय' का हल्ला मचाते हुये रक्ताक्त कलेवर सामन्त कुमारों का प्रवेश । ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त को घेर कर समवेत स्वर से ध्रुवस्वामिनी की जय हो ।) पटाक्षेप

ध्रुवस्वामिनी

'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद का सफल नाटक है। नाटक का अर्थ है अभिनय और पाठ्य सामग्री का उचित योग। रंगमंच और रसानंद का मणिकांचन-संयोग। यद्यपि रंगमंच वाले प्रायः बड़े नाटककारों पर अविश्वास का प्रस्ताव पास करते रहते हैं तथापि नाटक का इतिहास कहता है कि बड़े और अमर कलाकार कभी लकीर के फकीर नहीं होते, वे रंगमंच से कामचलाऊ सुलह करके ऐसा नाट्य-साहित्य रचते हैं जिसके आध्यात्मिक रहस्य, मानवीय अनुभव और रूप-सौन्दर्य युग-युग और देश-देश में गूँजा करते हैं। भारत के रसवादियों ने भी यही माना है कि रस ही नाटक का प्राण है। बिना रस का अभिनय केवल मनोरंजन है। पश्चिमी आलोचक चेकव ने भी यही कहा है कि जिन कर्त्ताओं को हम अमर कहते हैं, जिनकी कला-कृतियाँ हमें मस्त कर देती हैं, उन सबमें एक सामान्य और बहुत बड़ा गुण मिलता है। वे किसी दूसरे लोक में पहुँच कर, आपको भी उसका अलौकिक अनुभव कराते

हैं। प्रसाद ऐसे ही पहुँचे हुए कर्ता हैं उस लोक में पहुँचना पहुँचाना तो उनका सदा का अभ्यास है। अपने सभी नाटकों में उन्होंने रस का ध्यान रखा है, रंग का नहीं। पर, 'राग रसोइयां पागरी बनत बनत बनि जाय।' कभी कभी ऐसे नाटक भी बन जाते हैं जिनमें रस ही नहीं अभिनय भी पूर्ण मात्रा में रहता है। ध्रुवस्वामिनी इस अद्भुत योग का सर्वोत्तम उदाहरण है।

अभिनय और अनुभूति के साथ ही नाट्य-साहित्य के तत्त्वों का भी विचार होता है। कथावस्तु, चरित्र, संवाद, भाषा, प्रयोजन आदि। ऐसा विचार करते समय यह ध्यान में रखना अच्छा होता है कि गद्य के दो बड़े रूप उपन्यास और नाटक एक से होते हैं। उनमें भेद केवल श्रव्य और दृश्य का होता है। जहाँ उपन्यास में पूरी कहानी श्रव्य होती है, नाटक में श्रव्य, दृश्य और सूच्य आदि का पंचमेल रहता है। जहाँ उपन्यास में वर्णन के लिए पूरी पूरी छूट रहती है, नाटक में मितव्यय की प्रशंसा होती है।

ध्रुवस्वामिनी में कोई प्रयोजन तो स्पष्ट नहीं है पर सच्ची ऐतिहासिक वस्तु में कवि ने ऐसी प्राणप्रतिष्ठा की है कि उसमें इस युग की समस्या और उसका उत्तर (हल) प्रतिविम्बित है।

सफल नाटक के अनेक अंक आत्मपर्यवसित होते हैं। ध्रुवस्वामिनी का दूसरा अङ्क ऐसा ही है। वही एक अङ्क एकाङ्की नाटक के समान पूर्ण हो गया है। बिना थोड़ा इतिहास जाने अथवा तीव्र कल्पना से काम लिए ऐसा कलापूर्ण एकाङ्की समझ में नहीं आता।

अभिनन्दनपत्र

श्रीमान् आचार्य बाबू श्यामसुन्दर दास जी
भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय ।

श्रीमन् ,

आज इस विश्वविद्यालय के छात्रगण तथा हिन्दी-विभाग के अध्यापक श्रद्धा और सत्कार, स्नेह और सौमनस्य, संभ्रम और सम्मान के दो चार कुसुम लेकर आपकी अर्चना करने के लिए आपके सम्मुख उपस्थित हैं। इस समय हमारे हृदय जिन भावों से आन्दोलित हो उठे हैं उन्हें व्यञ्जित करने में शब्द-शक्ति कुण्ठित सी दिखाई देती है। ऐसी अवस्था में आपके उन गुणों की चर्चा, जो समय समय पर हमें पुलकित और प्रमोदित, उद्यत

और उत्साहित करते रहे हैं, यदि हमसे पूर्ण रूप में न हो सके तो कोई आश्चर्य नहीं।

हिन्दी भाषा और साहित्य के वर्तमान विकास की इस परितोषक अवस्था के साथ आपकी तपस्या, आपकी साधना, आपकी विद्वत्ता, आपकी दक्षता और आपकी तत्परता का ऐसा अखण्ड सम्बन्ध स्थापित हो गया है कि इस युग की उत्कृष्ट साहित्य-रचना का इतिहास आपकी उद्यमशीलता का इतिहास है। आपने ग्रन्थों की ही नहीं ग्रन्थकारों की रचना की है। आपने धूल में लोटते और चक्की में पिसते यथार्थ रत्नों को राजमुकुट में स्थान दिलाया है। आपके उद्देश्य, आपकी योजना तथा आपके आदर्श सदा उत्कर्षोन्मुख ही होते हैं। हमसे चाहे आपका यथार्ह गुणानुवाद न बन पड़े, पर हमारे हृदय सर्वदा आपके प्रति कृतज्ञता के भाव से परिपूर्ण रहेंगे इसमें कोई सन्देह नहीं।

आप ऐसे पुरुषरत्न को इतने दिनों तक अपने बीच प्रधान आचार्य और कार्य-प्रवर्त्तक के रूप में देख देख हम अपना कितना गौरव समझते आ रहे थे, कितने गर्व का अनुभव करते आ रहे थे। अतः इस विशेष कार्यक्षेत्र से आपके अलग होने पर जो दुःख हमें हो रहा है वह एक दो दिन का नहीं, अपनी जो गौरव-हानि हम समझ रहे हैं वह कभी पूरी होने वाली नहीं! आप हमें छोड़कर जा रहे हैं पर जो उज्ज्वल स्मृति छोड़े जा रहे हैं वह निरन्तर हमारा पथ प्रदर्शन करती रहेगी हममें शक्ति और साहस का संचार करती रहेगी। इस विश्वविद्यालय के भीतर

तथा अन्यत्र भी हिन्दी के मान और प्रतिष्ठा के लिए आपने जो कुछ किया है वह चिरस्मरणीय रहेगा।

इस अवसर पर रह रहकर यह भी मन में उठता है कि आप हमसे अलग कहाँ हो रहे हैं। आपका हमारा सम्बन्ध इस विद्यालय तक ही परिमित नहीं है। वह कहीं अधिक विस्तृत और चिरस्थायी है।

अन्त में हम ईश्वर से यही प्रार्थना करते हैं कि आप शतायु होकर इसी प्रकार हिन्दी के अभ्युदय का प्रयत्न करते रहें और हम आपकी सौम्य मूर्ति को अपने मनोमन्दिर में सदा प्रेमासन पर प्रतिष्ठित रखें।

अभिनन्दन पत्र

पत्र, प्रशंसापत्र, अभिनंदनपत्र आदि की रचना सामयिक और काम चलाऊ मानी जाती है पर प्रस्तुत उदाहरण एक अपवाद है। भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से। हिन्दूविश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग की यह वस्तु अनेक विद्यार्थियों और साधकों को कर्मपथ प्रदर्शन करेगी। इतना ही नहीं, मार्मिक पाठकों को इन पंक्तियों में मर्म की बातें भी मिलेंगी। स्तुति, प्रशंसा, आशंसा अथवा अभिनंदन में यदि किसी विशिष्ट और अभ्यस्त साधक की वाणी रहती है तो उसके एक एक वाक्य और एक एक शब्द में विचार और भाव का समुद्र लहराता रहता है।

13.

सम्पादकीय 18

रामचरितमानस के सिद्धान्त, साधन और साध्य

रामचरितमानस के अनुसार सगुण राम और निर्गुण ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं। अवतीर्ण राम और परात्पर ब्रह्म राम दोनों एक हैं। इन दोनों की एकता केवल व्यावहारिक—काम चलाऊ नहीं, पारमार्थिक—सच्ची है। इनमें भेदबुद्धि रखने वाले या ऐसा कहने-सुनने वाले के सम्बन्ध में गोस्वामी जी के क्या उद्गार हैं देखिए—

कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाषंडी हरि पद विमुख जानहिं झूठ न साच॥

अग्य अकोबिद अंध अभागी। काई विषय मुकुर मन लागी॥
लंपट कपटी कुटिल विसेषी। सपनेहुँ संत सभा नहिं देखी॥
कहहिं ते बेद असंमत बानी। जिन्हके सूझ लाभु नहिं हानी॥
मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥

जिन्ह के अगुन न सगुन बिवेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका ॥
हरिमाया बस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं ॥
बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे ॥
जिन्ह कृत महामोह मद पाना। तिन्हकर कहा करिअ नहिं काना ॥

रघुकुलमणि श्रीराम सहजप्रकाश सच्चिदानन्द प्रसिद्ध पुरुष प्रकट परावरनाथ परेश पुराण व्यापक ब्रह्म हैं। जो सबका प्रकाशक अनादि मायाधीश है, उसमें और अवधपति राम में उसी प्रकार कोई भेद नहीं जिस प्रकार तरल जल और घनीभूत हिमोपल में कोई भेद नहीं।'

परमानन्द भगवान् श्रीराम के इस जीवलोक में अवतीर्ण होने का प्रयोजन सुररञ्जन, सज्जन-सुखदान तो है ही; प्रधान कारण उपासकों और भक्तों का वह अनन्य प्रेम और वह अनपायिनी भक्ति है जो भगवान् को साक्षात् लोचनगोचर होने के लिए विवश कर देती है।

यदि गोस्वामी जी की साधना, अनुभूति, प्रतिभा, कला और विश्वतोमुखी विद्वत्ता अवतीर्ण राम के रूप, गुण, शील, स्वभाव को इस प्रकार हमारी श्रद्धा, अनुराग, स्नेह, प्रेम, सौहार्द, आशंसा ममता, स्पृहा, रुचि, उत्कण्ठा का पूर्ण पात्र न बना सकती तो उनका यह—'सीयराममय सब जग जानी'—अद्वैतवाद अथवा उनकी यह प्रत्यभिज्ञा कभी हमारे गले के नीचे न उतरती। धन्य हैं तुलसीदास! जिन्होंने व्यक्ताव्यक्त की ऐसी अनूठी एकता का हमें अनुभवसाक्षिक ज्ञान कराया।

अवतीर्ण श्रीरामका परम्पराप्राप्त चरित भी सामान्य नहीं, गूढ़ है। पण्डित मुनि तो उससे विरति की शिक्षा लेते हैं; पर हरि-विमुख धर्मरतिशून्य विमूढ जन उसे देख सुन कर मोह में पड़ जाते हैं। इसी हेतु उसका यथावत् प्रतिबिम्ब पड़नेके लिए तुलसी ने पहले ही अपने मन के आइने को श्रीगुरुचरण–सरोज-रज से साफ कर लिया था।

श्रीराम की व्यापक परब्रह्मता के विचार से यह चरित गूढ़ होने पर भी परिच्छिन्न—नपा-तुला—है, किसी व्यक्ति-विशेष का-सा प्रतीत होता है। इसीलिए गोस्वामी जी तत्काल इसका समाधान करते हैं—

हरि अनंत हरि कथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहुबिधि सब संता॥
रामचंद्र के चरित सुहाए। कलप कोटि लगि जाहिं न गाए॥

रामचरित की इसी अनन्तता और अगेयता से हहरकर तुलसी ने उसके मानस=हृदय=सार=रहस्य को ही ग्रहण किया। मानस सरोवर का रूपक तो है ही, मानस का अर्थ रहस्य भी समझना चाहिए उमा ने हर्षित होकर शंकर से कहा था—

हरिचरित्रमानस तुम्ह गावा। सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा॥

यह रामचरित का मानस श्रवण, कीर्तन, मनन आदि का विषय है, अनुकरण का विषय नहीं। अतः रामचरितमानस भक्ति-प्रधान ग्रन्थ है, चरित-प्रधान नहीं। यह दूसरी बात है जो हम कवि के कृतित्व की सजीवता से पुलकित होकर चरित के अंश अंश को आँखों के सामने घटित होते देखते हैं। गोस्वामीजी ने

राम से अधिक जो राम-नाम की महिमा गाई है, वह भी इसकी भक्तिप्रधानता, मानस-विषयता का ही पोषक है।

यों तो गोस्वामीजी की समन्वय-बुद्धि सभी दार्शनिक सिद्धान्तों में अविरोध देखती, सभी को यथास्थान महत्त्व देती और सभी पक्षों का समर्थन करती है; पर उनके प्रस्थान के अनुरोध तथा ग्रन्थ के उपक्रम और उपसंहार के विचार से द्वैतसिद्धान्त और भक्तिपक्ष ही में उसका पर्यवसान प्रतीत होता है। यद्यपि द्वैत-वाद में माया का कोई स्थान नहीं है और गोस्वामीजी ने माया की चर्चा की है, अतः द्वैतवाद से स्पष्टतः इनकी विमति जान पड़ सकती है, तथापि थोड़ा विचार करने से इनकी स्वतन्त्र दार्शनि-कता का पता चल जाता है। ये 'सीयराम' और 'सब जग' में भेद डालकर उपासक को भ्रान्त करनेवाली अविद्या को माया समझते हैं; अद्वैतवादियों के समान जीव-ब्रह्म अथवा आत्माना-त्म की अभिमत एकता पर आवरण डालकर भेदबुद्धि उत्पन्न करने वाली अविद्या को नहीं। इनके मत में उपास्य और उपासक की पृथक् सत्ता तो रहेगी ही। देखिये, ये स्पष्टतः क्या कहते हैं—

मायासंभव भ्रम सब अब न व्यापिइहिं तोहिं।
जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहिं॥
सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥
सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

बारि मथे घृत होइ बरु सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥
निज सिद्धांत सुनावउँ तोही। सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही॥
श्रुति सिद्धांत इहइ उरगारी। राम भजिअ सब काज बिसारी॥

इतना ही नहीं, भेद का इन्होंने स्पष्ट उल्लेख भी किया है—

ताते उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ भेद भगति मन लायो॥
सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुं राम भगति निज देहीं॥
रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥
राकापति षोड़स उअहिं तारा गन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रवि राति न जाइ॥
ऐसेहिं बिनु हरि भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥
हरिसेवकहिं न व्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि बिद्या॥
तातें नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहगवर॥

इसके अतिरिक्त अद्वैतवादियों के परम अभिमत ज्ञानमार्गकी विशद विवेचना करते जब प्रसङ्गात् दोनों की तुलना की है तो भक्तिमार्ग को स्वतंत्र और ज्ञान-विज्ञान को भक्तिके अधीन माना है—

जातें बेगि द्रवउँ. मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो स्वतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥

इस भेद-भक्ति के साधनों का निर्देश भगवान् रामचन्द्र ने श्रीमुख से किया है—

भगति के साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल मन बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहिं कँह जानइ दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक शरीरा। गद गद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥

वचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

और भी मानस में प्रसङ्ग प्रसङ्ग पर भक्ति की महिमा, स्वरूप, साधना, तारतम्य आदि का विस्तृत वर्णन है।

ज्ञानदीपक और **भक्तिमणि** की तुलना भी स्पष्टतः भक्ति की अभिमत प्रधानता और उपादेयता की ओर संकेत करती है।

भक्ति और ज्ञान के साध्य फलों में ग्रन्थकारने भेद दिखलाया है। ज्ञानका फल मोक्ष कहा गया है—

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना। **ग्यान मोच्छप्रद** वेद बखाना॥

पर रामचरितमानस के कथन-श्रवण से उत्पन्न भक्ति का फल मन का विश्राम है। यथा—

रामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ **बिश्रामा**॥
(उपक्रम)

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
रामकृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह **बिश्राम**॥
(अभ्यास)

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदास हूँ ।
पायउ परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ ।।

(उपसंहार)

मन का विश्राम साधारण वस्तु नहीं, वहुत बड़ी बात है। विनयपत्रिका में बाबाजी बड़े मार्मिक ढंग से कहते हैं--

मन कबहूँ बिश्राम न मान्यो ।
निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो ।।
जदपि विषय सँग सह्यो दुसह दुख ब्रिषम जाल अरुजान्यो ।
तदपि न मूढ़ तजत ममता बस जानत हूँ नहिं जान्यो ।।
जन्म अनेक किए नानाविधि कर्म कीच चित सान्यो ।
होइ न ब्रिमल बिवेक नीर बिनु बेद पुरान बखान्यो ।।
निज हित नाथ पिता गुरु हरि सों हरषि हृदय नहिं आन्यो ।
तुलसीदास कब तृषा जाइ सर खनतहिं जनम सिरान्यो ।।

कदाचित् यह शंका किसी के मन में उठे कि भक्ति से तो मुक्ति मिलती नहीं, ज्ञान से मुक्ति मिलती है। अतः जन्म-मरण के दुःखो से दग्ध मुमुक्षु प्राणी के लिए सिवा ज्ञानमार्ग के और कहीं ठिकाना नहीं है, इसलिए गोस्वामीजी इसके लिए भी अव-काश नहीं छोड़ते। वे पहले ही कह चुके हैं कि सगुणोपासक मुक्ति की परवा नहीं करते, वे उसे चाहते नहीं। पर—

राम भगति सोइ मुकुति गोसाईं । अनइच्छित आवइ बरिआईं ।।

और--

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई । कोटि भाँति कोउ करै उपाई ।।
तथा मोच्छसुख सुनु खगराई । रहि न सकइ हरिभगति बिहाई ।।
अस बिचारि हरिभगत सयाने । मुक्ति निरादर भक्ति लुभाने ।।

17

हिन्दी की गद्यशैली

जानकार कहते हैं कि कविता का एक नाम है कहना। सचमुच कहना ही कविता है चाहे वह पद्य में हो, गद्य में हो अथवा मिली जुली गद्य-पद्य की चम्पू शैली में। इस कहने में सहभाव (शब्द और अर्थ का योग, नाम और रूप का साथ) रहता है, इससे इसे साहित्य कहते हैं और इसीसे निर्णयवादी आलोचकों ने कहा है कि साहित्य के सहभाव को परखने के लिये कहने का ढंग देखना चाहिये। कहने की रीति, कहने के गुण-दोष, कहने के लक्षण अलंकार आदि भाषा के ढंग की जाँचसे ही कही वात का रंग मालूम होता है। इस बात में सभी सयाने एक मत हैं। इससे साहित्यालोचन में शैली का बड़ा ऊँचा स्थान है और इसीसे शैली की व्याख्या भी बड़ी ऊँची होती है। शैली का छोटा सा सीधा अर्थ है भाषा की रीति-नीति। इस अर्थ में शैली साहित्य

का एक तत्व है; पर शैली का जब बड़ा अर्थ लिया जाता है तब शैली में कर्त्ता की आत्मा दिखाई पड़ती है और शैली के भीतर अनुभूति को छोड़कर सभी कुछ आ जाता है। इसी अर्थ में कुछ लोग शैली को काव्य की आत्मा और साहित्य का सहभाव तक मान लेते हैं। क्योंकि अनुभूति तो हृदय की बात होती है सामने आने वाली तो वही पदरचना है जिसे हम चाहे शैली कहें, भाषा कहें, रीति कहें, टेक्नीक कहें अथवा काव्यपुरुष का शरीर। व्यवहार में काम इसीसे चलता है, इसीको लेकर साधक और भावक मिलने की कोशिश करते हैं। दो हृदयों को मिलाने वाली कला भी यही है। इसी के अभ्यास से साधना करने वाले कवि और भावना करनेवाले आलोचक अपनी अपनी रचना करते हैं और इसी की जानकारी से पाठक रचना का सच्चा रस लेते हैं।

शैली की सत्ता और महत्ता सभी मानते हैं पर उसका संबंध स्थिर करने में कुछ विवाद हो जाता है। एक पक्ष कहता है कि साहित्य में अनुभूति प्रधान होती है अतः अनुभूति को परखना और उसके प्रभावों का वर्णन करना हमारा पहला काम है और शैली को देखना पीछे की बात है। दूसरा पक्ष कहता है, आत्मा तो भीतर छिपी रहती है, उसके देखने का ढोंग करके सामने की कला को क्यों ठुकराते हो। उस आत्मानुभूति का क्या ठिकाना, उसके तो उतने ही नाम-रूप हैं जितने अनुभव करने वाले। इससे सोच समझ कर बुद्धि से काम करो। साहित्य के शब्द

और अर्थ वाले शरीर की रचना और बनावट देखो, सौंदर्य आंको और मूल्य निर्धारण करो। इस प्रकार दो वाद खड़े हो जाते हैं—एक है रसवाद और दूसरा है रीतिवाद। नई भाषा में एक प्रभाववाद है और दूसरा निर्णयवाद। इन दोनों से भिन्न एक निष्पक्षवाद है जिसमें दोनों पक्ष एक हो जाते हैं। इसके अनुसार छोटे बड़े का भेद नहीं होता। भाव और भाषा, सत्य और शैली, अनुभूति और कला, हृदय और बुद्धि—दोनों में बराबरी का नाता रहता है। जिसमें दोनों का उचित योग रहता है वही साहित्य सच्चा और सफल होता है। जिस प्रकार मानव जीवन में आत्मा और शरीर का संपर्क रहता है, कोई छोटे बड़े का भाव नहीं, उसी प्रकार साहित्य रचना में रस और रीति का अभिन्न संबंध है, कोई चढ़ा ऊपरी का भाव नहीं।

शैली साहित्य का शरीर है। उसे समझने के लिये आत्मा को बिना भुलाये अंगी के सभी अंगों को देखना चाहिये। इस परिचय को और भी घनिष्ठ करने के लिये यह भी देखना चाहिये कि साहित्य का यह व्यक्ति किस 'जाति' का है और उस जाति का नाम-रूप के भेदानुसार साहित्य संसार में क्या स्थान है। साहित्य संसार बहुत बड़ा है। यों तो सभी लिखी पढ़ी वस्तु साहित्य में आ जाती है पर विचार के अनुसार साहित्य के तीन मुख्य भेद होते हैं। ज्ञान, शक्ति और प्रयोग ज्ञान का साहित्य उपयोगी होता है, गणित, विज्ञान, इतिहास

ादि इसीके भीतर आते हैं। शक्ति का साहित्य हृदय की शक्ति ढ़ाता है, इससे वह उपयोगी नहीं कहा जाता। आचार्य इसी 'शक्ति' को जीवन का सर्वस्व मानते हैं और शक्ति के साहित्य को सच्चा साहित्य। इससे साहित्य-मीमांसा में ज्ञान का साहित्य प्रवेश ही नहीं पाता, वहाँ केवल काव्य, नाटक आदि वे ही कृतियाँ आती हैं जिनमें ऐसी शक्ति हो कि वे अपने भाव और भाव अभिव्यक्त करने के ढंग के कारण सभी नरनारियों को रुच सकें और जिनका प्रधान लक्ष्य हो अपनी अभिव्यंजना-शैली के द्वारा सौंदर्य और आनन्द का अनुभव कराना। इस शुद्ध साहित्य के कुछ सगोतिया भी हैं जो साहित्य संसार में कार्य की दृष्टि से अच्छा स्थान पा जाते हैं। भेद करने के लिए हम उन्हें प्रयुक्त साहित्य का नाम दे देते हैं। रूप में तो कोई भेद होता नहीं। जि ा साहित्य का निर्माण किसी प्रयोजन से होता है, जिसमें ोई आध्यात्मिक अथवा नैतिक उपदेश रहता है, जिसमें लोकसंग्रह और लोक-मंगल का सिद्धान्त स्पष्ट रहता है, वह प्रयुक्त साहित्य कहलाता है, और जिसका निर्माण हृदय की अकारण ेरणा से होता है, किसी प्रयोजन विशेष से नहीं, जिसमें कोई स्पष्ट उपदेश, मत अथवा सिद्धान्त नहीं रहता, वह शुद्ध साहित्य कहलाता है। दोनों की रूपरचना एक सी होती है। दोनों को साहित्य की मीमांसा में स्थान मिलता है। दोनों से लोक-रुचि का रंजन होता है। दोनों में ही सद्भावना रहती है, ज्ञान का आलोक रहता है। दोनों में भेद है तो केवल एक-वह है सत्वोद्रेक, रस-प्रतीति

या आनन्दानुभूति का। शुद्ध साहित्य अपने आप में पूर्ण होता है-उसमें जो आनंद मिलता है वह प्रयुक्त साहित्य में कहाँ ? इसी से आनंदवादी, रसवादी, कलावादी, और सौंदर्यवादी साहित्यालोचक प्रयुक्त साहित्य को सच्चा और ऊँचा साहित्य नहीं मानते। पर व्यवहार में प्रयुक्त साहित्य का बोलबाला रहता है। आदर्शवादी, यथार्थवादी, जीवनवादी अथवा प्रगतिशील आदि की उपाधियाँ उसे समय समय पर उसकी सेवा के बदले में मिला करती हैं। उसकी कीर्ति भी समाज में रहती ही है, कभी कभी उसका आदर इतना अधिक बढ़ जाता है कि बड़े बड़े संत, महात्मा, कवि, कर्त्ता, आचार्य और आलोचक उसीको सर्वोत्तम साहित्य मानने लगते हैं, वे कहने लगते हैं कि जिस साहित्य में हमारा जीवन नहीं, समाज और देश की प्रगति नहीं, आदर्श और यथार्थ का उपदेश नहीं, वह साहित्य नहीं है। इस प्रकार वाद विवाद बहुत दिनों से चला आ रहा है और मेल करानेवालों का मत भी हमें मालूम है कि व्यवहार में सरस नीतिवादी साहित्य का लोहा मान लेना चाहिए और साहित्य के निराले लोक में कलावादी (अर्थात् शुद्ध) साहित्य का।

अर्थ की दृष्टि से इस प्रकार साहित्य की सामान्य सीमा मान लेने पर भाषारूप की दृष्टि से साहित्य के दो भेद किए जाते हैं १ पद्यसाहित्य और गद्यसाहित्य। जिस भाषा में गेयता है, तुकान्त अथवा अतुकान्त छन्दों की बाँध है, वह पद्य है और जो केवल पाठ्य है, गेय नहीं, वह गद्य है। कभी कभी साहित्य की रचना

द्य पद्य दोनों के मिश्ररूप में भी होती है तथापि उसे आधुनिक आलोचक गद्य की सीमा के भीतर ही एक विशेष स्थान दे देते हैं। इन दो भेदों के भीतर अनेक रूप और प्रकार होते हैं।

पद्यसाहित्य के भीतर पांच मुख्य रूप आते हैं—महाकाव्य, काव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, और मुक्तक इसी प्रकार गद्यसाहित्य के भीतर भी मुख्य रूप पांच ही होते हैं—कहानी, निबंध, गद्यकाव्य, उपन्यास और नाटक। कभी कभी चम्पू काव्य और आलोचना की भी गणना इन्हीं के साथ कर ली जाती। हिन्दी-साहित्य में इन सभी रूपों के उदाहरण मिलते हैं ...नी, प्रियप्रवास, पंचवटी, पल्लव, आंसू, आदि पद्य के और रूप, जोग की झांकी, साधना, ग़बन, ध्रुवस्वामिनी, यशोधरा और गोस्वामी तुलसीदास गद्य के ऐसे ही प्रसिद्ध उदाहरण हैं। इन्हें देख कर तो इन साहित्य रूपों के लक्षण गढ़े जा सकते हैं।

इस प्रकार साहित्य के मुख्य रूपों का परिचय हो जाने पर गद्यशैली का अध्ययन सहज हो जाता है।

यों तो शैली के साधारण अध्ययन में भाषा के समास और ...त, भाव की धारा और तरंग, कथन की संवाद-प्रचुरता और ...-प्रधानता, अभिव्यञ्जना-पद्धति की अंतर्मुखी और बहिर्मुखी प्रभाव की सौम्यता और उग्रता आदि सामान्य और गौण ...का विचार होता है। सामान्य पाठकों को इन्हीं का ज्ञान आ...यक होता है। इसी से आलोचना साहित्य में समास-शैली, ...्यासशैली, धारा-शैली, तरंग-शैली, वर्णनात्मक शैली, आत्मा-

भिव्यञ्जक शैली, विषयाभिव्यञ्जक शैली, प्रसन्न शैली उ
शैली आदि नाम प्रसिद्ध हो गए हैं। पर अध्ययन को विशेष
गंभीर और तात्त्विक बनाने के लिए प्रत्येक साहित्य रूप में भाषा
और व्यक्ति का तात्विक विचार करना पड़ता है। भाषा के तत्त्वों
का अध्ययन करने के लिए कोमला, परुषा आदि वृत्ति वैदर्भी,
पाञ्चाली आदि रीति, और अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि शक्तियों
का विचार करना पर्याप्त होता है। पर साहित्य के व्यक्ति का
तात्विक विचार करने के लिए प्रत्येक रचना के तत्त्वों की अलग
अलग आलोचना करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए कहानी का
तात्त्विक विचार करते समय कथावस्तु, चरित्रचित्रण, संवाद, ...
भाषा और शैली, तथा प्रयोजन—इन छः तत्त्वों की विवेचना
करनी चाहिए। इसी प्रकार नाटक, उपन्यास, निबंध आदि सभी
साहित्य रूपों के कुछ मुख्य तत्त्व होते हैं। उनका विचार करके
ही उस रचना के गुणदोषों का निर्णय किया जाता है। और शैली
की सच्ची परख तभी होती है जब हम किसी रूप के भीतरी तत्त्वों
से पूर्ण परिचय पा लेते हैं। इसी से शैली का सच्चा अध्ययन और
निर्णयवादी आलोचना एक ही कोटि की चीज़ मानी जाती हैं।
अतः हिन्दी गद्यशैली का अध्ययन करने के लिए हिन्दी के गद्य
साहित्य के सभी साहित्य रूपों से परिचय करना और उन
तत्त्वों की समीक्षा करना आवश्यक है। ऐसा अध्ययन करके
विद्यार्थी गद्यशैली का सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकता है और अभ्
से अच्छा गद्यलेखक बन सकता है।